आधुनिक
राजनीतिक
संविधान

आधुनिक राजनीतिक संविधान

[MODERN POLITICAL CONSTITUTIONS]

उनके इतिहास एवं वर्तमान रूप के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका

लेखक

सी० एफ० स्ट्रॉङ्ग, ओ० बी० ई०, एम० ए०, पी-एच० डी०

गया प्रसाद एण्ड सन्स

आगरा

प्रस्तावना

यह पुस्तक ऐतिहासिक अध्ययन की विशिष्ट शाखा के रूप में सांविधानिक राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ करने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता, अर्थात् एक उपयुक्त प्रारंभिक पाठ्य पुस्तक की आवश्यकता, की पूर्ति करने के निमित्त लिखी गयी थी। राज्य-विज्ञान के प्रारंभिक अध्ययन की कठिनाइयों का अनावश्यक घबराहट के बिना सामना करने में विद्यार्थियों की सहायता करना अनेक वर्षों से मेरा सुखद कार्य रहा है। उनके साथ मुझे जो अनुभव हुआ है उसका आंशिक परिणाम इस पुस्तक के रूप में प्रगट हुआ है और यदि मै इस पुस्तक को किसी को समर्पित करूंगा तो वे मेरे विद्यार्थी ही होंगे जिन्होंने कक्षाओं में मेरे भाषणों के प्रति अपनी अनवरत साधना से इस कठिन किन्तु आकर्षक विषय को तैयार और प्रस्तुत करने के भारी परिश्रम को हलका कर दिया।

राज्य-विज्ञान के पूर्वकालीन महान् दिग्गजों—सर्वश्री डायसी, मेटलैण्ड, सिजविक, लावेल, ब्राइस आदि—के प्रति तो मै आभारी हूं ही और जो महानुभाव उनकी श्रेष्ठ कृतियों से परिचित है वे इस बात को भली भांति समझ सकते है। किन्तु मेरी यह पुस्तक उपर्युक्त ग्रंथकारों की कृतियों का कोई संक्षिप्त संस्करण नहीं, बल्कि एक मौलिक, पठनीय तथा बोधगम्य रूप में विषय को प्रस्तुत करने का प्रयत्न है, जैसा कि प्रत्येक ग्रंथकार कर सकता है। इस पुस्तक की रचना केवल इसी दृष्टि से नहीं की गई है कि यह शिक्षकों से पढ़ने वाले छात्रों को ही लाभ पहुंचा सके, बल्कि इस दृष्टि से भी कि यह अन्य विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिए भी लाभकारी हो सके। मुझे आशा है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गयी विशिष्ट एवं अधिक अध्ययन के लिए पुस्तकों की सूचियां और निबन्धों के विषय और भी अधिक अनुसंधान एवं चिन्तन को प्रोत्साहित करेंगे।

इस पुस्तक के प्रथम बार लिखे जाने के पश्चात्, विनाश की जिन दो दशाब्दियों को हम पार कर चुके हैं, उनमें सांविधानिक राज्यों की आंतरिक संरचना और दूसरे राज्यों के साथ उनके संबंधों को नियंत्रित करने वाले उपकरणों में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। इन परिवर्तनों के कारण विषय-वस्तु के पुनरीक्षण का तथा उसे अद्यतन बनाने का काम अत्यन्त कठिन हो गया है और यह भी आवश्यक हो गया है कि अनेक परिच्छेदों को पूर्णतया पुनः लिखा जाय और बहुत सी नई बातें जोड़ी जाएं। इस कठिन कार्य को पूरा करने की बात तो दूर, मै उसकी कल्पना भी शायद ही करता यदि मुझे यह ज्ञान न हुआ होता कि विगत काल में यह पुस्तक अपने मूल रूप में अनेक व्यक्तियों को उपयोगी सिद्ध हुई है और भविष्य में भी यह अपने नये रूप में अन्य व्यक्तियों के लिए उसी प्रकार लाभप्रद होगी।

इस पुस्तक की कमजोरियों और कमियों की जिम्मेदारी तो मुझ पर है; किन्तु मैं अपने उन मित्रों और सहयोगियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने कि इसके विभिन्न संस्करणों की तैयारी में मुझे सहायता दी। स्वर्गीय प्रोफेसर एफ० सी० जे० हर्नशा, स्वर्गीय श्री फिलिप गदाला, और स्वर्गीय प्रोफेसर एच० जे० लास्की का, जिन्होंने इस पुस्तक की रचना के प्रारम्भ में अपने अनुपम ज्ञान और अनुभव से स्वेच्छापूर्वक मेरी सहायता की; प्रोफेसर हरमेन फाइनर का, जिन्होंने द्वितीय संस्करण की भूमिका को पढ़ा और उसकी आलोचना की; पश्चिमी आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय के विधि-विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ० आर० बीसले का, जिन्होंने आस्ट्रेलिया के संविधान के प्रवर्त्तन पर मेरा पथ-प्रदर्शन किया; श्री जे० हेम्पडन जेक्सन का, जिन्होंने फिनलैंड से संबंधित कई बातों पर मुझे विशिष्ट जानकारी दी; लंदन-स्थित विभिन्न दूतावासों और दूतालयों का, विशेष कर के संयुक्त-राज्य अमरीका, फ्रांस, बेल्जियम, स्विट्ज़रलैंड, इटली, फिनलैंड, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया के दूतावासों का, टॉटनहेम के सार्वजनिक पुस्तकालयों के भूतपूर्व डाइरेक्टर श्री डब्ल्यू० जे० बेनेट, और उनके उत्तराधिकारी श्री ए० डब्ल्यू० मेकलन का, जिन्होंने पुस्तकें देकर उदारतापूर्वक मेरी सहायता की; अपने प्रकाशकों का, जिन्होंने सदैव सौजन्यता प्रगट की और मुझे प्रोत्साहन दिया, और अंत में अपनी धर्मपत्नी का, जो कि मेरी तीव्रतम और अत्यन्त उपयोगी आलोचिका रही हैं, मैं विशेष रूप से आभारी हूं।

लन्दन, सितम्बर, १९५१ **—सी० एफ० स्ट्रॉङ्ग**

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन

अध्याय १

अध्याय २

द्वितीय खण्ड

तुलनात्मक सांविधानिक राजनीति

अध्याय ३

अध्याय १२

तृतीय खण्ड

कुछ अन्य विषय

अध्याय १३

अध्याय १४

अध्याय १५

अध्याय १६

अध्याय १७

प्रथम खण्ड

वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन

अध्याय १

राजनीतिक संविधानवाद का अर्थ

१. विषय-प्रवेश

राजनीतिक संविधानों का अध्ययन राज्य-विज्ञान अथवा राज्य के विज्ञान का एक अंग है। राजनीतिक समुदायों के गठन और शासन का विज्ञान होने के नाते राज्य-विज्ञान एक विशेष दृष्टिकोण से समाज का अध्ययन है और इसी कारण अन्य सामाजिक विज्ञानों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक विज्ञानों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) समाजशास्त्र, जो मानव-संवास के सभ्य और असभ्य सभी स्वरूपों का अध्ययन है।

(२) अर्थशास्त्र, जो मनुष्य के भौतिक कल्याण का विज्ञान है।

(३) नीतिशास्त्र, जिसमें यह विवेचना की जाती है कि मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए और वैसा क्यों होना चाहिए।

(४) सामाजिक मनोविज्ञान, जो सामाजिक सम्बन्धों में मानव-प्राणी के व्यवहार का विज्ञान है।

राज्य-विज्ञान इन सभी से कुछ-न-कुछ ग्रहण करता है। उसका सम्बन्ध एक विशिष्ट प्रकार के मानव-संवास से है, इसलिए आंशिक रूप में समाजशास्त्र का उसमें समावेश है; राज्य के सदस्यों के भौतिक हितों से सम्बन्ध रखने के कारण आंशिक रूप में अर्थशास्त्र उसके अंतर्गत है; चूंकि राज्य के कार्य का नैतिक आधार और प्रभाव उसके कार्यक्षेत्र के अधीन है; अतः, आंशिक रूप में नीतिशास्त्र का भी उससे सम्बन्ध है; व्यक्तियों के, चाहे वे शासक हों या शासित, मस्तिष्कों की क्रियाओं से सम्बन्ध रखने के नाते वह आंशिक रूप में मनोविज्ञान से भी संबद्ध है।

किन्तु यह सब होते हुए भी राज्य-विज्ञान स्पष्टतः एक पृथक् विज्ञान है जिसकी अपनी सामग्री और अपने तथ्य हैं। ये राज्यों के इतिहास और उनके वर्त्तमान रूपों में मिलते हैं। राज्य-वैज्ञानिक का सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति और विकास, उसके स्वरूप और संगठन, उसके प्रयोजन और कृत्यों से तथा राज्य के सिद्धांत और उसके सम्भाव्य रूपों से है। राजनीतिक संविधानों के विद्यार्थी का इस विषय के इन सभी पहलुओं से कुछ सीमा तक सम्बन्ध रहता है। उसकी अभिरुचि मुख्य रूप से उन संस्थाओं में है जिनका राज्य अपनी शांति और प्रगति के लिए निर्माण करता है और जिनके बिना राज्य अपना अस्तित्व उसी

प्रकार कायम नहीं रख सकता जिस प्रकार राज्य के बिना समाज अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। अतएव, यहां हम अपने विषय को उन चार भागों में विभाजित कर सकते हैं जिनको हमने अभी समष्टि रूप में राज्य-विज्ञान का अंग बताया है। उन्हें हम संक्षेप में ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, प्रयोगात्मक, और सैद्धांतिक कह सकते हैं।

हम कुछ उच्च कोटि के विकसित आधुनिक राज्यों को लेंगे और उनकी संस्थाओं का अध्ययन करेंगे, जो समष्टि रूप में संविधान कहलाती हैं। अध्ययन की जिस पद्धति का हम अनुकरण करेंगे वह प्रायः तुलनात्मक पद्धति कही जाती है; अर्थात् जिन संविधानों का अध्ययन करना है उनके इतिहास और वर्त्तमान रूप से उत्पन्न होनेवाली कुछ समानताओं और विभिन्नताओं के आधार पर हम उनके वर्गीकरण का प्रयास करेंगे। किंतु ऐसा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि जिन मुख्य शब्दों का हमको प्रयोग करना होगा उनकी परिभाषा और राजनीतिक संविधानवाद के सामान्य इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी जाए।

२. समाज

राज्य के किसी भी पहलू का अध्ययन समाज की परिभाषा से प्रारम्भ होना चाहिए, क्योंकि राजनीतिक रूप से संगठित समाज ही राज्य है। समाज को मानव-प्राणियों की कोई संस्था कहकर परिभाषित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में यदि अंगरेजों या फ्रांसीसियों जैसे लोगों में देखा जाए तो पता चलेगा कि स्त्री-पुरुषों में सम्बन्धों की एक व्यापक व्यवस्था है, जिसके कारण वे सामाजिक दृष्टि से ऐसे समूहों में विभक्त हैं जो उनके राजनीतिक समूहों से किसी भी तरह मेल नहीं खाते। बहुधा, समूह राज्य से बहुत छोटा होता है। किंतु अक्सर वह राजनीतिक सीमा को सीधे पार कर जाता है; वाणिज्यिक सम्बन्धों में यह स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है।

यह कहा जा सकता है कि सामाजिक, न कि राजनीतिक, दृष्टि से किसी भी समाज के सदस्यों के संवास की मूल इकाइयां तीन होती हैं। इनमें से सर्वप्रथम 'परिवार' नामक वह संस्था है जिसमें मनुष्य पैदा होते हैं। दूसरी इकाई संवास का वह रूप है जिसमें सम्मिलित होने के लिए लोग आर्थिक हित अथवा सामाजिक उपयोगिता जैसे किसी प्रबल प्रलोभन से बाध्य होते हैं; उदाहरणार्थ, श्रमिक संघ या व्यावसायिक संस्था। तीसरी इकाई को ऐच्छिक इकाई कहा जा सकता है, जैसे कोई क्लब अथवा (कम-से-कम आधुनिक परिस्थितियों में) धार्मिक समुदाय। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार की संस्थाओं में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के लिए राज्य सामान्यतया अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता, फिर भी वास्तविकता यह है कि सामाजिक स्वास्थ्य अथवा राजनीतिक औचित्य की दृष्टि से वह वैसा कर सकता है और कभी-कभी वैसा करने के लिए मजबूर भी हो जाता है। जहां एक ओर उपर्युक्त प्रकार के समुदाय राज्य के कामों

को प्रभावित और निरूपित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, वहां दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उनमें से बहुत से उन बातों के बिना जीवित नहीं रह सकते जिनका प्रवर्त्तन राज्य-रूपी साधन पर ही निर्भर है, जैसे विवाहसम्बन्धी विधियाँ, सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार, संविदासम्बन्धी विधियाँ, आदि।

३. राज्य

किन्तु यह सब होते हुए भी राज्य को परिवारों का समूह अथवा व्यावसायिक संगठनों का समुच्चय अथवा जिन ऐच्छिक समुदायों को वह विद्यमान रहने देता है उनके विरोधी हितों को संतुलित रखनेवाला मध्यस्थ मात्र ही नहीं कहा जा सकता। समुचित रूप से संगठित राजनीतिक समुदाय में राज्य समाज के लिए होता है न कि समाज राज्य के लिए, किन्तु सामाजिक दृष्टि से लोग कितने ही उन्नत क्यों न हों, फिर भी परिवारों, क्लबों, धार्मिक समुदायों, श्रमिक संघों आदि से निर्मित जिस समाज का वे निर्माण करते हैं उस पर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह शक्ति के बिना, जो कि अंतिम निर्णायक होती है, अपने को कायम रख सकेगा।

सभी समुदाय अपने संचालन के लिए नियम बनाते हैं। जब समुदाय का रूप राजनीतिक होता है तब ये नियम विधि (कानून) कहलाते हैं, जिनका निर्माण कर सकना राज्य का विशेषाधिकार होता है; किसी अन्य समुदाय का नहीं। प्रोफेसर मेकाइवर के शब्दों में "राज्य सामाजिक व्यवस्था के पोषण एवं विकास की आधारभूत संस्था है और इस प्रयोजन के निमित्त उसकी केंद्रीय संस्था को समाज की संयुक्त शक्ति प्राप्त रहती है।"

कितु इस परिभाषा के अन्तर्गत भ्रमणशील या चरवाही समाज भी आ सकता है जिसमें कुलप्रमख अथवा परिवार का मुखिया एकता का सूत्र होता है और वह एक तरह से शासन की शक्तियों का प्रयोग भी करता है। लेकिन ऐसे समाज में प्रदेश का अभाव होता है। वास्तविक राजनीतिक संगठन के लिए प्रदेश का होना अनिवार्य है। इस पर प्रोफेसर हैर्दीगटन ने भी आग्रह किया है। उनके अनुसार "राज्य वह संस्था अथवा संस्थाओं का पुंज है जो जीवन के कतिपय प्रारम्भिक समान प्रयोजनों एवं परिस्थितियों को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से किसी स्पष्टरूपेण निरूपित प्रादेशिक क्षेत्र के निवासियों को एक सत्ता के अधीन संगठित करता है।" किन्तु उपर्युक्त प्रथम परिभाषा में वर्णित 'समाज की संयुक्त शक्ति' और द्वितीय परिभाषा में उल्लिखित 'एक सत्ता' का क्या अर्थ है? यह विधि (कानून) के निर्माण की शक्ति या सत्ता है। अब हम वुड्रो विल्सन द्वारा की गई परिभाषा पर पहुंच गए हैं, जो इस प्रकार है: "एक निश्चित प्रदेश के भीतर विधि के निमित्त संगठित जन ही राज्य है।"

४. विधि और रूढ़ि

अतः, अन्य प्रकार के समुदायों से भिन्न राज्य का मूल तत्त्व उसके सदस्यों द्वारा विधि का पालन है। चूंकि, राज्य, शासक और शासितों में विभक्त, एक प्रादेशिक समाज है; अतः, हम विधि की यह परिभाषा उद्धृत कर सकते हैं कि विधि "उन नियमों का सामान्य निकाय है, जो किसी राजनीतिक समाज के शासकों द्वारा उस समाज के सदस्यों को सम्बोधित किए जाते हैं और जिनका साधारणतया पालन किया जाता है;" अथवा विधि "कुछ निश्चित प्रकार के कार्यो को करने का या करने से विरत रहने का आदेश है, जो किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय द्वारा, निकाय के रूप में कार्य करते हुए, दिया जाता है और जिसमें स्पष्ट या लक्षित रूप से यह घोषणा होती है कि आदेश का उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों को दंडित किया जाएगा। यह पहले से ही मान लिया जाता है कि दंड की घोषणा करनेवाले व्यक्ति या निकाय में दंडित करने की शक्ति है और उसका अभिप्राय भी ऐसा ही है।"

विधि के पीछे बल सदा से ही सामाजिक बल रहा है। सामाजिक बल अपने-आप में केवल रूढ़ि है। जहां कहीं भी कोई समाज विद्यमान है, भले ही वह प्राथमिक अवस्था में हो, वहां सामाजिक कामों के लिए रूढ़ियों का अवश्य विकास होगा। अनेकानेक रूढ़ियां बन जाती हैं और वे एक प्रकार की अलिखित संहिता का रूप धारण कर लेती हैं, जिनके अनुकूल आचरण पैतृक या धार्मिक सत्ता अथवा सम्बद्ध समुदाय के लोकमत जैसे किसी दबाव के कारण होता है। इनमें से कुछ रूढ़ियों की सार्वजनिक कल्याण के लिए इतनी व्यापक उपयोगिता होती है कि उनका सार्वजनिक पालन कराने के लिए केवल सामाजिक सत्ता या लोकमत जैसे दबाव से कहीं अधिक शक्तिशाली दबाव की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में ये रूढ़ियां सामाजिक न रहकर राजनीतिक—अर्थात् विधियां—बन जाती हैं, जिनका पालन संगठित शासन द्वारा कराया जाता है।

यह हुई विधि जो, चाहे वह किसी भी तरीके से स्थापित हो, राज्य द्वारा समुचित-रूपेण गठित न्यायालयों में प्रवर्त्तित की जाती है। इसके निम्नलिखित स्रोत हो सकते हैं:—

(१) रूढ़ि—अर्थात् अलिखित विधि जो निरंतर प्रयोग से प्रवर्त्तनीय हो जाती है; (२) पहले के न्यायाधीशों के लिखित निर्णय—अर्थात् वह जिसे कभी-कभी वादजन्यविधि (Case-law), न्यायाधीश-निर्मित विधि अथवा सामान्य विधि (Common Law) कहा जाता है; (३) संविधि—अर्थात् राज्य के विधानमंडल या संसद् के अधिनियम।

५. प्रभुत्व

हमने ऊपर कहा है कि अन्य समुदायों की तुलना में राज्य का विशेष गुण विधियां बनाने और उनको दमन के ऐसे सब साधनों द्वारा, जिन्हें वह प्रयुक्त करना चाहे, प्रवर्त्तित

करने की शक्ति है। यह शक्ति 'प्रभुत्व' कहलाती है। यह एक बहुत ही विवादास्पद शब्द है और इसके विषय में हमें आगे बहुत-कुछ कहना है। यहां पर इसे इसके दुहरे—आंतरिक और बाह्य—पहलू में परिभाषित कर देना पर्याप्त होगा। आन्तरिक दृष्टि से प्रभुत्व का तात्पर्य राज्य में एक व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय की, उसके क्षेत्राधिकार के अन्दर व्यक्तियों या व्यक्तियों के समुदायों पर सर्वोच्चता है। बाह्य रूप से प्रभुत्व का अर्थ है अन्य सब राज्यों के सम्बन्ध में एक राज्य की पूर्ण स्वतंत्रता। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'प्रभुत्व' शब्द का अर्थ केवल प्रधानता है। किन्तु राज्य के सम्बन्ध में प्रयुक्त करने पर इसका अर्थ एक विशिष्ट प्रकार की प्रधानता होता है अर्थात् ऐसी प्रधानता जिसमें विधि-प्रचालन अर्थात् विधि-निर्माण की शक्ति उपलक्षित है। किसी भी राज्य में प्रभुत्व-शक्ति कहां है, इस बात का पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि जिन तीन रूपों में इस शब्द का प्रयोग होता है उनमें विभेद कर लिया जाए। इसका तात्पर्य हो सकता है—(१) राज्य का नामधारी प्रमुख; जैसे ब्रिटेन में राजा या फ्रांस में गणतंत्र का राष्ट्रपति; (२) वैध प्रभु—अर्थात् वह व्यक्ति या वे व्यक्ति जो देश की विधि के अनुसार विधायन (Lagislation) कार्य करते हैं और शासन का संचालन करते है; जैसे ब्रिटेन में संसद् सहित राजा; (३) राजनीतिक या सांविधानिक प्रभु—अर्थात् व्यक्तियों का वह निकाय जिसमें शक्ति अन्ततः निवास करती है; इसे कभी-कभी 'सामूहिक प्रभु' कहा जाता है और इसका निवास आधुनिक सांविधानिक राज्य में निर्वाचक-मंडल अथवा मतदात्री जनता में होता है। अभी हमारा सम्बन्ध प्रभुत्व के इन पहलुओं में से केवल दूसरे पहलू से है; यद्यपि तीसरे पहलू का कार्य, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, आधुनिक राज्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

लॉर्ड ब्राइस ने एक अंगरेज के विषय में लिखते हुए किसी भी राज्य में प्रभु का पता लगाने की प्रक्रिया का एक उत्तम उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है: "एक नगरपालिका में किसी गृहस्वामी से सड़क-कर की मांग की जाती है। वह उसका कारण पूछता है। उसका ध्यान कर आरोपित करनेवाली नगर-परिषद् के प्रस्ताव की ओर आकर्षित किया जाता है। इसके पश्चात् वह पूछता है कि परिषद् को कर लगाने का क्या अधिकार है? उत्तर में संसद् के उस अधिनियम का उल्लेख किया जाता है जिससे परिषद् को शक्ति प्राप्त होती है। यदि वह गृहस्वामी अपनी जिज्ञासा को और आगे बढ़ाना चाहता है और पूछता है कि इन शक्तियों को प्रदान करने का संसद् को क्या अधिकार है, तो कर-संग्राहक यही उत्तर दे सकता है कि यह बात सर्वविदित है कि ब्रिटेन में संसद् विधि बनाती है और विधि के अनुसार कोई भी अन्य सत्ता संसद् की इच्छा की अभिव्यक्ति का अतिक्रमण या उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सभी अन्य सत्ताओं से संसद् सर्वोच्च है, अथवा, दूसरे शब्दों में, संसद् ही प्रभु है।"

बाद में हम देखेंगे कि प्रभुत्व का पता लगाना इतना आसान नहीं है जितना कि उपर्युक्त उदाहरण में दिखाई देता है। किन्तु यदि हम यह याद रखें कि राज्य में जिसके

आदेशों का अभ्यस्त रूप से पालन किया जाता है—और जिसमें राज्य के सशस्त्र बलों का नियंत्रण भी सम्मिलित है—वह व्यक्ति या व्यक्तियों का निकाय ही प्रभु है, तो हमें अगली परिभाषा की ओर अग्रसर होने में किसी कमी का अनुभव नहीं होगा ।

६. शासन

विधियों का निर्माण करने और उन्हें प्रवर्त्तित करने के लिए राज्य के पास एक सर्वोच्च सत्ता होनी चाहिए । यह सत्ता '**शासन**' कहलाती है । शासन राज्य का यंत्र है; उसके बिना राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि "शासन अन्ततः संगठित बल है ।" अतएव, शासन "वह संगठन है जिसमें······प्रभुसत्ता के प्रयोग का अधिकार निहित है ।" जब हम अपने देश के मंत्रिमंडल को शासन कहते हैं तो हम साधारण बोलचाल की भाषा में शासन का जो अर्थ ग्रहण करते हैं, व्यापक दृष्टि से शासन का अर्थ उससे बहुत बड़ा है । व्यापक अर्थ में शासन पर राज्य की भीतरी और बाहरी शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने का भार रहता है । इसलिए, उसके पास सबसे पहले सैनिक शक्ति अर्थात् सशस्त्र बलों का नियंत्रण, दूसरे, विधायिनी व्यवस्थापिका शक्ति, अर्थात् विधि-निर्माण के साधन, तीसरे, वित्तीय शक्ति अर्थात् राज्य की रक्षा करने के और उस विधि को, जिसका वह राज्य की ओर से निर्माण करता है, प्रवर्त्तित करने के व्यय को पूरा करने के हेतु जनता से पर्याप्त धन वसूल करने की न्यायिक शक्ति सामर्थ्य होनी चाहिए । संक्षेप में; उसके पास विधायिनी शक्ति, कार्यपालिका शक्ति, तथा न्यायपालिका शक्ति होनी चाहिए । इन्हें हम शासन के तीन विभाग कह सकते हैं ।

७. विधानमंडल

शासन के जिन तीन विभागों का अभी हमने वर्णन किया है वे सब आधुनिक राज्य में प्रभुत्व-शक्ति के प्रयोग में भाग लेते हैं । उनका एक-दूसरे से सदा ही घनिष्ठ संबंध रहता है, किन्हीं राज्यों में अधिक और किन्हीं में कम; किन्तु फिर भी वे सभी राज्यों में पृथक् होते हैं । विधानमंडल शासन का वह विभाग है, जिसका संबंध विधि के निर्माण से है जहां तक कि विधि के लिए वैधिक बल आवश्यक है । तर्क की दृष्टि से, विधि को क्रियान्वित करने से पहले उसका निर्माण होता है । अतः, प्रथम दृष्टि में विधानमंडल, कार्यपालिका से, जो विधि को कार्यान्वित करती है अथवा न्यायपालिका से जो उसका उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देती है, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । किन्तु सदा ही ऐसा नहीं होता, क्योंकि, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, विधानमंडल की अन्य विभागों पर नियंत्रण रखने की शक्तियां विभिन्न प्रकार की होती हैं । फिर भी हम उस अमरीकन अधिकारी से सहमत ही सकते हैं जिसने विधायन-कार्य को 'प्रत्येक स्वतंत्र शासन में एक महान् और सर्वोपरि शक्ति' कहा है ।

आधुनिक सांविधानिक राज्यों में विधायिनी शक्ति संसद् के हाथों में होती है। इसके साधारणतया दो सदन होते हैं जिनमें से एक या दोनों ही जनता द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। इसलिए, आधुनिक राज्य में विधानमंडल की रचना से निर्वाचक-समूह के स्वरूप का, जिसे हम राजनीतिक प्रभु कह चुके हैं, घनिष्ठ संबंध होता है। आधुनिक समाज दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है और उसके फलस्वरूप विधि-निर्मात्री सत्ता से वह सामाजिक कल्याण के हेतु अधिकाधिक मांग करता है। ज्यों-ज्यों यह जटिलता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसी अनुपात में विधानमंडल के कृत्यों में भी वृद्धि होती जाती है। सभी राज्यों में विधानमंडल के कार्य पर समाज का स्वरूप ही अप्रत्यक्ष रूप से यह दबाव डालता है; कुछ राज्यों में एक सजीव निर्वाचन-प्रणाली के द्वारा अधिक प्रत्यक्ष रूप में ऐसा होता है तथा कुछ राज्यों में विधायन का सूत्रपात करने की अथवा संसद् द्वारा विधि पारित किए जाने के पश्चात् उसे अनुमोदित या अननुमोदित करने की जनता की सांविधानिक शक्तियों द्वारा और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से दबाव पड़ता है। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, आधुनिक विधानमंडलों की ये विभिन्नताएं वर्त्तमान राज्यों के वर्गीकरण के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करती हैं।

८. कार्यपालिका

'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग प्राय: बड़े अनिश्चित ढंग से किया जाता है। कभी-कभी उससे केवल मुख्य मंत्री अथवा प्रमुख (उदाहरणार्थ संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति) से तात्पर्य होता है, कभी-कभी सैनिक और अ-सैनिक सभी प्रकार के लोकसेवकों को उसके अन्तर्गत कर लिया जाता है, जिस अर्थ को प्रकट करने के लिए **'प्रशासन'** शब्द अधिक उपयुक्त है। यहां 'कार्यपालिका' शब्द से हमारा तात्पर्य शासन के प्रमुख और उसके मंत्रियों से है, जिन्हें साधारणतया **'मंत्रिमंडल'** कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, कार्यपालिका से हमारा तात्पर्य राज्य में उस निकाय से है जिसे संविधान विधानमंडल की स्वीकृतिप्राप्त विधि को कार्यान्वित करने की सत्ता प्रदान करता है। यद्यपि प्राविधिक दृष्टि से यह सच है कि नीति का सूत्रपात विधानमंडल करता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में आजकल होता यह है कि उसके अधिकांश का निर्माण कार्यपालिका करती है और तब उसे विधानमंडल के अनुमोदन के लिए उसके समक्ष प्रस्तुत करती है।

किसी भी राज्य के लिए ऐसा निकाय अनिवार्य है किन्तु आधुनिक राज्य के संबंध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है, क्योंकि वह एक विशाल राष्ट्रीय समुदाय होता है और इसीलिए यह आवश्यक है कि उसके मुख्य मंत्रियों के पास व्यापक शक्तियाँ हों। विधानमंडल और कार्यपालिका की रचना में बड़ा अंतर संख्या का है। विधानमंडल एक बड़ा निकाय है और कार्यपालिका (जिस अर्थ में हम यहाँ उसका प्रयोग कर रहे हैं) छोटा। ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि विधानमंडल विचारविमर्श करनेवाली

सभा है जिसका कार्य सार्वजनिक विषयों पर वाद-विवाद करना है; और कार्यपालिका विभागों के सचिवीय प्रधानों का निकाय है जिसका कार्य तत्परता और दृढ़ता के साथ काम करना है। कहीं-कहीं, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, कार्यपालिका पर विधानमंडल का नियंत्रण होता है, किन्तु अन्यत्र वह उससे पृथक् होती है और यह अंतर हमारे वर्गीकरण का एक मुख्य आधार है।

९. न्यायपालिका

न्यायपालिका शासन का वह विभाग है जिसका सम्बन्ध विधि का उल्लंघन करने-वालों को दण्डित करने से है; विधि विधानमंडल द्वारा पारित संविधियों के रूप में अथवा उस रूप में भी हो सकती है जिसमें विधानमंडल उसे विद्यमान रहने दे। जैसा एक अधि-कारी ने कहा है, न्यायपालिका का कर्त्तव्य "वैयक्तिक मामलों में विद्यमान विधि के उप-योग का विनिश्चय करना है।" ऐसी न्यायिक शक्ति शासन का मूल तत्त्व है जो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, स्वभाव से ही दमनकारी होता है। न्यायपालिका सदा ही न्यायाधीशों का एक निकाय होता है, जो केन्द्र में और राज्य के दूर-दूर के क्षेत्रों में वैयक्तिक या सामू-हिक रूप में काम करते हैं। न्यायाधीशों की शक्तियाँ अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग तरह की होती हैं। कुछ राज्यों में, जैसे ब्रिटेन में, न्यायाधीश विधानमंडल द्वारा पारित प्रत्येक विधि को लागू करने के लिए बाध्य होते हैं, चाहे ऐसी विधि न्यायालयों के पिछले निर्णयों को समाप्त ही क्यों न कर दे। वास्तव मे नई विधि इसी कारण लागू की जाती है कि वह पिछले निर्णयों को समाप्त कर देती है। अन्य कुछ राज्यों में, जैसे अमरीका में, न्यायाधीशों का सर्वोच्च न्यायालय किसी भी विधि को किन्हीं मामलों में लागू करने से इस आधार पर इनकार कर सकता है कि उस विधि का निर्माण सांविधानिक दृष्टि से विधानमंडल की शक्ति के बाहर है। इस प्रकार वह विधानमंडल के अधिनियमों को रद्द कर सकता है।

अधिकतर राज्यों में शासन का न्याय विभाग न्यूनाधिक मात्रा में एक सृजनात्मक शक्ति है जो सर्वत्र, विशेषकर आंग्ल-सेक्सन देशों में, उस विधिनिकाय में, जिसके अधीन आधुनिक समुदाय शासित होते है, अपने कार्य के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का विकास करती है। विधि, सभी स्थानों में, विशेषज्ञों का क्षेत्र है और इसी कारण साधा-रणतया न्यायाधीशों को पदावधि की सुनिश्चितता और शासन के दूसरे विभागों के हस्त-क्षेप से स्वतंत्रता उपलब्ध होती है। यह उनके लिए बड़ी मूल्यवान और समाज के लिए वास्तव में अत्यधिक महत्त्व की बात है। इसके साथ ही कार्यपालिका के पास भी सदा ही कुछ न्यायिक शक्तियाँ रहती हैं, जिनका मुख्य रूप से क्षमादान और प्रविलम्बन अर्थात् प्राणदण्ड के स्थगन तथा सशस्त्र सेनाओं और सामान्यतया अ-सैनिक सेवाओं में अनुशासन के प्रवर्त्तन से संबंध होता है, यद्यपि ये कार्य अन्ततः विधानमंडल के नियंत्रणाधीन होते

हैं, जो कि इन सेवाओं के पोषण के लिए धन के अनुदान अथवा निषेध की अपनी शक्ति द्वारा नियंत्रण करता है।

१०. संविधान

शासन के इन तीनों विभागों के पारस्परिक संबंध तथा उनकी रचना के भेदों से ही राज्यों में अंतर होता है। आधुनिक सांविधानिक राज्य, जिससे अब हमारा संबंध रहेगा, ऐसा राज्य है जिसने शासन के इन तीन कार्यों के परिपालन के लिए सुनिश्चित नियमों और विनियमों का विकास किया है। लॉर्ड ब्राइस ने संविधान की परिभाषा इस प्रकार की है कि संविधान "विधि से और उसके द्वारा संगठित राजनीतिक समाज का एक ढांचा है अर्थात् ऐसा ढांचा जिसमें विधि ने निश्चित अधिकारों और स्वीकृत कृत्यों वाली स्थायी संस्थाओं की स्थापना की है।" संविधान को उन सिद्धांतों का संकलन भी कहा जा सकता है, जिनके अनुसार शासन की शक्तियों, शासितों के अधिकारों और इन दोनों के बीच संबंधों का समायोजन किया जाता है। संविधान विचारपूर्वक लिखित रचना हो सकती है; वह किसी एक दस्तावेज में हो सकता है, जो स्वयं समय और प्रगति की मांग के अनुसार परिवर्तित और संशोधित किया जाता है, या वह पृथक् विधियों का एक संग्रह भी हो सकता है, जिन्हें संविधान की विधियों के रूप में विशेष सत्ता प्रदान की गई हो, अथवा हो सकता है कि संविधान के आधार एक या दो मूल विधियों में निश्चित कर दिए गए हों और शेष संविधान अपनी सत्ता के लिए रूढ़ि के बल पर निर्भर हो।

यह सच है, जैसा कि आइवर जेनिंग्स अपनी **'केबीनेट गवर्नमेंट'** नामक पुस्तक में कहते हैं कि, "विधियों और रिवाजों के बीच का अंतर वास्तव में मौलिक महत्त्व का अन्तर नहीं है, क्योंकि संविधान कितना ही पूर्णरूपेण लिखित क्यों न हो, उसके संशोधन के लिए किए गए ठोस उपायों के अतिरिक्त रूढ़ियों और रिवाजों का विकास धीरे-धीरे उसके रूप में निश्चय ही परिवर्तन कर देगा। इसके अतिरिक्त, जैसा कि जेनिंग्स ने आगे लिखा है, संविधान निश्चय ही सम्मति पर आधारित रहता है चाहे वह लोकमत-निर्देशन (Referendum) द्वारा या मूक अनुमोदन द्वारा स्थापित हो अथवा बल द्वारा ही स्थापित क्यों न हो। यदि संगठित जनमत उसे अनिष्टकर समझता है तो वह निश्चय ही उलट दिया जाएगा; और यदि, जैसा कि उपर्युक्त लेखक आगे कहता है, लुई नेपोलियन, मुसोलिनी या हिटलर जैसा कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह लोगों को परिवर्तन के प्रति सम्मति प्रकट करने के लिए बाध्य कर सकता है या फुसला सकता है तो वह उसे उलटने में इस कारण नहीं हिचकिचायगा कि उसका विधि के रूप में अधिनियमन किया गया है। किन्तु संविधान का स्वरूप कैसा भी हो, वास्तविक संविधान में निम्नलिखित बातें स्पष्ट रूप से अंकित होंगी : पहली, विभिन्न अभिकरण (Agencies) किस प्रकार संगठित किए गए हैं; दूसरी, इन अभिकरणों को क्या शक्ति दी गई है; और तीसरी, ऐसी शक्ति का प्रयोग किस रीति से किया

जाना है। जिस प्रकार मानव-शरीर में विभिन्न अवयव होते हैं, जिनकी क्रियाएं शरीर की स्वस्थ दशा में सामंजस्यपूर्ण होती हैं और शरीर के स्वस्थ न होने पर अ-सामंजस्य-पूर्ण; ठीक उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य या राजनीतिक निकाय का उस समय एक संविधान होता है जब कि उसके अवयव और उनके कृत्य निश्चितरूपेण सुव्यवस्थित होते हैं और किसी निरंकुश शासक की सनक जैसी किसी बात के अधीन नहीं होते। संक्षेप में, संविधान का उद्देश्य शासन के मनमाने कार्यो को सीमित करना, शासितों के अधिकारों को सुनिश्चित करना, और प्रभुसत्ता के कार्यो की मर्यादा का निरूपण करना है।

११. राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक राज्य

उपर्युक्त बातों से हमें सांविधानिक राज्य को पहचानने में सहायता मिलेगी। राजनीतिक संविधानवाद की जड़ें पाश्चात्य संसार के इतिहास की गहराई में जमी हुई हैं; और जिस रूप में राज्य को आज हम जानते हैं उसके विकास में कुछ स्थानों में सांविधानिक सिद्धान्तों का अभ्युदय चेतन संयोजक शक्ति के रूप में राष्ट्रवाद के उदय अथवा सामरिक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में लोकतंत्र के प्रादुर्भाव से बहुत पूर्व ही हो गया था। फिर भी यह निश्चित है कि आधुनिक सांविधानिक राज्य की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय और प्रवृत्ति लोकतंत्रीय है। राजनीतिक शब्दावली में 'राष्ट्रीयता' शब्द की परिभाषा करना सबसे कठिन है, किंतु हम निश्चितता से कह सकते हैं कि आधुनिक रूप में राष्ट्रीयता समान अतीत वाले और समान भविष्य की कामना रखनेवाले तथा अपने-आपको राजनीतिक रूप में संगठित करने के लिए प्रयत्नशील जन की मिलकर कार्य करने की भावना ही है। सांविधानिक राज्य के विकास में यह हो सकता है कि राष्ट्रीय एकता की यह भावना प्रारम्भ में समाज के सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की प्राप्ति की अपेक्षा समूह की स्वतंत्रता की स्थापना से संबंधित रहे, किन्तु अन्ततः वह जनता के अधिकारों की प्राप्ति के निमित्त चालक शक्ति का सृजन करती है।

'लोकतंत्र' शब्द भी विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है; कभी उसका मतलब शासन के रूप से होता है और कभी उसका प्रयोग समाज की अवस्था विशेष को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। किन्तु आधुनिक संसार में जिस प्रकार राष्ट्रीयता अनिवार्यतः राजनीतिक लोकतंत्र का आधार बन गई है उसी प्रकार लोकतंत्रात्मक राजनीतिक संगठन सामाजिक प्रगति का साधन बन गया है। यहां पर हमारा तात्पर्य राजनीतिक लोकतंत्र से है, जिसका यह आशय है कि शासन शासितों की सम्मति पर आधारित होगा अर्थात् जनता की सम्मति या असम्मति निर्वाचनों, सभामंचों, समाचारपत्रों आदि साधनों द्वारा वास्तविक रूप में अभिव्यक्त हो सकेंगी। अतएव, इस अर्थ में लोकतंत्र से हमारा तात्पर्य ऐसी शासन-प्रणाली से है जिसमें राजनीतिक समुदाय के वयस्क सदस्यों की बहुसंख्या एक ऐसी प्रतिनिधित्व-प्रणाली के द्वारा भाग लेती है जिससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि शासन अपने

कार्यों के लिए अन्ततः उस बहुसंख्या के प्रति उत्तरदायी होगा। दूसरे शब्दों में, समकालीन सांविधानिक राज्य लोकतंत्रात्मक प्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणाली पर आधारित होना चाहिए जिससे जनता की प्रभुता सुनिश्चित हो जाती है।

अतः, हमारा निष्कर्ष यह हुआ कि आधुनिक परिस्थितियों में सांविधानिक राज्य राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक राज्य हैं, और आगे के पृष्ठों में जिन राज्यों की संस्थाओं का अध्ययन करने का हमारा विचार है वे इसी प्रकार के हैं। ऐसे राज्य के स्वरूप को समझने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि राजनीतिक संविधानवाद के विकास का उसके आरम्भ से ही अध्ययन किया जाए और अब हम ऐसी ही ऐतिहासिक रूपरेखा के चित्रण का प्रयत्न करेंगे।

प्रश्न

१. सामाजिक विज्ञान के विभागों का वर्णन कीजिए और प्रत्येक के क्षेत्र का विवेचन कीजिए।
२. समाज और राज्य में क्या अन्तर है ?
३. प्राचीन और वर्त्तमान अर्थों में राज्य की परिभाषा कीजिए।
४. विधि कितने प्रकार की होती हैं ? आधुनिक राज्य में उनका किस प्रकार विकास हुआ है ?
५. 'प्रभुत्व' का अर्थ और उसका महत्त्व समझाइए।
६. शासन को राज्य का यंत्र कहना कहां तक उपयुक्त है ?
७. "शासन, अन्तिम विश्लेषण में, संगठित बल है।" वर्त्तमान राज्य के सम्बन्ध में इस उक्ति का विवेचन कीजिए।
८. शासन के तीन बड़े विभाग क्या हैं ? प्रत्येक का क्षेत्र समझाइए।
९. राजनीतिक संविधान क्या है ? क्या आप राजनीतिक निकाय के स्वस्थ जीवन के लिए उसे आवश्यक समझते हैं ?
१०. यह कहना कहां तक उचित है कि आधुनिक राजनीतिक संविधानवाद की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय है और उसकी प्रवृत्ति लोकतंत्रीय है ?

अध्याय २

सांविधानिक राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास

१. विषय-प्रवेश

सांविधानिक राज्य का अभ्युदय सारतः एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और इस विषय के विद्यार्थी को अपनी मुख्य सामग्री इतिहास में मिलेगी। यह सामग्री स्वयं संस्थाओं के अपने इतिहास में ही नहीं बल्कि राजनीतिक विचारों के इतिहास में भी मिलती है, जिन्होंने इन संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहित किया है, अथवा जो स्वयं भी उनके विकास से स्फूर्ति प्राप्त करते रहे हैं; क्योंकि जो अभिप्रेत था, उस पर विचार करना प्रायः उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है, जितना कि जैसा वास्तव में हुआ, उस पर विचार करना। यह बात उन संस्थाओं के बारे में और भी अधिक लागू होती है जिनका अब हम अध्ययन कर रहे हैं और जो आज के हमारे ही युग में रूपान्तरित और पुनः रूपान्तरित हो रही हैं। भूतकाल में ही नहीं, बल्कि वर्तमान में भी विद्यमान शासनपद्धति का उसके सुधार की दृष्टि से विवेचन अथवा विद्यमान संगठन का उसकी परिभाषा की दृष्टि से विश्लेषण ही अधिकांश राजनीतिक दर्शन का आधार बनता है।

हमने संविधान की यह परिभाषा की है कि वह विधि से और उसके द्वारा संगठित राजनीतिक समाज का एक ढांचा है, जिसमें संगठित विधि ने निश्चित अधिकारों और स्वीकृत कृत्यों वाली स्थायी संस्थाओं की स्थापना की है; और सांविधानिक राज्य हमारी परिभाषा के अनुसार वह राज्य है जिसमें शासन की शक्तियों, शासितों के अधिकारों और इन दोनों के बीच में संबंधों का समायोजन किया जाता है। इस प्रकार का राज्य एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त नवीन है। यह उतना ही प्राचीन है जितना कि पुरातन यूनान और उतना ही नवीन है जितनी कि बीसवीं शताब्दी। इसका प्राचीनतम रूप, जिसका हमारे पास लिखित प्रमाण है, यूनानियों और रोमनों के प्राचीन युग में पाया जाता है, किन्तु वह उसके आज के रूप से बहुत भिन्न है। आधुनिक संविधानवाद, जैसा कि हमने कहा है, राष्ट्रवाद और प्रातिनिधिक लोकतंत्र के दोहरे आधार से विकसित हुआ है। किन्तु सापेक्ष दृष्टि से राष्ट्रवाद हाल ही की उत्पत्ति है। अतः, राष्ट्रीय सांविधानिक राज्य प्राचीन विश्व की भूमि में उत्पन्न नहीं हो सकता था। व्यावहारिक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में राष्ट्रवाद का विकास राज्य के उस ढांचे के भीतर हुआ है जिसका यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में आविर्भाव हुआ। यूरोप की आधुनिक राज्य-प्रणाली का आरम्भ परिवर्तन के उस युग से हुआ, जिसे हम पुनरुत्थान (Renaissance) कहते हैं। साहित्य, कला, विज्ञान,

सामुद्रिक चेष्टाओं और राजनीति के क्षेत्र में हुई क्रांतियों के महत्त्व को समझने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम राज्य पर उनके प्रभावों का अध्ययन करें। यहां 'पुनरुत्थान' शब्द की व्युत्पत्ति से हमें अधिक सहायता नहीं मिलेगी; क्योंकि यद्यपि इस युग में विद्या के क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का पुनर्जन्म हुआ, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में ऐसा बहुत कम हुआ। इस क्षेत्र में तो बहुत बड़े अर्थों में प्राचीन की मृत्यु और नवीन का जन्म हुआ। उस समय तो वास्तव में बाह्य प्रभुसत्ता के सिद्धांत का आविर्भाव हुआ जिससे तात्कालिक और दूरस्थ भूतकाल से सम्बन्धविच्छेद हो गया। इस बात का बहुत ही गम्भीर राजनीतिक महत्त्व है, जैसा कि हम अब देखेंगे।

२. यूनानी संविधानवाद

यह सत्य है कि राजनीतिक पृथक्त्व यूनानी जीवन का एक विशिष्ट लक्षण रहा है। वास्तवमें स्वायत्तता अथवा समूह-स्वातंत्र्य के सिद्धांत के प्रति यूनानियों की धार्मिकप्राय श्रद्धा ने ही अन्त में उन्हें डुबो दिया। उन्हें नगर-राज्य का ही ज्ञान था जिसका क्षेत्रफल सामान्यतया ब्रिटेन के आज के एक जिले से अधिक नहीं था और जनसंख्या ब्रिटेन के आधुनिक नगर से कम ही थी। यूनानियों की संपूर्ण राजनीतिक विचारशैली इसी तथ्य से निर्धारित होती थी; यहां तक कि यूनान ने जिन मेधावी राजनीतिक दार्शनिकों को जन्म दिया, वे भी राज्य की इस धारणा से आगे नहीं जा सके। अरस्तू ने आदर्श राज्य की भौगोलिक सीमा निश्चित करते हुए यह विचार प्रकट किया कि राज्य का क्षेत्र इतना बड़ा होना चाहिए कि वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सके और इतना छोटा होना चाहिए कि उसके समस्त नागरिक एक स्थान पर इकट्ठे हो सकें।

नागरिक के बारे में इस प्रकार की कल्पना से यह अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आधुनिक संविधानवाद के दूसरे सिद्धांत—लोकतंत्र—की धारणा यूनानियों में कितनी भिन्न थी। हमारे राष्ट्र-राज्य ने तो अपने लोकतंत्र के विकास में प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को अनिवार्यतः जन्म दिया, किन्तु यूनानी ऐसे सिद्धान्त को बिलकुल ही नहीं जानते थे। यूनानी नागरिक वास्तव में और स्वयं एक सैनिक, न्यायाधीश, और शासक-सभा का सदस्य था। स्पष्ट है कि प्रदेश और संख्या को सीमित किए बिना, जैसा कि यूनानी नगर-राज्य में उपलक्षित था, नागरिक के कृत्यों का इस प्रकार का व्यक्तिगत पालन असंभव था। इसके अतिरिक्त इस व्यक्तिगत सेवा के साथ एक और संस्था अर्थात् दासता पूर्वकल्पित थी, जिसे आधुनिक सभ्यता की आत्मा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती। प्राचीन यूनानी एक सक्रिय नागरिक होने के लिए स्वतंत्र था, क्योंकि सामान्यतया जीवन के साधनों का उत्पादन दासों के द्वारा किया जाता था जो कि नागरिकता की परिधि के बाहर थे।

यूनानी के लिए राज्य ही उसकी सम्पूर्ण संवास-योजना थी। वह ऐसा नगर था जिसमें उसकी भौतिक और आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। अरस्तू ने जब

'राज्य' शब्द का प्रयोग किया, तो उसमें उसने उन सब बातों को सम्मिलित कर लिया जिन्हें हम राज्य, समाज, आर्थिक संगठन और यहां तक कि धर्म आदि शब्दों के द्वारा व्यक्त करते हैं। उसके लिए राज्य एक आध्यात्मिक बंधन था न कि शासनीय यंत्र मात्र। अरस्तू ने कहा है कि राज्य जीवन को सम्भव बनाने के लिए ही नहीं बल्कि जीवन को सुन्दर बनाने के लिए है। अफलातून और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिकों के लिए व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं था। इसके विपरीत, उनके विचार में व्यक्ति के सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राज्य ही उसका एकमात्र साधन था और उनकी दृष्टि में व्यक्ति उस समय तक अच्छा व्यक्ति नहीं बन सकता था जब तक कि वह अच्छा नागरिक भी न हो।

ऐसे विचारकों के लिए अच्छी नागरिकता की कसौटी विधियों अर्थात् संविधान का पालन करना था। विधि एक निश्चित सार्वलौकिक कल्याण का प्रतीक मानी जाती थी, जो वैयक्तिक उच्छृंखलता के विरुद्ध रक्षा-कवच के समान थी। अपने आदर्श संविधानों का प्रतिपादन करने में अफलातून और अरस्तू दोनों ने राजनीतिक शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया, क्योंकि शिक्षित नागरिकता के द्वारा ही राज्य को अराजकता से बचाया जा सकता है। अफलातून और अरस्तू दोनों के विचार में एथेंस में लोकतंत्र के अनियंत्रित विकास से ही अराजकता पैदा हुई, और एथेन्स की स्वतंत्रता ने पतित होकर जिस उच्छृंखलता का रूप धारण कर लिया था उसकी आलोचना ने ही राजनीतिक दर्शन के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों—अफलातून के 'रिपब्लिक' और अरस्तू के 'पोलिटिक्स'—के लिए अवसर प्रदान किया। अफलातून का हल था उसकी 'रिपब्लिक' में वर्णित राजनीतिक मनीषियों का अभिजाततंत्र, जिससे आशय था ऐसे संरक्षकों का एक निकाय जो प्रशिक्षण की एक ऐसी कड़ी प्रणाली के द्वारा शासन करने के योग्य बनाए गए हों, जिसके द्वारा एक आदर्श राज्य की सृष्टि हो सके। अरस्तू ने अव्यवस्थित जन-समूह के निरंकुशतंत्र से उस काल्पनिक व्यवस्था में आश्रय लिया, जिसे वह 'पॉलिटी' कहता था और जिससे उसका तात्पर्य एक प्रकार के मध्यवर्गीय शासन से था जो अप्राप्य नहीं तो 'कम-से-कम अस्थिर सर्वोत्तम' (शासन) और 'असहनीय निकृष्ट' (शासन) के बीच का शासन स्थापित कर सके।

किन्तु इन दोनों में से कोई भी कल्पना साकार रूप प्राप्त नहीं कर सकी, इसलिए उनको यह प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिला कि उनमें यूनानी नगर-राज्य को विनाश से बचाने की सामर्थ्य थी या नहीं। सम्पूर्ण यूनान की स्वतंत्रता को चिरस्थायी बनाने का एकमात्र उपाय था व्यापक राजनीतिक एकता की स्थापना। यह मार्ग यूनानी विचारकों को सूझा ही नहीं, यद्यपि व्यावहारिक रूप में उसे ग्रहण करने का प्रयत्न एक बार किया गया था। इस प्रयत्न में एथेन्स ने सर्वप्रथम समान राज्यों का एक संघ बनाया जिसका नाम **'डेलॉस का संघ'** था, किन्तु जब बाद में एथेन्स ने इसे 'एथेन्स साम्राज्य' के रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा की, जिसमें अन्य समस्त राज्यों का नेतृत्व स्वयं उसके हाथों में होता, तो स्पार्टा के नेतृत्व में बहुत-से राज्य उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए क्योंकि इससे

उनके मतानुसार स्वतंत्र राज्य के आधार को ही नहीं बल्कि सच्चे सुख के एकमात्र आधार को खतरा उत्पन्न हो गया था। इसके फलस्वरूप होनेवाले लम्बे गृहयुद्ध (पिलॉपोनिशियन महायुद्ध ४३१-४०४ ई०पू०) में यूनानियों ने अपने-आप ही अपनी जो क्षति की उससे वे संभल नहीं सके और अन्त में द्वितीय फिलिप तथा सिकन्दर महान् के अधीन मकदूनिया के आक्रमणकारियों ने उन्हें सरलता से अपने कब्जे में कर लिया।

यूनानी राजनीतिक संविधानवाद में जिस बात का अभाव था वह, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इस प्रकार के राज्य के निरंतर अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है और वह बात है समय के परिवर्तन के साथ-साथ चलने की और नई आवश्यकताओं की, जैसे-जैसे वे प्रकट होती हैं, पूर्ति करने की योग्यता। यद्यपि यूनानियों का राजनीतिक संविधानवाद इस प्रकार लुप्त हो गया, फिर भी उनका राजनीतिक आदर्शवाद जीवित रहा। यह समझना कठिन है कि इस प्राचीन प्रतिष्ठित उदाहरण द्वारा प्राप्त प्रेरणा के अभाव में हमारा वर्त्तमान राजनीतिक संगठन वैसा कैसे हो सकता था जैसा कि वह आज है।

३. रोमन संविधान

मकदूनिया द्वारा विजित कर लिए जाने के पश्चात् पुनःसंगठित यूनान तथा सिकन्दर द्वारा स्थापित साम्राज्य का अधिकतर भाग, ये दोनों ही, अन्त में, बढते हुए रोमन साम्राज्य की सीमा के अन्दर सम्मिलित कर लिये गए। अतएव राजनीतिक संविधानवाद के इतिहास की खोज में हमें अब रोम की ओर बढ़ना चाहिए। रोम भी प्रारम्भ में एक नगर-राज्य था; किन्तु चूंकि वह आरम्भ से ही विरोधी राज्यों से घिरा हुआ था और उनसे उसे खतरा बना रहता था इस कारण वह विस्तार की नीति पर चलने के लिए बाध्य हो गया, जो तब तक जारी रही जब तक कि रोमन साम्राज्य की सीमा सभ्य संसार से मिल नहीं गई। संविधानवाद के इतिहास में रोम का महत्त्व इस बात के कारण है कि पुरानी दुनियां में उसके संविधान ने वैसा ही भाग लिया जैसा कि आज की दुनियां में ब्रिटिश संविधान ले रहा है। लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि "टाइबर-तटस्थ नगर-गणराज्य से, जिसके चारों ओर का ग्राम्य क्षेत्र सरे या रोड टापू से बड़ा नहीं था, एक विश्व-साम्राज्य का विकास हुआ। इस साम्राज्य के ढांचे में उसके अन्त तक उन संस्थाओं के चिह्न विद्यमान रहे जिनके आधार पर उस छोटे-से गणराज्य का अभ्युदय हुआ था। ब्रिटेन में, पहले कबीलाई और तत्पश्चात् सामंतीय एकतंत्र का धीरे-धीरे एक बिलकुल ही भिन्न प्रकार के द्वितीय विश्व-साम्राज्य में विकास हुआ। इसके साथ ही शासन के प्राचीन स्वरूप का, ऐसे प्रयत्नों एवं संघर्षों द्वारा जिनका प्रयोजन पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं था, एक ऐसी प्रणाली में विकास हुआ जो नाममात्र के लिए ही एकतंत्रीय थी।" किन्तु, जैसा कि लॉर्ड ब्राइस आगे कहते है, जहां रोम अंशतः अभिजाततंत्रात्मक और अंशतः लोकतंत्रात्मक गणराज्य से निरंकुशतंत्र में विकसित हुआ, वहां दूसरी ओर ब्रिटेन का विकास इसके बिलकुल विपरीत हुआ, अर्थात् एक

शक्तिशाली एकतंत्र से शासन के ऐसे रूप में जो व्यावहारिक रूप में अंशतः लोकतंत्रात्मक और अंशतः धनिकतंत्रात्मक गणतंत्र है।

रोम का संविधान प्रारम्भ में शासन का एक बिलकुल निश्चित संविधान था, किन्तु फिर भी वह लिखित रूप में कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता था। ब्रिटेन के संविधान की तरह वह "शासन की पद्धतियों को निर्धारित करने वाले लोगों की स्मृतियों में सुरक्षित या लिखित पूर्वदृष्टांतों के, वकीलों अथवा राजनीतिज्ञों की मान्यताओं के, रूढ़ियों, प्रथाओं, समझौतों और विश्वासों के संकलन एवं बहुत-सी संविधियों" से निर्मित था। प्रारम्भ में रोम एक एकतंत्र था, किन्तु बाद में राजाओं को निकाल दिया गया और ५०० ई०पू० के लगभग गण-राज्य का स्पष्ट रूप से प्रादुर्भाव होने लगा। तदुपरान्त वर्गों (पेट्रीशियनों तथा प्लेबियनों) के बीच एक दीर्घकालीन युद्ध आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप अन्त में (३०० ई० पू० के लगभग) प्लेबियनों के लिए समान अधिकारों की स्थापना हुई जिनकी देख-रेख इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से चुने गए पदाधिकारियों—ट्रिब्यूनों—के द्वारा की जाती थी। इस गणतंत्रीय संविधान में शासन के तीन तत्त्व थे जो एक-दूसरे पर नियंत्रण रखनेवाले और आपस में संतुलन रखनेवाले समझे जाते थे। इनमें से प्रथम तत्त्व—एकतंत्रीय तत्त्व—(प्रारम्भिक राजाओं से स्थानान्तरित) था, जो दो कांसुलों के रूप में प्रकट हुआ जिनका वार्षिक निर्वाचन होता था और जिनको एक-दूसरे के विरुद्ध निषेधाधिकार प्राप्त था। दूसरा तत्त्व, अभिजाततंत्र, सिनेट में समाविष्ट था। यह एक सभा थी, जिसे एक समय बड़ी विधायिनी शक्तियां प्राप्त थीं। तीसरा, अर्थात् लोकतंत्रीय तत्त्व भूमि या जनता के विभागों के अनुसार तीन प्रकार की जन-सभाओं (क्यूरीज, सेंच्युरीज अथवा ट्राइब्स) में विद्यमान था। शक्तियों के तिहरे विभाजन का यह सिद्धांत साम्राज्य के पतन तक विद्यमान रहा; किन्तु रोम के विस्तार के साथ ही इसका तथ्य के रूप में लोप हो गया।

रोमन राज्य, एक अर्थ में, बाईस शताब्दियों तक (रोम नगर की स्थापना की परं-परागत तिथि—७५३ ई० पू० से कुस्तुन्तुनिया की विजय सन् १४५३ तक) रहा और इस दौरान में उसके संविधान में कई परिवर्तन हुए। यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन संविधान एक नगर-राज्य का संविधान था, इसलिए जब रोम नगर-राज्य न रहा, और (तत्कालीन सभ्यता की परिधि के अन्तर्गत) विश्व-राज्य बन गया तब उसका गणतंत्रात्मक स्वरूप वास्तविकता से असंगत हो गया। यूनान की तरह हम यहां भी आधुनिक संविधानवाद की दोनों अनिवार्य शर्तों अथवा पूर्वधारणाओं अर्थात् प्रातिनिधिक लोकतंत्र और राष्ट्रवाद का अभाव देखते हैं। रोम का लोकतंत्र यूनान के नगर-राज्यों की ही तरह प्रत्यक्ष या प्राथमिक लोकतंत्र था और प्रतिनिधित्व का सिद्धांत उन दोनों में से किसी को भी ज्ञात न था। स्पष्ट है कि इस प्रत्यक्ष अर्थ में नागरिकता को बनाए रखना और इसके साथ ही उन जन-समूहों को, जिनको रोम क्रमवार अपनी सीमा के अन्तर्गत करता गया, उसमें सम्मिलित करना संभव नहीं था। इसके अतिरिक्त, रोमन संसार का निर्माण करनेवाले बेमेल और विभिन्न

जन-समूहों में से किसी एक राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता था। रोमन पद्धति अपरिपक्व स्थानीय भावना को नष्ट करने और फूट डालकर शासन करने की थी। वह राष्ट्रों को जीवित नहीं रहने देती थी क्योंकि अधीनस्थ प्रजाजनों को शासन-व्यवस्था में हिस्सा देना तब तक संभव नहीं था जब तक कि प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का समारम्भ न किया जाता और ऐसा उसने कभी नहीं किया।

इस प्रकार प्राचीन गणतंत्रात्मक संविधान विलुप्त हो गया और एकतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय एवं लोकतंत्रीय शक्तियों के एक सुन्दर संतुलन के रूप में उसके बारे में जो धारणा थी वह ईसा-पूर्व की दूसरी शताब्दी के महान् पूर्वीय विस्तार के पश्चात् जीवित नहीं रह सकी, यद्यपि उस शताब्दी के मध्य में भी रोम में बंधक के रूप में रहनेवाले यूनानी पोलीबियस ने इस संतुलन को ही रोमन शासन की स्थिरता का कारण बताया और इस बात का परवर्ती राजनीतिक सिद्धान्त और कुछ हद तक संस्थाओं पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। किन्तु वास्तव में इस समय से रोमन गणराज्य सिनेट के शासन से अधिक कुछ नहीं रहा। किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त बना रहा कि समस्त शक्तियां अन्ततः जनता से प्राप्त होती है। रोमन संविधान में संकटकाल में अस्थायी अधिनायकतंत्र की स्थापना के लिए सदा ही व्यवस्था थी और ईसा-पूर्व की अन्तिम शताब्दी में, जब कि इटली में गृहयुद्ध जोरों पर था, मारियस और सुल्ला जैसे कुछ विजयी सैनिक कमांडरों के निरंकुश कार्यों को सांविधानिक चोले के अंदर छिपाने के लिए प्रायः इस कार्यसाधक व्यवस्था का सहारा लिया जाता था। अन्त में जब जूलियस सीजर ने ई० पू० ४८ में पोम्पी को कुचल डाला तो अपनी अशक्तता को स्वीकार करते हुए सिनेट ने उसे जीवन भर के लिए अधिनायक बना दिया। इस प्रकार यदि नाम से नहीं तो वास्तविक रूप में साम्राज्यसत्ता (Imperium) का जन्म हुआ।

रोमन साम्राज्यिक शक्ति के सिद्धान्त को हम सम्राट् जस्टीनियन (सन् ५३२-५६५) के इन्स्टीट्यूट्स और डाइजेस्ट से भली प्रकार समझ सकते हैं। सम्राट् जस्टीनियन रोमन विधि का महान् संहिताकार था जो अपने-आपको विश्व का शासक कहता था, यद्यपि कुछ समय को छोड़कर सदा ही उसका वास्तविक शासन रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग तक ही सीमित था जिसका केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। रोमन विधि की इस संहिता के अनुसार सर्वोच्च विधायिनी शक्ति तब भी रोम की जनता के ही पास थी (यद्यपि उसने पांच शताब्दियों से अधिक काल से उसका प्रयोग नहीं किया था)। सम्राट् के अधिकार जनता के समर्पण के परिणाम थे। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि अधिकार-समर्पण सदा के लिए नहीं होता था, वरन् यह कल्पना कर ली जाती थी कि यह क्रिया प्रत्येक नए पदधारी के प्रतिष्ठित होने पर दोहराई जाती थी। साम्राज्य के इतिहास के किसी भी काल में जनता की शक्तियों को औपचारिक रूप से कभी समाप्त नहीं किया गया, किन्तु वे धीरे-धीरे विस्मृत हो गई। यह रोमन संविधान का विचित्र लचीलापन था, जिसके कारण अधिकार-समर्पण की यह मिथ्या कल्पना सम्भव हो सकी। इस कल्पना के अनुसार सम्राट्

प्रारम्भ से ही (ऑगस्टस, ई० पू० ३१—सन् १४) केवल मजिस्ट्रेट (दण्डनायक) थे, जिनके हाथों में पुराने गणतंत्र के विभिन्न पद एकत्र थे। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि गण-राज्य के महान् युग में रोमन दण्डनायकों (कॉन्सुल, प्रीटर आदि) के हाथों में संविधान के अनुसार बहुत बड़ी शक्ति थी। अतएव, एक बार यह मान लेने पर कि उनकी सब शक्तियां एक व्यक्ति में केन्द्रित हैं और उस व्यक्ति के कार्यकाल की कोई सीमा नहीं है, सम्राट् का पद सभी पुराने गणतंत्रीय दण्डनायक-पदों के एकीकरण से अधिक कुछ प्रतीत नहीं हुआ, जिसे रोमन लोकतंत्र के अधिकार भी समर्पित थे। सिनेट की भी बैठकें होती रहीं, जिससे गणतंत्रात्मक स्वरूपों के जारी रहने का दिखावा बना रहा। परन्तु साम्राज्य के परवर्त्ती दिनों में सिनेट बिलकुल ही अशक्त हो गई और सम्राट् की इच्छा को स्वीकार करनेवाली सभा मात्र के रूप में रह गई।

इस प्रकार रोमन संविधान का आरम्भ एकतंत्रात्मक, अभिजाततंत्रात्मक और लोक-तंत्रात्मक तत्त्वों के एक सुन्दर सम्मिश्रण के रूप में और उसका अन्त एक अनुत्तरदायी निरं-कुशतंत्र के रूप में हुआ। फिर भी यह स्पष्ट है कि साम्राज्य के विकास के साथ-साथ ऐसा होना अनिवार्य था। उसके विस्तृत क्षेत्र, विभिन्न जन-समूहों और विविध प्रकार के हितों के लिए ऐसे साधन की आवश्यकता थी, जो शीघ्रता और कुशलता के साथ कार्य कर सकता और जिसकी पूर्ति एक व्यक्ति के हाथों में सम्पूर्ण प्रभुत्व सौंप देने से ही हो सकती थी। जैसा कि हम इसके पूर्व कह चुके हैं, इससे भिन्न किसी भी पद्धति के अनुसरण से रोमन संसार बहुत पहले नष्ट हो गया होता और राज्यों की जो विविधता हम आज देख रहे हैं, उसका कई शताब्दियों पूर्व प्रादुर्भाव हो गया होता।

रोमन सम्राट् की निरपेक्ष सत्ता उन विचारों से भी सीमित नहीं थी जिनसे रूस के जारों और प्रशा के बादशाहों जैसे आधुनिक निरंकुश शासकों की शक्ति का क्षेत्र सीमित था, क्योंकि आखिर रूस तथा प्रशा के शासक जिन लोगों पर शासन करते थे उनमें निश्चय ही बहुत-कुछ सजातीयता अथवा समानता थी। रोमन साम्राज्य में राष्ट्रीय भावना का बिलकुल ही अभाव था। ऐसे संविधान के अधीन, जो सदा से ही नगर का संविधान था, अधीनस्थ प्रजाजनों को रोमन गणतंत्र के लोगों के अधिकारों का कुछ भी पता नहीं था और इस बात से निरंकुशतंत्र का विकास और भी आसान हो गया। साम्राज्य-काल में भी गणतंत्र के बने रहने की मिथ्या कल्पना ऑगस्टस और पूर्ववर्त्ती सम्राटों के लिए बड़ी लाभदायक रही, क्योंकि इसके द्वारा वे अपने-आपको जूलियस सीजर के जैसे अन्त से बचा सके, किन्तु इसके कारण बाद के वर्षों में सम्राट्-पद के लिए बड़े संघर्ष हुए, क्योंकि सम्राट् के पद का कोई सांविधानिक आधार नहीं था। किन्तु गणतंत्रवाद से साम्राज्य-वाद में परिवर्तन होने के समय जो 'तथ्य रूप में' प्रभुसत्ता थी अर्थात् सम्राट्—वह अन्त में 'अधिकार से' प्रभुसत्ता मानी जाने लगी और जस्टीनियन के ये शब्द कि 'नरेश की खुशी ही विधि का बल रखती है' उसके युग में अक्षरशः और स्वीकृत सत्य बन गए,

यद्यपि उस विधि की अधिकार-सीमा, पांचवीं शताब्दी में पश्चिमी साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने से पूर्व के दिनों की सीमा से बहुत संकुचित थी।

तो फिर रोमन संविधानवाद ने क्या स्थायी प्रभाव डाले? सबसे पहले तो रोमन विधि का महाद्वीपीय यूरोप के विधि-इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिमी साम्राज्य के ट्यूटनजातीय आक्रमणकारियों द्वारा लाई गई रूढ़ियां और विधियां रोमन संहिता में, जो उन्हें वहां मिली, घुल-मिल गई और इस सम्मिश्रण ने उन विधिप्रणालियों को जन्म दिया जो आज पश्चिमी यूरोप महाद्वीप में प्रचलित हैं। दूसरे, रोमनों का व्यवस्था और एकता का प्रेम इतना प्रबल था कि मध्ययुग के लोग विघटनकारी शक्तियों के होते हुए भी विश्व की राजनीतिक एकता की धारणा से आविष्ट थे। आधुनिक विश्व के उदार विचारक आज जो यह स्वप्न देख रहे हैं कि शायद अंत में युद्ध के निवारण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय अथवा अतिराष्ट्रीय सत्ता की स्थापना की जा सकेगी, उसका मूल, एकता के लिए रोमनों के उत्कट प्रेम और मध्यकाल मे एक आदर्श के रूप में बनी हुई उसके प्रति निष्ठा में पाया जा सकता है। तीसरे, सम्राट् के वैध प्रभुत्व के बारे में दुहरी धारणा—एक ओर यह कि नरेश की खुशी ही विधि का बल रखती है और दूसरी ओर यह कि उसकी शक्तियां अन्ततः जनता से प्राप्त होती हैं—कई शताब्दियों तक बनी रही, और इसने शासक और शासित के संबंधों के बारे में दो पृथक् मध्यकालीन विचारधाराओं को जन्म दिया। मध्य-काल के प्रारम्भ में इसके फलस्वरूप लोगों ने सत्ता को आंखें मूंद कर स्वीकार कर लिया, किन्तु उस काल के अन्तिम दिनों में इस विचारधारा का जन्म हुआ कि प्रारम्भ में सम्राट् को शक्ति सौंपनेवाली जनता उसे उचित रूप से पुनः अपने हाथों में ले सकती है। जिस लोक-तंत्र से आधुनिक युग का समारम्भ हुआ, उसका दार्शनिक आधार यही तर्क था।

४. मध्यकाल में संविधानवाद

चौथी और पांचवीं शताब्दियों में रोमन साम्राज्य के पश्चिमी अर्द्धांश में बर्बरों के प्रबल आक्रमणों से रोमन राजनीतिक व्यवस्था भंग हो गई। किन्तु पूर्वीय अर्द्धांश में यह व्यवस्था बनी रही, जहां सम्राटों ने कुस्तुन्तुनिया के चारों ओर दिन-प्रतिदिन घटते हुए क्षेत्र में अनिश्चित शासन बनाए रखा। यह परवर्त्ती रोमन (अथवा बेजेंटाइन) साम्राज्य अधिका-धिक संकुचित एवं एकाकी राज्य बन गया और अन्त में पाश्चात्य यूरोप से संपर्कहीन अवस्था में तुर्कों के कब्जे में हो गया, जिन्होंने सन् १४५३ में उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। बर्बरों द्वारा रोमन विधि की सार्वभौमिकता भंग कर दिए जाने के पश्चात् पश्चिम में वास्तविक एकता असंभव हो गई किन्तु विश्व-साम्राज्य का वैध सिद्धांत सदा ही बना रहा और इसी सिद्धांत से पवित्र रोमन साम्राज्य का विकास हुआ।

इस साम्राज्य की नींव सन् ८०० में चार्ल्स महान् ने डाली परन्तु यह मूल रोमन साम्राज्य से बहुत भिन्न प्रकार का संगठन था। यह प्रादेशिक, प्रजातीय, सामाजिक,

राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टि से इस सीमा तक रूपान्तरित रोमन साम्राज्य था कि पुराना रोमन संविधानवाद बिलकुल ही लुप्त हो गया। अव्यवस्थित रोमनों को उत्थापित करने के लिए ट्यूटॉनिक तत्त्व प्रत्यक्षतः पर्याप्त शक्तिशाली थे। इसके अतिरिक्त उसे कैथोलिक चर्च से, जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य के परवर्त्ती दिनों में शक्तिशाली होने लग गया था, पुराने रोमन केन्द्रीय शासन की भग्न अवस्था में सार्वभौमिक शक्ति के ऐसे दावे करने का प्रोत्साहन मिला जिनसे कि लौकिक सत्ता को खतरा पैदा हो गया। समुचित संविधान का विकास करने के लिए अवसर प्राप्त होने से पूर्व ही चार्ल्स महान् का साम्राज्य फ्रैंकिश जाति की उत्तराधिकार-विधियों के अनुसार उसके उत्तराधिकारियों में बंट गया और उसके बाद नवीं तथा दसवीं शताब्दियों के नोर्स लोगों के आक्रमणों के कारण विघटित हो गया। इसके उपरान्त पवित्र रोमन साम्राज्य फिर से वैसा न बन सका जैसा कि वह शार्लमेन (Charlemagne) के अधीन था। वह इटली की प्रभुसत्ता पर अस्पष्ट और अस्थिर अधिकार के साथ जर्मनी तक ही सीमित रह गया।

इसके उपरान्त समस्त यूरोप में सामंतवाद का विकास बड़ी द्रुत गति से हुआ। यह एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद तक सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतया स्वीकृत रूप में व्यवस्थित था। इसका मूल लक्षण भूमि का छोटी इकाइयों में विभाजन था, जिसका सामान्य सिद्धांत यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वामी होना चाहिए"। इस व्यवस्था ने मध्यकालीन साम्राज्य के नाममात्र के दावे में सारतः कोई वृद्धि किए बिना ही उसे कुछ बल दिया, क्योंकि अब एक ऐसे यूरोपीय समाज की कल्पना करना संभव हो गया जिसकी वास्तविकता की जांच की आवश्यकता नहीं थी और जिसका रूप एक नुकीले स्तूप के समान था तथा जिसमें शिखर पर सम्राट् का स्थान था जो कि स्वयं भी 'ईश्वर का सामन्त' समझा जाता था। सामंतवाद की बुराई इस बात में थी कि उसके अन्तर्गत सामंतों को असाधारण शक्ति प्राप्त थी और उनकी शक्ति के अनुपात मे ही एक संयुक्त राज्यके आविर्भाव का दिन टलता गया। इसलिए, हम देखते हैं कि मध्यकाल के शक्तिशाली राजा वे थे जिन्होंने शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करने और इस प्रकार एक केन्द्रीय नियंत्रण को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जो बात सामंतीय प्राधान्य के लिए निश्चय ही अनिष्टकारी थी।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि सामन्तवाद का विकास पूर्व-मध्यकालीन युग की अव्यवस्था और आधुनिक राज्य की व्यवस्था के बीच की खाई को पाटने के लिए एक अनिवार्य पुल के रूप में हुआ। केन्द्रीयकरण के पहले बड़े प्रयत्न यूरोप के पश्चिमी छोर में हुए: विशेष रूप से ब्रिटेन और फ्रांस में और उनसे कुछ कम हद तक स्पेन में; ग्यारहवीं शताब्दी से राजाओं ने शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करने और विशाल सामंतीय जागीरों को नियंत्रित और अन्त में समाप्त करने की नीति अपनाई। ये ही वे देश है जिनमें हम उन दो सिद्धांतों के उदय का अस्पष्ट आभास देख सकते हैं जिनको हमने आधुनिक संविधानवाद के विकास की

आवश्यक शर्तें कहा है, अर्थात् राष्ट्रवाद और प्रातिनिधिक लोकतंत्रवाद। इंग्लैंड कभी भी पवित्र रोमन साम्राज्य की सीमा के अन्दर नहीं रहा और शार्लमेन के राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् न फ्रांस ही उसके अंतर्गत रहा। जहां तक पोप की सत्ता का प्रश्न है, इन दोनों में इतनी पर्याप्त स्वतंत्रता का विकास हुआ कि वे, वास्तव में, एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना कर सके। इन दोनों देशों की सीमाओं के अंतर्गत केवल असाधारण समयों में ही पोप का कोई वास्तविक प्रभाव होता था। इसके अतिरिक्त सामंतीय जागीरों से छोटी जागीरों के प्रतिनिधियों को समाविष्ट करनेवाली सभाएं सर्वप्रथम इन्हीं दो देशों में प्रकट हुई। इंगलैंड में पहली संसद् जिसमें शायरों के नाइट (Knights of the Shire) और नगरों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए, सन् १२६५ में बुलाई गई। फ्रांस में प्रथम संसद् सन् १३०२ में पोप के इस दावे के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में आमंत्रित हुई कि पादरियों को नागरिक करों से छूट होनी चाहिए। इन राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना को शतवर्षीय युद्ध (सन् १३३७-१४५३) से और प्रोत्साहन मिला, जिससे प्रत्येक राज्य के प्रजाजनों को अपने-अपने हितों की समानता का ज्ञान हुआ। जोन ऑफ आर्क का नारा 'फ्रांस फ्रांसीसियों के लिए' भी हो सकता था जब कि अंगरेज अपने देश की उन दुर्व्यवस्थाओं को, जो अधिकांश में उस युद्ध से पैदा हुई थीं, दूर करने की ओर अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए बाध्य हो गए।

स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना इससे भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में पैदा हुई। वहां आठवीं शताब्दी में मुसलमान मूरों ने देश के अधिकांश को अपने अधीन कर लिया था। विधर्मियों को निकालने के लिए आपसी एकता स्थापित करने का भार उत्तर में बचे हुए छोटे-छोटे ईसाई समुदायों पर पड़ा। चौदहवीं शताब्दी तक इस प्रायद्वीप में पश्चिम में पुर्तगाल और दक्षिणी-पूर्वी कोने में अवशिष्ट मूर प्रदेश (ग्रेनेडा) को छोड़कर केवल दो बड़े राज्य रह गए थे। वे एरागान और कैस्टिल थे। इन दोनों में सभाएं (cortes) होती थीं जिनमें पादरियों और सामन्तों के अतिरिक्त ग्राम्य और शहरी क्षेत्रों के प्रतिनिधि भी होते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में ये दोनों राज्य विवाह-बंधन में बंधकर एक हो गए जिसके फलस्वरूप स्पेन राज्य का जन्म हुआ।

दूसरी ओर, जर्मनी और इटली में, जहां पवित्र रोमन राज्य की धारणा कहीं अधिक व्यापक रूप में मान्य थी, उपर्युक्त तीन पश्चिमी राज्यों के मुकाबले में कहीं अधिक दिनों तक सामंतीय अराजकता जारी रही। इसके अतिरिक्त यह अराजकता पोपसत्ता और साम्राज्यसत्ता के निरंतर संघर्ष से और भी जटिल हो गई, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से और भी तीव्र हो गया। अभिषेक विवाद (Investiture Controversy) (सन् १०५६-११२५) से पैदा हुई दुर्गति और सीजर-समर्थकों तथा सीजर-विरोधियों, पोप-समर्थकों और पोप-विरोधियों के विपक्षी दावों से उत्पन्न फूट के फलस्वरूप ये दोनों महान् मध्यकालीन संस्थाएं तेरहवीं शताब्दी के अंत तक इतनी दुर्बल हो गई कि वे अपनी पिछली

शक्ति को फिर कभी प्राप्त नहीं कर सकीं। पारस्परिक संघर्ष के इस लम्बे युग में सांविधानिक महत्त्व की केवल एक ही बात उत्पन्न हुई—अर्थात् वह प्रयोग जो **'परिषदीय आंदलन'** (Conciliar Movement) कहलाता है। यह उस महान् फूट-काण्ड (सन् १३७८-१४१७) के बाद हुआ, जिसने पाश्चात्य यूरोप को अलग-अलग पोपों के अधीन दो धार्मिक समुदायों में विभाजित कर दिया। चूंकि कोई द्वितीय शार्लमेन उत्पन्न नही हुआ जो कि इस अशोभनीय कलह को बलपूर्वक समाप्त कर देता, इसलिए इस अराजकता से बचने के लिए चर्च के शासन के लिए एक पूर्ववर्त्ती संस्था अर्थात् सामान्य परिषद् (जनरल कौन्सिल) के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया ताकि पोप को इस परिषद् के समक्ष झुकने के लिए बाध्य किया जा सके। इस सिलसिले में पिसा की परिषद् (सन् १४०९) के पश्चात् कौंस्टेंस की परिषद् (सन् १४१४-१८) हुई, जिसमें चर्च के पादरियों और सामान्य लोगों—दोनों—के प्रतिनिधि पहुंचे और जिसने पोप पर स्थायी परिषदीय नियंत्रण का सिद्धान्त स्थापित किया। किन्तु उसने जो संविधान बनाया वह अगली परिषद्—बेसल की परिषद् (सन् १४३१-४९)—में क्रियान्वित न हो सका और उस समय से चर्च के शासन की एक पद्धति के रूप में परिषदीय प्रणाली का लोप हो गया।

यद्यपि परिषदीय आंदोलन स्वयं असफल रहा, फिर भी संविधानवाद के इतिहास में दो तरह से उसका काफी महत्त्व है। पहला यह कि इन परिषदों के संगठन तथा उनकी कार्यप्रणाली ने यूरोप के उन राष्ट्रीय विभागों को स्वीकृत करा लिया जिनमें यूरोप उस समय विभाजित होने लगा था। कांस्टेन्स में, जहां राष्ट्रों द्वारा मत देने की प्रणाली स्वीकार की गई, वास्तव में ऐसे पांच समूह—अर्थात् इटालियन, फ्रेंच, जर्मन, आंग्ल और स्पेनिश—मान्य किए गए। इस प्रकार जहा एक ओर सर्वदेशीय सभा बुलाने के लिए मध्यकालीन एकता की भावना पर्याप्तरूपेण सजग थी, वहां दूसरी ओर उसे कार्यरूप में परिणत करने में महत्त्व उस शक्ति को मिला जो उसे नष्ट कर रही थी। दूसरे, परिषदीय आंदोलन के फलस्वरूप इस बात पर काफी विचारविमर्श आरम्भ हुआ कि महापरिषद् को चर्च के धर्माधिकारियों से भिन्न समस्त धर्मानुयायियों के विचारों का प्रतिनिधित्व करने के योग्य बनाने के लिए कौन-सा साधन अपनाया जाए। इस प्रकार चर्च के शासन के निमित्त एक प्रभावपूर्ण संगठन की स्थापना के साधनों की खोज के प्रयत्नों से पन्द्रहवीं शताब्दी में पाडुआ के मार्सीलियो, ओकम के विलियम, जॉन गेरसन आदि के लेखों के रूप में एक बृहत् राजनीति-दर्शन की उत्पत्ति हुई जिसमें प्रभुत्व, राष्ट्रवाद, प्रतिनिधित्व और एकतंत्र के परिसीमन जैसी राजनीतिक समस्याओं का प्रारम्भिक रूप में विवेचन हुआ और इस प्रकार आधनिक युग के सांविधानिक विकास का पूर्वाभास प्राप्त हुआ।

इस प्रकार मध्ययुग के अंत में हम समस्त पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक चिंतन का बड़ा जोर देखते हैं, जिसका कारण कैथोलिक चर्च की बुराइयां हैं और जिसका उद्देश्य

उस चर्च को एक नया संविधान देना है। परंतु जहां इस क्षेत्र में वह चिंतन कोरे सिद्धान्त और असफल प्रयोग से आगे न बढ़ सका वहां तीन सुदूर पश्चिमी देशों, अर्थात् ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन, की आंतरिक राजनीति में इस समय आधुनिक सांविधानिक राज्य का वास्तविक बीजारोपण हो गया, क्योंकि इन राज्यों में व्यावहारिक राजनीति वैध सिद्धान्तों से कहीं आगे बढ़ चुकी थी और पवित्र रोमन साम्राज्य का भूत सदा के लिए गाड़ दिया गया था। जर्मनी और इटली पर वह कई वर्षों तक सवार रहा।

५. पुनरुत्थानकालीन राज्य

मध्यकालीन संस्थाओं के विघटन की जिस प्रक्रिया का हम अभी तक वर्णन करते रहे हैं उसे पन्द्रहवीं शताब्दी में प्राचीन संस्कृति के उस महान् पुनरुद्धार से प्रबल प्रेरणा मिली जिसे उसके सब परिणामों को ध्यान में रखते हुए **रिनेसां** (पुनरुत्थान) कहा जाता है; क्योंकि उस युग के विचारकों को प्राचीन यूनानी लेखकों की कृतियों में जो राजनीतिक तथ्य और विचार मिले वे मध्यकाल की मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे और ये मान्यताएं वास्तविक परिस्थितियों में स्वयं भी अप्रतिष्ठित होने लगी थीं। इस सबका सामान्य परिणाम एक साथ ही विघटन और संघटन का समारम्भ हुआ। इससे मध्यकालीन व्यवस्था का विघटन, किंतु पृथक्-पृथक् राज्यों के संघटन का आरम्भ हुआ। ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन में राज्यों का राष्ट्रीय आधार पर और भी सुचारु रूप से संगठन हुआ। जर्मनी और इटली में भी ऐसी बात हुई, किन्तु वहां यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत संकीर्ण प्रदेशों तक सीमित रही, जिसके फलस्वरूप इन देशों में अनेक छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गए। किन्तु यह सब होते हुए भी पुनरुत्थान से अनेक अर्थों में वह अच्छा कार्य समाप्त हो गया जो कि तीनों पाश्चात्य राज्यों में चल रहा था।

पुनरुत्थानकालीन राज्य के लोकतंत्रात्मक राज्य होने की बात दूर रही वह सच्चे अर्थों में सांविधानिक राज्य भी नहीं था। उसकी सारभूत विशेषता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बाह्य प्रभुता थी जिसका आशय था एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता, जो अपना अस्तित्व हर सम्भव उपाय से बनाए रखती थी, जिसका मुख्य उद्देश्य राज्य को उसके समस्त पड़ोसियों के विरुद्ध शक्तिशाली बनाना था। निश्चय ही पुनरुत्थान काल के राजनीतिज्ञ प्राचीन राजनीति-दर्शन की मूल भावना को समझ नहीं सके, क्योंकि जहां यूनानी स्वायत्तता की धारणा व्यक्ति के लिए अच्छा जीवन सुनिश्चित करने के एकमात्र साधन के रूप में की गई थी वहां पुनरुत्थान काल की प्रभुता का व्यक्ति के अधिकारों से तनिक भी सम्बन्ध नहीं था। संक्षेप में, पुनरुत्थानकालीन शासक कोरी राजनीति से मतलब रखते थे और नैतिकता से जरा भी नहीं, जब कि प्राचीन विश्व के दर्शन में इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसकी सचाई का प्रमाण इस युग के एकमात्र राजनीति-विशारद

मिकियाविली की कृतियां हैं जो स्वयं भी पुनरुत्थान काल की ही उपज है। चूंकि उस समय मिकियाविली का देश इटली पुनरुत्थानकालीन प्रभुत्वसम्पन्न राज्य में परिवर्तित नहीं हो पाया था, इसलिए उसका उद्देश्य यह अपील करना था कि कोई इटली के लिए वही काम कर दे जो कि पश्चिमी देशों के लिए किया गया था। सन् १५१३ में प्रकाशित उसकी पुस्तक **'प्रिन्स'** का यही विषय था, जिसमें उसने इस अर्थ में अपने देश के उद्धारक के उदय की इच्छा प्रकट की है। इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि वह 'अनैतिकता' के सिद्धांत को राज्य के संबंध में प्रयुक्त करते हुए एक नए दर्शन की रचना करके इस युग की विशेषता को स्पष्टतः प्रकट करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति किसी प्रकार के नैतिक विचारों से परिमित नही होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आज के संसार में, जहां प्रभुता ही सब कुछ है, राज्य की प्रभुता कमजोर पड़ जाएगी। मिकियाविली को इटली का उद्धारक नहीं मिला किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब अंत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में वह उद्धारक—कावूर—वास्तव में प्रकट हुआ तब उसने इटली के एकीकरण के आन्दोलन के संकट-काल में अपने स्वयं के आचरण के विषय में ये शब्द कहें: "हम देश के लिए जो कुछ कर रहे हैं, यदि वैसा ही अपने लिए करें तो हम बड़े नीच होंगे।"

सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार-आंदोलन का राजनीतिक प्रभाव पुनरुत्थानकालीन राज्य को ईश्वरीय आधार प्रदान करना था। ल्यूथर के धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण में, जैसा वह सर्वप्रथम सन् १५१७ में प्रकट हुआ, धार्मिक विचारों की पूर्ण सहिष्णुता निहित थी। उस समय के कैथोलिक संसार में, जो सशस्त्र था, यह बात संभव नहीं थी, जिससे रक्षा प्राप्त करने के निमित्त ल्यूथर ने एक राजनीतिक शासक का आसरा लिया। इसी प्रकार सेक्सनी के इलेक्टर ने राजकीय चर्च की स्थापना की। इस चर्च के लिए भी उतना ही अनन्य और असहिष्णु होना अनिवार्य था जितना पिछली व्यवस्था के लिए था जिसका स्थान कि उसने ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार पोपशाही पर ल्यूथर के सैद्धांतिक आक्रमण का राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि यूरोप का और भी अधिक विघटन हुआ और पुनरुत्थानकालीन प्रभु के विशेषाधिकारों के अन्तर्गत प्रजाजनों के धार्मिक आचार पर नियंत्रण भी हो गया। यह बात ब्रिटेन में बहुत ही स्पष्ट रूप में दिखाई देती है, जहां हेनरी अष्टम और एलिजाबेथ की धार्मिक सर्वोच्चता के बाद जेम्स प्रथम ने राज्य को चर्च से ऊपर स्थान दिया।

इस प्रकार पुनरुत्थानकालीन प्रभुता पनपी और उसने उस सांविधानिक बीज की फसल को विलम्बित कर दिया, जो मध्ययुग के अंत में पाश्चात्य यूरोप में बड़ी आशा से बोया गया था। यूरोप महाद्वीप में उसका विकास उस प्रकार के एकतंत्र के रूप में हुआ जिसे प्रबुद्ध निरंकुशवाद कहा गया है, जो लगभग सन् १६६० से १७८९ तक रहा। फ्रांस, प्रशा और आस्ट्रिया में निरंकुशवाद चरम अवस्था को प्राप्त हो गया। फ्रांस में पुनरुत्थान

के समय से स्टेट्स-जनरल (सामान्य सभा) के अधिवेशन कम होते गए और सन् १६१४ के पश्चात् तो सन् १७८९ की क्रांति तक उसका एक भी अधिवेशन नहीं हुआ। इस प्रकार के निरंकुशवाद की दो मुख्य विशेषताएं व्यावसायिक सेना और व्यावसायिक नौकरशाही थीं, जिनमें अधिकतर मध्यवर्ग या बुर्जुवा वर्ग के लोग लिये जाते थे। इस तरह, जब सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया आरंभ हुई तो एकता लानेवाला एकमात्र शक्ति-साधन राजा ही रह गया जिसने किसी प्रातिनिधिक सभा से कोई सहायता नहीं ली और इसलिए समुचित रूप से गठित राजनीतिक सभा के अवयव कार्य द्वारा सुदृढ़ होने के बजाय अनुपयोग के कारण कुंठित हो गए। यही कारण है कि महाद्वीप में संविधानवाद का पूर्ण विकास उन्नीसवीं शताब्दी तक विलंबित हो गया और अंत में जब उसकी प्रतिष्ठा हुई तो कई क्रांतियों के फलस्वरूप हुई। केवल इंगलैंड ही ऐसा देश था जहां पुनरुत्थानकालीन एकतंत्र को अनियंत्रित निरंकुशतंत्र नहीं बनने दिया गया। इसलिए, संविधानवाद के अबाध विकास का अध्ययन करने के लिए अब हमें ब्रिटेन के इतिहास पर दृष्टि डालनी चाहिए।

६. इंगलैंड में संविधानवाद

पुनरुत्थान काल में इंगलैंड को भी कुछ काल तक निरंकुशता का अनुभव करना पड़ा, किन्तु वहां की विशिष्ट परिस्थितियों ने उसे वहां शक्तिशाली और स्थायी नहीं होने दिया जैसा कि वह महाद्वीप में हो गया। इंगलैंड उस प्रकार के राज्य की, जिसे हमने पुनरुत्थान-कालीन राज्य कहा है, अस्थायी स्थापना से बच नहीं सका, क्योंकि मध्ययुगीन व्यवस्था के सर्व-व्यापी विघटन से उत्पन्न कठिनाइयों के अतिरिक्त उसकी स्वयं अपनी विशिष्ट कठिनाइयां भी थीं। फ्रांस के साथ होनेवाले उसके लम्बे संघर्ष से उसके साधनों को बड़ी क्षति पहुंची थी और इसके पश्चात् होनेवाले गृहयुद्ध (गुलाबों के युद्ध) ने विघटन का कार्य पूरा कर दिया। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रथम संसद् की बैठक, जिसमें जिलों (काउंटी) और नगरों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे, सन् १२६५ में हुई। सन् १२९५ से जो एडवर्ड प्रथम की 'आदर्श संसद्' का वर्ष था, संसद् की बैठकें अनियंत्रित रूप से होती रहीं जिनका मुख्य उद्देश्य राजा के लिए धन का अनुदान करना होता था। किन्तु चौदहवीं शताब्दी के अन्त में उसके अस्तित्व को एक नया आधार मिल गया। सन् १३९९ में रिचर्ड द्वितीय को राजगद्दी से उतार दिया गया और एडवर्ड तृतीय के वंश की एक छोटी शाखा लंकास्ट्रियन ने राजगद्दी पर बलात् अधिकार कर लिया। सच्चा रक्तसंबंधी दावा न होने के कारण हेनरी चतुर्थ और उसके उत्तराधिकारी अपन समर्थन के लिए संसद् पर निर्भर हो गए। किन्तु फ्रांस के विरुद्ध असफलता और हेनरी षष्ठ की, जो गुलाबों के युद्ध (वार ऑफ रोज़ेज़) के फलस्वरूप राज्यच्युत कर दिया गया था, अयोग्यता के कारण उसके बाद उनकी स्थिति और भी कमजोर हो गई। उसके बाद गद्दी पर बैठनेवाले एडवर्ड चतुर्थ को युद्ध जारी रखना पड़ा जिसका अन्त बॉसवर्थ की लड़ाई में हुआ, जिसमें सन् १४८५ में हेनरी ट्यूडर ने

एडवर्ड चतुर्थ के भाई रिचर्ड तृतीय को पराजित कर दिया। इसी अवसर पर उस राजतंत्र की स्थापना हुई जिसे प्रायः 'ट्यूडर निरंकुशतंत्र' कहा जाता है।

किन्तु इस पद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। ट्यूडर निरंकुशतंत्र में शासन के तीन उपकरण थे जिनमें केवल एक उपकरण ऐसा है जिसकी तुलना उस उच्च कोटि की प्रशिक्षित नौकरशाही से की जा सकती है, जो कि महाद्वीप के निरंकुश शासन की विशेषता बन गई थी। हमारा तात्पर्य परिषद् (कौंसिल) से है, जो कि कार्यपालिका विभाग में राजा का साधन बन गई थी। उसकी असाधारण शक्ति पर अन्य दो उपकरणों अर्थात् संसद् और शांति-न्यायाधीशों (Justices of the Peace) के अस्तित्व से रोक लगती थी। यह सच है कि परिषद् की सहायता से तैयार की हुई राजा की योजनाओं को संसद् सामान्यतया किसी प्रकार की आपत्ति के बिना स्वीकार कर लेती थी, किन्तु महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उसकी बैठकें निरन्तर होती रहीं और वह विधि एवं कर संबंधी सब प्रस्तावों की स्वीकृति देती रही। इसमें संदेह नहीं कि ट्यूडर काल की संसद् अधिकतर आज्ञाकारिणी थी, किन्तु इसका कारण यह था कि ट्यूडर वंश के पांच राजाओं में से कम-से-कम तीन राष्ट्र की इच्छा को व्यक्त करते थे। अन्त में जब राजा उस इच्छा के प्रतीक नहीं रहे तब संसद् ने, जिसके समस्त साधन तैयार थे, विद्रोह कर दिया। शांति-न्यायाधीश केन्द्रीय सरकार की नीति को कार्यान्वित करनेवाले स्थानीय प्रशासक थे, परन्तु वे महाद्वीप में केन्द्रीय सत्ता के वेतनभोगी पेशेवर एजेंटों के समान स्थानीय प्रशासक नहीं बल्कि जमींदार समाज से लिए गए अवैतनिक कर्मचारी थे।

ब्रिटेन अपनी द्वीपीय स्थिति के कारण विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सशस्त्र रक्षा की निरन्तर आवश्यकता से मुक्त और महाद्वीपीय निरंकुशतंत्र को बल प्रदान करनेवाली शक्तियों से अलग था। इसी स्थिति के कारण वहां राजा की निरंकुशता का स्थानीय और केन्द्रीय स्व-शासन के मूलबद्ध सिद्धांत के साथ मेल बिठाया जा सका। राज्य के पृथक्त्व ने राष्ट्रीयता की भावना को भी बल दिया और टयूडर काल की दो बड़ी घटनाओं से उसकी अभिवृद्धि हुई। इनमें पहली घटना धर्मसुधार आन्दोलन था, जिसने चर्च का आधिपत्य पोप से ब्रिटेन के राजा को हस्तान्तरित कर दिया और इस प्रकार उसे पोपशाही के हस्तक्षेप से पूरी तरह बचा लिया। दूसरी बड़ी घटना स्पेन के जंगी बेड़े (आर्मेडा) की पराजय थी। ब्रिटेन की इस विजय ने उस भय के भूत को सदा के लिए भगा दिया जो सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्पेन के एक साम्राज्यिक शक्ति के रूप में प्रकट होने के दिन से अंगरेजों पर सवार था। जंगी बेड़े की पराजय ने संसद् को उस अधीनता की स्थिति से तुरंत ही मुक्त कर दिया जिसने कि उच्च नीति के विषयों पर उसका मुंह बिलकुल बंद कर रखा था और जब सन् १६०३ में स्टुअर्ट वंश का जेम्स प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ तो उस लम्बे संघर्ष का श्रीगणेश हुआ जो तब तक समाप्त नहीं हुआ जब तक कि संसद् ने राज-मुकुट (Crown) अर्थात् राजा पर पूरी विजय प्राप्त न कर ली।

जेम्स प्रथम के शासन में जो एक विवाद मात्र था, उसने उसके पुत्र के समय में सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर लिया। महाद्वीप में जिस प्रकार का प्रबुद्ध निरंकुशतंत्र तेजी से बढ़ता जा रहा था, ब्रिटेन के गृहयुद्ध (सन् १६४२-४९) न वहां उसकी स्थापना की संभावना बिल्कुल ही समाप्त कर दी और यद्यपि कॉमनवेल्थ काल के पश्चात् और पुनःस्थापन के साथ ही चार्ल्स द्वितीय और जेम्स द्वितीय के अधीन स्टुअर्ट निरंकुशता ने फिर से सिर उठाने का प्रयत्न किया किन्तु सन् १६८८-८९ की क्रांति ने उसे इतनी बुरी तरह कुचल दिया कि जॉर्ज तृतीय उसकी पुनरावृत्ति के विफल प्रयासों से स्वयं विक्षिप्त हो गया। इस परिवर्तन की हम बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे। यहां पर सन् १६८८ की क्रांति से संबद्ध दो मुख्य बातों पर ही जोर देना आवश्यक है। उनमें पहली बात यह है कि काम-काज का नियंत्रण वास्तविक रूप में राजा से संसद् के हाथों में चला गया। दूसरी बात यह है कि इस परिवर्तन को वैध आधार प्राप्त हो गया। इसके पूर्व संविधान की कोई विधि नहीं थी; वह केवल रूढ़ियों और रिवाजों पर आधारित था, क्योंकि मेग्नाकार्टा को विधि कहना ठीक नहीं होगा और उसके अधिकांश उपबंध उसे उत्पन्न करनेवाले सामंत युग के गुजर जाने के साथ ही अप्रचलित हो गए थे, हालांकि लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) पूर्वदृष्टांत के रूप में उसका हवाला देती रहती थी। सन् १६२८ के अधिकार-याचना-पत्र (पिटीशन ऑफ राइट्स) ने, राजा की सहमति प्राप्त हो जाने पर, सचमुच ही विधि का रूप धारण कर लिया, किंतु उसके उपबंधों का पालन नहीं किया गया और राज-पद के परिसीमन का सारा प्रश्न प्यूरिटन क्रांति की उथल-पुथल में विलुप्त हो गया। कॉमनवेल्थ और प्रोटेक्टोरेट के समय में पूर्णरूपेण लिखित संविधान प्रस्तुत किए गए, किंतु वे पुनःस्थापन के साथ लुप्त हो गए। पुनःस्थापन से संबंधित कुछ वित्तीय उपबंधों को सांविधिक बल प्राप्त था, किंतु फिर भी वे सामान्य क्रांतिकारी व्यवस्थापन के अन्तर्गत थे।

सन् १६८८-८९ की क्रांति के समय पारित विभिन्न संविधियों ने ब्रिटिश राज्य की प्रभुता को अपरिवर्तनीय रूप से संसद् के हाथों में सौंप दिया, क्योंकि अधिकार विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) और सैनिक-विद्रोह अधिनियम से सेना का नियंत्रण संसद् को प्राप्त हो गया, और, सेना के पोषण के लिए धन के वार्षिक अनुदान की सरल रीति से, यह नियंत्रण निरंकुशता के निवारण के लिए प्रभावकारी सिद्ध हुआ। किन्तु यह एक प्रकार का विधानसंबंधी साधारण पर्यवेक्षण मात्र था; संसद् कार्यपालनसंबंधी कृत्यों को राजा और उसके मंत्रियों के हाथों में छोड़कर संतुष्ट हो गई। किंतु अठारहवीं शताब्दी के दौरान में केवल रिवाजों के विकास के फलस्वरूप दलीय (पार्टी) प्रणाली पर आधारित मंत्रिमंडलीय (केबिनेट) व्यवस्था का आविर्भाव हुआ, और उस शताब्दी के अंत तक यह व्यवस्था इतनी दृढतापूर्वक जम गई कि कार्यपालिका का नियंत्रण भी संसद् की शक्तियों में सम्मिलित हो गया।

इसी बीच, राज्य के वैधानिक इतिहास में **'विधि के शासन'** (रूल ऑफ लॉ) का सिद्धान्त स्थापित हो गया था, जिसका यह अर्थ है कि विधि के समक्ष सभी नागरिक बराबर है, चाहे वे किसी भी श्रेणी के हों। बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) (सन् १६७९) जैसी संविधियों ने एक ओर नागरिक को मिथ्या कारावास से और दूसरी ओर न्यायाधीश को राजा के हस्तक्षेप से मुक्ति प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त, जॉन विल्क्स (John Wilkes) (सन् १७६३) के जैसे मुकदमों के संबंध में किए गए न्यायिक निर्णयों से नागरिक को दोषपूर्ण गिरफ्तारी से सुरक्षा प्राप्त होने के साथ ही साथ राजा के मंत्री भी विधि की साधारण प्रक्रिया के अधीन हो गए। यह विधि का शासन ब्रिटेन के समस्त उपनिवेशों में भी प्रचलित कर दिया गया। इसी कारण ब्रिटेन के सभी स्व-शासित उपनिवेशों और अमरीका के संयुक्तराज्य में आज विधिव्यवस्था का मूल आधार यही सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ब्रिटेन एक सांविधानिक राज्य बन गया था, हालांकि वह लोकतंत्रात्मक नहीं था। रिवाजों के विकास से और कई संविधियों के फलस्वरूप उसके शासन के तीन विभाग—विधानमंडल, कार्यपालिका, और न्यायपालिका—समुचित रूप से गठित और ऐसी रीति में संबंधित हो गए कि निरंकुशता की संभावना ही नहीं रही। इस व्यवस्था के मूल में प्रतिनिधित्व का सिद्धांत दृढ़ता से विद्यमान था, किंतु मताधिकार के विस्तार की धारणाएं अभी व्यावहारिक राजनीति के रूप में मान्य नहीं हुई थीं। इसके लिए ब्रिटेन को फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रांतियों के संयुक्त परिणामों की प्रतीक्षा करनी पड़ी जिनकी कि हम बाद में चर्चा करेंगे। किंतु यह निर्विवाद है कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में समस्त संसार में केवल ब्रिटेन ही एक सांविधानिक राज्य था। इतने विस्तार के साथ उसके इतिहास का वर्णन करने का औचित्य यही है क्योंकि जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, "अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के होने से पहले ब्रिटिश व्यवस्था का (ब्रिटेन में तथा उसके अधीनस्थ गोरे प्रदेशों में) इतिहास वास्तव में विश्व में स्व-शासन का इतिहास है।" अतः, यह बात अनिवार्य थी कि यह व्यवस्था अन्य राज्यों के परवर्त्ती सांविधानिक विकास के लिए आदर्श बन जाए।

ब्रिटिश संविधान का विकास धीमा और रीति-रिवाजों से हुआ था। वह किसी सिद्धान्त के फलस्वरूप जान-बूझकर रच गए उन अन्य संविधानों की तरह नहीं था, जिनका हम अध्ययन करेंगे। यद्यपि उसका विकास किसी सिद्धान्त अथवा सिद्धांतों का परिणाम नहीं था, फिर भी वह उस राजनीतिक चिंतन का आरंभ-विंदु बन गया जो कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों की विशेषता थी। यदि एकमात्र विद्यमान सांविधानिक राज्य ब्रिटन ही था और यदि लोग महाद्वीप में जमे हुए निरंकुशतंत्र को विफल करने के साधनों की खोज कर रहे थे तो यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने युग के इस अनुपम यंत्र की जांच और उसके विश्लेषण का प्रयास करें। किन्तु उस यंत्र का निर्माण विकासशील तरीके से हुआ था और प्रश्न यह उठा कि उसका प्रयोग उन क्रांतिकारी परिस्थितियों में किस प्रकार

किया जाए, जिन परिस्थितियों में ही अब परिवर्तन संभव प्रतीत होता था। इस प्रश्न का उत्तर ही वह कुंजी है जिससे ब्रिटिश संविधान और उन संविधानों के बीच का मूल अंतर समझा जा सकता है, जो कि उसकी नकल मात्र ही हो सकते थे। नया संविधानवाद, जिसके आविर्भाव का हम अध्ययन करेंगे, एक दस्तावेज के रूप में था, जिसमें कई शताब्दियों के विकास से अपने संविधान का निर्माण करनेवाले राज्य के अनुभव के परिणामों को एकदम ही संगृहीत करने का प्रयत्न किया गया। इस अर्थ में पाश्चात्य संविधानवाद के विभिन्न स्वरूपों का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ जिसमें पुराने ने नए को प्रभावित किया और नए से पुराना प्रभावित हुआ। परंतु, चूंकि ब्रिटिश संविधान का इतना विकास हो चुका था, अतएव मुख्य रूप से इसी कारण वह अपने-आपको नई अवस्थाओं के अनुकूल बना सका, और विद्यमान संविधान को मूल रूप में परिवर्तित किए बिना ही उसमें उन नए तत्त्वों का समावेश कर सका जो परवर्ती दस्तावेजी संविधानों द्वारा पैदा किए गए थे।

७. अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों का सांविधानिक प्रभाव

पुनरुत्थान द्वारा पैदा की गई राजनीतिक निरंकुशता ने और धार्मिक असहिष्णुता के दृढ़ाग्रह ने, जिसे दूर करने के लिए धर्मसुधार-आंदोलन ने कुछ भी नहीं किया, राज्य की उत्पत्ति के संबंध में एक ऐसी व्याख्या को जन्म दिया जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्रभावशाली बनी रही। इसे साधारणतया सामाजिक संविदा का सिद्धांत कहा जाता है। आधुनिक काल में इसका प्रथम प्रतिपादन फ्रांस में ह्यूजेनो लोगों (Huguenots) ने और स्पेन के अत्याचारों से पीड़ित नीदरलैंड के निवासियों ने किया, क्योंकि राजनीतिक निरंकुशता और धार्मिक असहिष्णुता के कुप्रभाव से सबसे अधिक वे ही दुःखी थे। किंतु यह कोई नया सिद्धान्त नहीं था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' में इसका प्रतिपादन किया गया है और मध्ययुग में सम्राट् और पोप के संघर्षों के दौरान में यह सिद्धान्त फिर सामने आता है। संक्षेप में, सामाजिक संविदा का सिद्धान्त यह है कि राज्य की उत्पत्ति असहनीय प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से एकत्रित जन-समूह के बीच एक समझौते के परिणामस्वरूप हुई। इस समझौते से लोग अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर देते हैं, किंतु केवल उन्हीं अधिकारों का जो सभ्य सामाजिक अवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक होते हैं। अतएव, राजनीतिक समाज का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि नागरिकों के वे अधिकार जिनका उपर्युक्त रीति से परित्याग नहीं किया गया है, निरन्तर बने रहें। यदि शासन की स्थापना का आधार संविदा है तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब शासन निरंकुश हो जाता है तब वह संविदा को भंग करता है और इसलिए राज्य के सदस्यों को ऐसे शासन को हटा देने का अधिकार है। ह्यूजेनो लोगों और नीदरलैंड के निवासियों की तरह के जो लोग निरंकुशतंत्र के उन्मूलन को न्यायसंगत प्रमाणित करना चाहते थे

उनके लिए इससे अधिक उपयुक्त सिद्धान्त और कौन-सा हो सकता था जिसके द्वारा कि अन्ततः उनको विद्रोह का अंतिम अधिकार प्राप्त होता था।

इस सिद्धान्त के अनेक समर्थकों के द्वारा इसमें बहुत-से परिवर्तन हुए। यह सच है कि उसके सर्वप्रथम और सर्वाधिक विख्यात व्याख्याकारों में से एक अंगरेज व्याख्याकार **टॉमस हॉब्स** ने अपने ग्रंथ **लेवियेथन** (सन् १६५१) में इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की निरंकुशता को इस आधार पर न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि संविदा के अनुसार प्रतिष्ठित शासन संविदा का एक पक्ष नही था, अर्थात् संविदा उसके साथ नहीं हुई थी, अतएव वह उसको भंग नहीं कर सकता था। किंतु जहां इस सिद्धान्त के अधिकतर समर्थक अत्याचारी शासक की हत्या को न्यायोचित ठहराने का प्रयास कर रहे थे वहां ब्रिटेन के गृहयुद्ध (सन् १६४२-४९) की दुर्व्यवस्थाओं के तुरन्त पश्चात् लिखनेवाला हॉब्स असल में अराजकता से बचने के लिए दार्शनिक आधार की खोज कर रहा था। दूसरे अंगरेज विचारक **जॉन लॉक** ने, जिसका अठारहवीं शताब्दी में महाद्वीप की विचारधारा पर बड़ा गहरा प्रभाव रहा, इस सिद्धान्त को अपने ग्रन्थ **ट्रीटिज़ेज़ ऑफ सिविल गवर्नमेंट** (सन् १६९०) में ब्रिटेन की सन् १६८८-८९ की क्रांति को न्यायोचित सिद्ध करने में प्रयुक्त किया। यह ग्रन्थ उदारवादियों (ह्विगों) का घोषणापत्र था जिसमें जेम्स द्वितीय को राजगद्दी से उतारने और अधिकार विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) को पारित करनेवाले दल के पक्ष का समर्थन किया गया था। लॉक के विचार में संविदा प्रजा और राजा के बीच की गई थी और इसका उद्देश्य मनुष्य के अधिकारों की, जिस रूप में वे राजनीतिक अवस्था की स्थापना से पूर्व विद्यमान थे, व्याख्या तथा उन्हें क्रियान्वित करने के निमित्त एक सामान्य यंत्र स्थापित करना था। इस सामान्य सिद्धान्त को लॉक ने सन् १६८८ की विशिष्ट परिस्थितियों पर आसानी से लागू कर लिया। वास्तविकता तो यह है कि जेम्स द्वितीय को राजगद्दी से हटानेवाले सन् १६८९ के सम्मेलन के प्रस्ताव में यह सिद्धान्त पहले से ही समाविष्ट कर लिया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि राजा ने "राजा और प्रजा के बीच में हुई मूल संविदा को भंग करते हुए राज्य के संविधान को नष्ट करने का प्रयत्न करने के कारण शासन के अधिकार को त्याग दिया है और इसके फलस्वरूप राजगद्दी खाली है · · ·।" इस प्रकार जब तीन वर्ष के कुशासन के पश्चात् जेम्स द्वितीय पदच्युत किया गया तब यह मान लिया गया कि विलियम ऑफ ऑरेंज और मेरी को ब्रिटेन के राजसिंहासन पर बिठाने के लिए एक नई संविदा की गई। ह्विग लोगों ने स्टुअर्ट वंश के राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का इस भांति उत्तर दिया।

किन्तु जहां एक ओर हॉब्स ने संविदा के एक पक्ष को पूर्णरूपेण समाप्त करने की सुविधाजनक किन्तु तर्कहीन पद्धति द्वारा—अर्थात् निरंकुशता के सिद्धात को प्रमाणित करने के निमित्त सब-कुछ बलिदान करके—स्वतंत्रता ओर सत्ता में मेल करा दिया, वहां दूसरी ओर लॉक ने प्रभुत्व की कठिन समस्या को उसकी उपेक्षा करके टाल दिया।

यदि क्रांति न्यायोचित हो तो उसके निष्पादन के लिए उचित अवसर का निश्चय करनेवाली सत्ता कौन है ?—लॉक ने इस आधारभूत प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया, किंतु पृष्ठभूमि में शक्ति के वरिष्ठ प्रतीक के रूप में **'जनता'** की अस्पष्ट कल्पना से अपने-आपको संतुष्ट कर लिया। तिस पर भी यह मानना बेकार होगा कि वह क्रांति जिसने जेम्स द्वितीय को पदच्युत करके विलियम और मेरी को राजसिंहासन पर बिठाया, जनता ने की थी। वह तो वास्तव में ह्विग लोगों के कुछ नेताओं का काम था जिनका जेम्स द्वितीय के प्रति विरोध अधिकार विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) के रूप में प्रकट हुआ, जो एक ऐसी नितांत प्रतिनिधित्वहीन संसद् द्वारा पारित किया गया था जिसके गठन में, सन् १२९५ में उसकी स्थापना के बाद से, कोई भी ठोस सुधार नहीं हुआ था। प्रभुता और लोकतंत्र में मेल बिठाने की कठिन समस्या को हल करने का प्रयत्न अंत में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक **रूसो** ने किया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **सोशल कंट्राक्ट** (सन् १७६२) में रूसो ने लॉक के सिद्धान्त का हॉब्स की पद्धति से विकास करते हुए लोकतंत्र के पक्ष का तर्कपूर्ण ही नहीं, अपितु अखंडनीय समर्थन प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया। रूसो ने कहा कि यदि मनुष्य स्वतंत्रता के निमित्त पैदा होते हुए भी सर्वत्र बंधन में है तो ऐसी दासता को वैध रूप देने का एकमात्र साधन यह है कि प्रभुता उन लोगों के हाथों में ही रहनी चाहिए जिन्होंने व्यक्तियों के एक समूह को समाज का रूप देनेवाली संविदा की थी। संविदा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति ने अपने-आपको सबके प्रति सर्मपित करते हुए किसी एक के प्रति सर्मपित नहीं किया और इसलिए उससे समानता उपलब्ध हुई। लोकप्रभुता के इस सिद्धान्त ने, जिस रूप में रूसो ने इसका प्रतिपादन किया, उन शक्तियों के लिए दुन्दुभी का कार्य किया जिन्होंने अंत में यूरोप में पुरानी व्यवस्था को उलट दिया, क्योंकि रूसो के विचारों के सर्वमान्य हो जाने पर प्रबुद्ध निरंकुशतंत्र के लिए उसके मुकाबले में प्रभावकारी बना रहना सम्भव नहीं हो सकता था।

रूसो का **'सोशल कंट्राक्ट'** कदाचित् सबसे महान् युगांतरकारी ग्रन्थ था। स्वयं उसमें तो कोई ऐसी बात नहीं थी, परन्तु परवर्त्ती संविधान-निर्माण-कार्य पर जो प्रभाव उसका पडा उसे देखते हुए वह वास्तव में एक युगान्तरकारी ग्रन्थ था। रूसो ने सामान्य मत (General will) के अपने सिद्धान्त के आधार पर लोकतंत्र को दार्शनिक औचित्य प्रदान करने के उन्मत्त प्रयत्नों से अपने काम को तर्क के दलदल में फंसा लिया और राज्य के स्वीकार्य सिद्धांत के रूप में सामाजिक संविदा का सिद्धान्त अंत में रूसो के जर्मन उत्तराधिकारियों **कांट, फिशटे** और **हीगल** के आदर्शवादी दर्शन द्वारा पैदा किए गए धुन्ध मे विलुप्त हो गया। रूसो ने स्वयं प्रातिनिधिक लोकतंत्र की धारणा को अन्तर्विरोधी कहकर उसका उपहास किया और रूसो का आदर्श शासन प्रत्यक्ष या प्रारंभिक लोकतंत्र की प्राचीन धारणा पर आधारित होने के कारण उसके युग में बिलकुल अव्यवहार्य था। किंतु उसके शिष्य उतने हठधर्मी नहीं थे और यह बात सचाई के साथ कही जा सकती है कि रूसो के बाद विकसित होनेवाली प्रातिनिधिक

संस्थाओं में जाने-अनजाने अन्ततः उसके सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया है ।

रूसो की **'सोशल कंट्राक्ट'** वास्तव में उन दो महान् क्रांतियों की साहित्यिक भूमिका थी, जो अठारहवीं शताब्दी के अंत में अमरीका और फ्रांस में हुई । अमरीका की क्रांति स्वतंत्रता-युद्ध (सन् १७७५-८३) तक ही सीमित नहीं थी । उस क्रांति ने तेरह उपनिवेशों में से प्रत्येक में अनेक लोकतंत्रात्मक परिवर्तनों का और उन राज्य-संविधानों के आलेखन का रूप धारण किया जिनका कि सन् १७८१ में संकलन और प्रकाशन किया गया । इस संकलन का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद हुआ और उसने फ्रांस के क्रांतिकालीन संविधान-निर्माण पर काफी प्रभाव डाला । किंतु आधुनिक संविधानवाद के इतिहास पर स्वयं अमरीकी स्वतंत्रता-संग्राम तथा उसके परिणामों ने और भी मार्के का प्रभाव डाला । यह संग्राम ऐसी आर्थिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप हुआ था जिसे अमरीका के उपनिवेशवासी लोग अत्याचार-पूर्ण समझते थे । उनके **"प्रतिनिधित्व नहीं तो कराधान भी नहीं"** नारे में अन्ततः मातृभूमि के विरुद्ध विद्रोह की भावना उपलक्षित थी, क्योंकि फ्रांसीसियों के विरुद्ध उपनिवेशों की रक्षा में लड़े गए सप्त-वर्षीय युद्ध (सन् १७५६-६३) के व्यय को पूरा करने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का कर आरोपित करना नितांत आवश्यक तो था किंतु वेस्टमिंस्टर की संसद् में अमरीकी उपनिवेशों का प्रतिनिधित्व उस समय स्पष्टतः असम्भव था । इसलिए अमरीकी स्वतन्त्रता का संग्राम छिड़ गया, जिसके फलस्वरूप अंत में 'अमरीका के संयुक्त-राज्य' नाम से ज्ञात एक नए राज्य की स्थापना हुई जिसका आधार सन् १७८७ में प्रख्यापित संविधान था जो सन् १७८९ में प्रवर्त्तित हुआ।

यह संविधान 'स्वतन्त्रता की घोषणा' से आरम्भ होता है, जो सन् १७७६ में पहली बार पृथक् रूप से जारी की गई थी । इसमें स्पष्टतः कहा गया है "कि सब मनुष्य जन्म से समान उत्पन्न होते हैं; कि उनके स्रष्टा ने उनको कतिपय अविच्छेद्य अधिकारों से विभूषित किया है . . . कि इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए मनुष्यों में शासन स्थापित किए जाते हैं जिनको अपनी न्यायोचित शक्तियां शासितों की सम्मति से प्राप्त होती हैं; कि जब कभी कोई शासन इन उद्देश्यों को नष्ट करने लगता है तब जनता का यह अधिकार हो जाता है कि वह उसे परिवर्तित या समाप्त कर दे और एक नया शासन स्थापित करे जिसकी नींव ऐसे सिद्धांतों पर आधारित हो और जिसकी शक्तियां ऐसे रूप में संगठित हों जिनसे उन्हें अपनी सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित करने की सर्वाधिक संभावना जान पड़े ।"

आधुनिक दस्तावेजी संविधानवाद का वास्तविक आरम्भ यही है । राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में सामाजिक संविदा का सिद्धान्त ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्भेदी प्रकाश में भले ही निराधार जान पड़े, किन्तु किसी भी प्रकार की शोध या युक्ति इस तथ्य को नष्ट नही कर सकती कि अमरीकियों ने सन् १७८९ में निश्चय ही एक नई राजनीतिक सत्ता की रचना की और उसके अधिकारों को एक दस्तावेज में अंकित कर दिया, जो

अमरीका के संयुक्तराज्य के संविधान के रूप में उस देश में आज भी सर्वोच्च सत्ता के रूप में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, उस नए राज्य को गठित करनेवाले विभिन्न समूहों को संतुष्ट करने योग्य राजनीतिक संगठन के स्वरूप के निर्माण-कार्य में अमरीकियों ने एक प्राचीन राजनीतिक पद्धति अर्थात् संघवाद को पुनर्जीवित किया जिसका कि परवर्त्ती राज-नीति पर अत्यधिक प्रभाव होना निश्चित था। इस विषय पर बाद के एक अध्याय में हमें बहुत-कुछ कहना होगा।

कदाचित् इस बात को निश्चयपूर्वक कहना संभव नहीं होगा कि अमरीकियों ने रूसो के प्रभाव का प्रत्यक्ष अनुभव किया। सम्भवत: यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि अमरीकी संविधान के निर्माता उसी भावना से प्रेरित हुए थे जिसने कि रूसो के राज-नीतिक दर्शन को प्रेरणा दी थी। किंतु फ्रांसीसी क्रांति के प्रारंभिक आंदोलनों का नेतृत्व करनेवालों को रूसो ने प्रत्यक्षरूपेण प्रभावित किया। घटनाओं के इस महान् चक्र के बारे में यहां पर इतना ही कहना आवश्यक है कि सन् १७८९ ई० में जब फ्रांस के दिवालिया शासन ने एस्टेट्स-जनरल को, जिसका सन् १६१४ से कोई अधिवेशन नहीं हुआ था, फिर से जीवित करने के उपाय का आसरा लिया तब उसने रूसो और उसके अनुयायियों के समस्त आदर्शवादी मतों को सभास्थल तक पहुंचा दिया और इस प्रकार राजनीतिक संविधान के प्रख्यापन के साथ उनका व्यावहारिक संयोग करा दिया। इस तरह सन् १७८९ की राष्ट्रीय सभा ने संविधान-निर्माण के अपने वास्तविक कार्य को आरंभ करने से पहले "मनुष्य के और नागरिक के अधिकारों की घोषणा" तैयार की। यह दस्तावेज राज्य की संविदात्मक उत्पत्ति के, लोकप्रभुत्व के और वैयक्तिक अधिकारों के मतों से परिपूर्ण था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट है :—

"मनुष्य जन्म से स्वतंत्र और अधिकारों में समान है . . ."

"प्रत्येक राजनीतिक संस्था का उद्देश्य मनुष्य के ऐसे अधिकारों का जो व्यावहारिक हैं और जिन्हें विधि छीन नहीं सकती, रक्षण है। ये अधिकार हैं स्वतंत्रता, संपत्ति, सुरक्षा एवं दमन का प्रतिकार . . ."

"स्वतंत्रता से कोई भी ऐसी बात करने की शक्ति अभिप्रेत है जो दूसरों को हानि नहीं पहुंचाती; इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के प्रयोग की सीमाएं केवल वे ही हैं जिनसे समाज के अन्य सदस्यों द्वारा वैसे अधिकारों का उपभोग सुनिश्चित होता है। ये सीमाएं विधि द्वारा निर्धारित की जा सकती हैं . . ."

"विधि सामान्य मत की अभिव्यक्ति है . . ."

"प्रभुत्व अनन्यरूपेण राष्ट्र में निवास करता है . . ."

"राष्ट्र को अपने संविधान को परिवर्तित करने का अधिकार है जिसे विधि छीन नहीं सकती।"

इसके पश्चात् सन् १७९१ में जो संविधान बना, और जिसमें यह घोषणा भूमिका के रूप में जोड़ी गई थी, वह स्थायी न रह सका, क्योंकि उसने जिस विधान सभा को जन्म दिया वह फ्रांस की भीतरी अराजकता और बाहरी युद्धावस्था से निपटने में असमर्थ रही। किंतु यह आधुनिक दस्तावेजी संविधानवाद के विकास में दूसरा बड़ा कदम था जैसे अमरीकी क्रांति पहला कदम था। यद्यपि फ्रांसीसी क्रांति के प्रारंभिक वर्षों के संविधानवाद को पहले आतंकराज की अराजकता को और तदुपरांत उसकी भस्म से उत्पन्न नेपोलियन के राज्य की निरंकुशता को स्थान देना पड़ा, फिर भी इस क्रांति ने राजनीतिक स्वतंत्रता की एक ज्योति जगा दी जो फिर कभी भी स्थायी रूप से बुझ नही सकी। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, "फ्रांस का स्व-शासन का आदर्श प्रत्येक संगठित सरकार के लिए जिसने जनता की प्रभुसत्ता को स्वीकार और समाविष्ट नहीं किया, एक चुनौती बन गया—जैसा कि वह अपने आंग्ल ही नहीं बल्कि अमरीकी रूप में भी नहीं बन सका था।"

८. राष्ट्रवाद और उदारवादी सुधार

यद्यपि बात उलटी और अंतर्विरोधी जान पड़ती है, किंतु इस संबंध में आगे का कार्य नेपोलियन के शासन और यूरोप में उसके परिणाम से हुआ। चूंकि लोकतंत्र के सिद्धांत का यूरोप में पर्याप्त सीमा तक समारंभ हो चुका था (और अपने सैनिकवाद के बावजूद नेपोलियन स्वयं इस क्रांतिकारी बीज का बोनेवाला था); अतः, संविधानवाद के प्रसार को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए केवल यही अपेक्षित था कि विभिन्न दलित समुदायों में, जिनको वह संबोधित किया गया था, चेतनता लानेवाली राष्ट्रीयता की भावना का पर्याप्त संचार हो। नेपोलियन के औचित्यहीन सीमा-निर्धारण के कार्यों ने, विशेषकर इटली और जर्मनी में, उस अपरिपक्व भावना को उभार दिया जिसका अस्तित्व तब तक मान्य नहीं हुआ जब तक कि वह क्रियाशील होने के लिए बाध्य नहीं हो गई। यूरोप के राज्यों का एक संयुक्त यूरोपीय राज्य बनाने के अपने प्रयत्नों में नेपोलियन को केवल यही सफलता मिली कि उसने उनको इस सीमा तक अलग-अलग कर दिया कि उसके कारण स्वयं उसका ही विनाश हो गया। पुनरुत्थान के संबंध में हमने जिस राष्ट्रवाद की चर्चा की थी वह एक अस्पष्ट और अधिकतर अचेतन विकास था। नेपोलियन की यूरोप-विजय की असफलता के पश्चात् का राष्ट्रवाद एक भयंकर ज्वाला थी, जिसने पहले तो स्वयं प्रज्वलनकर्त्ता को ही भस्म कर दिया और फिर तब तक भीतर ही भीतर सुलगती और समय-समय पर पुनः प्रज्वलित होती रही जब तक कि उसने पुरानी व्यवस्था के भवन के प्रत्यक अवशेष को भस्मीभूत नहीं कर लिया। लाइपज़िग के युद्ध को 'राष्ट्रों का युद्ध' कहना निरर्थक नहीं था, हालांकि सन् १८१४-१५ की संधियां करनेवाले राजवंशीय और अभिजातवर्गीय कूटनीतिज्ञ उस आंदोलन के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझ सके जिसने कि बोनापार्ट की महत्त्वाकांक्षाओं को निगल लिया था।

इन संधियों ने अधिकतर देशों में प्राचीन निरंकुशतंत्रों को पुनः स्थापित कर दिया, जिन्हें उलटने का क्रांति ने प्रयत्न किया था। इसके अतिरिक्त अधिकतर राज्यों की सीमाएं युद्ध से पूर्व जैसी थीं वैसी ही कर दी गई। जहां ऐसा नहीं किया गया था, वहां मनमाने तौर पर इधर-उधर के क्षेत्रों और जन-समूहों को पुराने राज्यक्षेत्रों से अलग करके नयों के अधीन रख दिया गया और इसमें क्रांति द्वारा फैलाए गए विचारों का नहीं वरन् विजेता के अधिकार या उसकी नीति अथवा शक्ति का ही ध्यान रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सांविधानिक राज्य का सार्वभौमिक आविर्भाव स्थगित हो गया, यद्यपि उसका पूर्ण परित्याग अब संभव नहीं था। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सुधारवादी गुप्त रूप से कार्य करने के लिए बाध्य हो गए और उनका उत्साह अब यदा-कदा विद्रोह के रूप में प्रकट होने लगा। इससे यह खराबी हुई कि राष्ट्रवाद और उदारवादी सुधार की समस्याएं भ्रांति में पड़ गईं, हालांकि इनमें मेल हो जाना चाहिए था। जो राजनीतिज्ञ यूरोप की शांति का भार वहन करनेवाले माने जाते थे उन्हें इस क्रांतिकारी भावना को जहां भी वह प्रकट हुई कुचलने की ही चिंता रहने लगी। किंतु समय के साथ-साथ उनकी शक्ति क्षीण होती गई और सन् १८३० में महाद्वीप के अधिकतर राज्यों में गंभीर क्रांति हो गई। सदा की तरह यह भी फ्रांस में आरम्भ हुई, जहां पुनः-स्थापित बूरबों वंश का तख्ता उलट दिया गया और लुई फिलिप्स के अधीन और भी अधिक सीमित राजतंत्र की प्रतिष्ठा हुई। किंतु उस समय सफल होनेवाला यह एकमात्र आंदोलन था। इसका एक अपवाद बेलजियम था जहां सांविधानिक एकतंत्र के अधीन एक नए स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। सन् १८४८ में क्रांतियों के एक दूसरे क्रम ने जो सन् १८३० से कहीं अधिक गंभीर था, यह बात फिर सिद्ध कर दी कि केवलमात्र उदारवादी आंदोलन, जो राष्ट्रीय एकता पर आधारित न हो, कितना दुर्बल होता है। उस समय प्रख्यापित संविधानों में से केवल फ्रांस, सार्डीनिया, नीदरलैंड्स, और स्विट्जरलैंड के संविधान ही उसके बाद होनेवाली प्रतिक्रिया से बचे रह सके। उनमें से पहला अर्थात् फ्रांस का संविधान सन् १८५२ में लुई नेपोलियन के अधीन द्वितीय साम्राज्य की स्थापना से शीघ्र ही समाप्त हो गया और दूसरा अर्थात् सार्डीनिया का संविधान शिथिलता से तब तक चलता रहा जब तक कि वह इटली में एकता के आंदोलन से संबद्ध नहीं हो गया।

अतएव, सन् १८४८ की असफलताओं के पश्चात् उदार सुधारवादियों की आकांक्षाओं का रुख नई दिशा की ओर हो गया। यह तो स्पष्ट ही हो गया था कि क्रांतिकारी मार्ग असफल रहा। किन्तु इसके साथ ही राजनीतिक समस्या के शांतिपूर्ण समाधान की दिशा में एक नया और बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व काम कर रहा था। यह तत्त्व उन व्यापक परिवर्तनों का परिणाम था जिन्हें हम 'औद्योगिक क्रांति' कहते हैं। यह क्रांति अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड में एक-के-बाद-एक यंत्रसम्बन्धी आविष्कारों से प्रारम्भ हुई, जिनके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रियाओं में शक्ति का प्रयोग होने

लगा। इसके विकास से कारखाना-प्रणाली तथा आधुनिक पूंजीवाद की नींव पड़ी और अंत में सामाजिक शक्तियां पूर्ण रूप से बदल गई और राजनीतिक संतुलन में आधारभूत परिवर्तन हो गया। जब यह आर्थिक क्रांति इंगलैंड में क्रियान्वित होनी प्रारम्भ हुई तो राजनीतिक स्थिति पर उसका गम्भीर प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो गया। इसने समाज में कृषि से सम्बद्ध वर्गों का भारी प्रभाव सदा के लिए समाप्त कर दिया और एक नए मध्यम वर्ग—पूंजीवादी वर्ग—को जन्म दिया, जो राजनीतिक मान्यता के लिए अपनी मांग पर वर्ष-प्रतिवर्ष अधिकाधिक आग्रह करने लगा।

इस वर्ग को सन् १८३२ के सुधार अधिनियम द्वारा मुक्ति प्रदान हुई। इस अधिनियम ने शताब्दियों से संचित बुराइयों को दूर किया। जिन क्षेत्रों का पुराना राजनीतिक महत्त्व समाप्त हो गया था, उनका प्रतिनिधित्व समाप्त करने के लिए संसद् में स्थानों का पुनर्वितरण किया गया और औद्योगिक परिवर्तनों से विकसित नए शहरी क्षेत्रों को संसद् में प्रतिनिधित्व दिया गया। ऐसा करने में इसने नए पूंजीवादियों को मताधिकार प्रदान किया। यद्यपि इससे लोकतंत्र की पूर्ण व्यवस्था का समारम्भ नहीं हुआ, किन्तु यह उस दिशा की ओर क्रांतिकारी प्रगति के विरुद्ध सांविधानिक प्रगति के सही मार्ग में उठाया गया पहला कदम था क्योंकि शासन की विद्यमान पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए बिना ही यह सुधार करना सम्भव हो सका। मध्यम वर्ग को मताधिकार प्रदान करने से वास्तव में मंत्रिमंडलीय प्रणाली अर्थात् संसद् द्वारा कार्यपालिका के नियंत्रण को बल मिला, जिसकी कि अठारहवीं शताब्दी के दौरान में पक्की नींव डाल दी गई थी। मंत्रिमंडलीय प्रणाली को सुदृढ़ बनाने का यह कार्य मध्यम वर्ग के मताधिकार के फलस्वरूप राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के सामंत-सदन (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) से हटकर लोक-सदन (हाउस ऑफ कॉमन्स) में पहुँच जाने से और दलों के, जिन पर वास्तविक मंत्रिमंडलीय प्रणाली का पोषण निर्भर होता है, एक नए विभाजन के अस्तित्व में आ जाने से हो सका।

औद्योगिक क्रांति से उद्भूत यह महान् आन्दोलन अनिवार्यतः महाद्वीप में फैल गया और अपने विस्तार के साथ-साथ यह ऐसे परिणामों को लाया जिनसे सांविधानिक मार्ग द्वारा परिवर्तन की प्रवृत्ति को बल प्राप्त हुआ, क्योंकि इससे विद्यमान शासनों और नए पूंजीवादियों में मेल हो गया जो कि सब बातों से अधिक शांति और व्यवस्था की कामना करते थे। इसके अतिरिक्त, इसकी प्रवृत्ति आर्थिक संरक्षण की नीति को प्रोत्साहित करके धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की विद्यमान भावना को तीव्र करने की ओर थी, क्योंकि जिन देशों में औद्योगीकरण नहीं हुआ था वे उन देशों का, जिनमें औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप अपना माल बहुत सस्ता बेचने की सामर्थ्य थी, मुकाबला तभी कर सकते थे जब कि वे आर्थिक संरक्षण की नीति पर चलकर औद्योगिक देशों के विरुद्ध कर की दीवार खड़ी करें, और इस प्रकार उन उद्योगों का पोषण करें जिनका वे अपने साधनों के कारण उत्पादान कर सकते थे।

किन्तु इन औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नगरों में वेतनभोगी मजदूरों के विशाल समुदाय उत्पन्न हो गए और अब वे भी राजनीतिक अधिकारों की मांग करने लगे। इंगलैंड में इसके परिणामस्वरूप पहले एक मजदूर आन्दोलन—**चार्टिज्म** (सन् १८३७-४८) का आरम्भ हुआ, जिसका उद्देश्य शासन पर और बातों के साथ-साथ मताधिकार-सम्बन्धी सुधार करने के लिए दबाव डालना था; और जब यह असफल रहा तो सन् १८६७ और १८८४-८५ के दो सुधार अधिनियम बने, जिनका सामान्य प्रभाव नगरों में किराएदारों तथा खेतिहर मजदूरों को मताधिकार देना था। किन्तु अधिकतर देशों में, शासनयंत्र ऐसे अधिकारों के प्रदान के निमित्त समायोजित हो सकें इसके पूर्व ही क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार होने लगा था, जिनका उद्देश्य विद्यमान शासनों को उलटना और एक नए प्रकार के समाज की स्थापना था। इनमें मुख्य सिद्धांत उस प्रकार का समाजवाद था जिससे कार्ल मार्क्स का नाम सम्बद्ध है और जिसके **'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो'** (सन् १८४८) और बाद के ग्रंथों में व्यक्त विचारों ने संसदीय संस्थाओं के सांविधानिक विकास पर ही नहीं, वरंच राष्ट्रीयता की समस्त धारणा पर भी कुठाराघात किया। अब प्रश्न यह था कि क्या राष्ट्रीय संविधानवाद इस क्रांतिकारी सिद्धांत के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करने के लिए पर्याप्त रूप में डटा रह सकता है? उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के इतिहास ने इस प्रश्न का आंशिक रूप में उत्तर दे दिया।

९. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय संविधानवाद

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध दस्तावेजी संविधानवाद का युग था। इंगलैंड और अमरीका के सिवाय किसी भी देश का विद्यमान संविधान उन्नीसवीं शताब्दी से पुराना नहीं है और उस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जो संविधान विद्यमान थे उनमें से अधिकतर तब से या तो लुप्त हो गए और उनके स्थान पर नए संविधान आ गए हैं या उनमें इतने मौलिक संशोधन एवं परिवर्तन कर दिए गए हैं कि वे वास्तव में नए हो गए हैं।

संविधानवाद की यह लहर इटली और जर्मनी के एकता आंदोलनों से उत्पन्न हुई। सन् १८७० के युद्ध के बाद फ्रांस में जिस गणतंत्रात्मक संविधान का प्रख्यापन हुआ उसकी जिम्मेदारी भी अधिकतर इन्हीं पर थी। इटली में सार्डीनिया का संविधान, जैसा कि हम बता चुके हैं, उन तीन संविधानों में था जो सन् १८४८ की दुर्घटना से बच सके थे। इटली अब भी सात राज्यों में विभाजित था, किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकी। सन् १८५९ से लेकर १८७० तक के दौरान में अनेक विद्रोहों और युद्धों के फलस्वरूप ये विभिन्न राज्य सार्डीनिया के साथ सम्मिलित हो गए। ज्यों-ज्यों प्रत्येक राज्य इस संयोग में सम्मिलित होता गया त्यों-त्यों सार्डीनिया का संविधान उसको लागू होता गया और इस प्रकार अंत में इटली राज्य स्थापित हुआ। इधर जर्मनी में सन् १८४८ की असफलता के पश्चात् पूर्वकालीन व्यवस्था पुनः स्थापित की गई। किन्तु

सन् १८६४ और १८७१ के बीच तीन युद्धों के परिणामस्वरूप जिन्हें बिस्मार्क की प्रतिभा ने भड़काया था और जिनका उसी ने संचालन किया था, डेनमार्क को परास्त होकर श्लेस्विग (Schleswig) और होल्स्टीन (Holstein) की डचियाँ (Duchies) छोड़नी पड़ीं, आस्ट्रिया जर्मन-राज्यमंडल से निकाल दिया गया, और फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य का तख्ता पलट दिया गया। इस प्रकार चार नए सांविधानिक राज्यों का अभ्युदय हुआ। डेनमार्क में सन् १८६४ में राजा को संसदीय व्यवस्था स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया; आस्ट्रिया और हंगरी में सन् १८६९ में नए संविधान तैयार हुए; जर्मनी में सन् १८७१ में जर्मन साम्राज्य स्थापित हुआ; और फ्रांस में सन् १८७५ में तृतीय गण-तन्त्र की स्थापना हुई।

इन संविधानों में से प्रत्येक ने संसदीय संस्थाओं को अपनाया, जो न्यूनाधिक संशोधित रूप में ब्रिटिश संविधान की नकलें थीं। इनमें से प्रत्येक में लोकतंत्रीय तत्त्व समाविष्ट थे, किन्तु संसद् की शक्तियां अभी ऐसी नहीं थीं जिनसे उदारवादी सुधार की समस्त मांगें पूरी हो सकतीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद केवल एक सीमा तक विजयी हो सका था। इटली का एकीकरण तो हो चुका था परन्तु ट्रियस्ट (Trieste) और ट्रेंटीनो (Trentino), जिनमें कई इटलीवाले रहते थे, आस्ट्रिया की प्रभुसत्ता के अधीन, उसकी राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर थे। आस्ट्रिया-हंगरी उसके अनेक अधीनस्थ प्रदेशों के सहित निश्चय ही एक राष्ट्रीय राज्य नहीं कहा जा सकता था। जहां तक जर्मनी का संबंध है, यद्यपि वह आस्ट्रिया-हंगरी की अपेक्षा कहीं अधिक राष्ट्रीय था, फिर भी उसकी सीमा के अन्दर बहुत-से पोल जाति के लोग थे और उसने सन् १८७१ में अपनी विजय के फलस्वरूप अलसास और लारेन के प्रांतों को फ्रांस से छीन लिया था।

इन घटनाओं के बाद के वर्षों में राष्ट्रवाद बाल्कन प्रायद्वीप के लोगों का नारा बन गया, जो कि अब भी तुर्की के अधीन और उसके अत्याचारों से पीड़ित थे। रूस और तुर्की के बीच की लड़ाई और बर्लिन कांग्रेस में इस समस्या में बड़ी शक्तियों की दिलचस्पी के फलस्वरूप सन् १८७८ में तीन नए राज्यों, अर्थात् सर्बिया, मोंटीनीग्रो, और रूमानिया की स्थापना हुई। यूनान सन् १८३२ में स्वाधीनता प्राप्त कर चुका था और उसका शासन सन् १८६४ में अंतिम रूप में लागू किए गए एक संविधान के अनुसार हो रहा था। इस प्रकार केवल बलगेरिया, जो बर्लिन संधि की व्यवस्थाओं के फलस्वरूप आंशिक रूप में ही स्वतन्त्र हुआ था, और स्वयं तुर्की ही रह गए। अब्दुलहमीद द्वितीय ने सन् १८७६ में ही समस्त आटोमन साम्राज्य के लिए एक संविधान की घोषणा की थी, किन्तु वह दो वर्षों के अंदर ही रद्द कर दिया गया था। सन् १९०८ में 'युवक तुर्क' दल ने इस संविधान को सफलता के साथ पुनर्जीवित करा लिया, अब्दुलहमीद को राजगद्दी से उतार दिया और तुर्की को सांविधानिक राजतंत्र बना दिया। तुर्की की इस उथल-पुथल से लाभ उठाते हुए बलगेरिया ने उसी वर्ष अपनी पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

इस प्रकार पाश्चात्य उदारवाद से प्रभावित होकर यरोप के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र ने, जो अब तक तुर्की की निरंकुशता से पीड़ित था, बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक कम-से-कम राजनीतिक संविधानवाद के स्वरूपों को तो अपना ही लिया। प्रत्येक अवस्था में राष्ट्रीयता के आधार पर एक नए राज्य की स्थापना हुई; राष्ट्रीयता का यह सिद्धांत मुक्ति के साधन के रूप में जान-बूझकर अपनाया गया था। यह सच है कि किसी भी अवस्था में राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति पूर्णरूप से नहीं हुई और इसी कारण सन् १९१२ और १९१३ में बाल्कन युद्ध हुए। फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बाल्कन प्रायद्वीप का समस्त इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह आशा कितनी व्यापक हो गई थी कि कदाचित् प्रगतिशील सांविधानिक राज्य के निर्माण का सर्वोत्तम संतोषप्रद आधार राष्ट्रीय लोकतंत्र ही सिद्ध हो सकेगा।

१०. संविधानवाद और प्रथम विश्वयुद्ध

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पूर्व रूस के सिवाय यूरोप के प्रत्येक राज्य में किसी-न-किसी रूप में राष्ट्रीय संविधानवाद का प्रयोग किया जा रहा था। रूस में संविधानवाद के प्रयत्न आंशिक रूप में निर्वाचित सभा (ड्यूमा) की स्थापना से आगे नहीं बढ़ सके और यह सभा भी सन् १९०५ में अपने आरम्भ से ही शक्तिशाली होने के बजाय कमजोर होती गई। किन्तु संविधानवाद यूरोप, ब्रिटेन के साम्राज्य के स्व-शासित प्रदेशों, और अमरीका तक ही सीमित नहीं रहा। यह संसार के दूर-दूर के स्थानों, जैसे दक्षिणी अमरीका, जापान और चीन तक में भी फैल गया। आधुनिक साम्राज्यवाद की शक्ति और औद्योगिक क्रांति के आर्थिक परिणामों के द्वारा विश्व के यूरोपीयकरण के साथ-साथ प्राचीन विश्व के राजनीतिक सिद्धांतों का प्रचार और उसकी राजनीतिक प्रथाओं का भी व्यापक प्रयोग हुआ। इस संविधानवाद का रूप सदा ही या तो ब्रिटिश नमूने या अमरीका द्वारा अंगीकृत उसके परिवर्तित स्वरूप के अनुसार था। दूसरे शब्दों में, इसने प्रातिनिधिक संस्थाओं की स्थापना की और राष्ट्र को राज्य का आधार बनाया। चीन के समान, जहां के बारे में यह नही कहा जा सकता था कि वहां राष्ट्र का अस्तित्व था, उन स्थानों में भी संविधानवाद की प्रवृत्ति ने राष्ट्रवाद के विकास को प्रोत्साहित किया और उसे एक राजनीतिक आधार के रूप में प्रयुक्त किया।

यद्यपि यूरोप में राजनीतिक संविधानवाद काफी प्रगति कर चुका था तो भी अधिकतर स्थानों में प्रातिनिधिक लोकतंत्र और राष्ट्रवाद के मामलों में और भी आगे बढ़ना था। फ्रांस को अपने खोए हुए प्रांत और इटली को पराधीन इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्र पुनः प्राप्त करने थे। जर्मनी में कुछ गैर-जर्मन लोग—उत्तर में डेन और पूर्व में पोल जाति के लोग—अधीनता की अवस्था में थे। आस्ट्रिया-हंगरी को, जिसमें जर्मन, मेगयार, दक्षिणी स्लाव, बोहीमियन, पोल, और रूमानियन जातियों के लोग

थे, **'जर्जर साम्राज्य'** (Ramshackle Empire) कहना उपयुक्त ही था। रूस का पश्चिमी भाग फिनों, इस्थोनियनों, लेट्स, लिथुएनियनों, पोलों और रूमानियनों का मिश्रित जन-समूह था। तुर्की के यूरोपीय प्रदेश को बाल्कन प्रदेश के लोग अपनी राष्ट्रीयता पर बलात्कार समझते थे। यदि इतिहास यह सिद्ध करता था, जैसा कि प्रतीत हो रहा था, कि सांविधानिक अधिकारों का एकमात्र दृढ़ आधार राष्ट्रवाद था तो प्रश्न यह था कि क्या राष्ट्रीय एकता का अब तक का अधूरा स्वप्न शांतिपूर्ण उपायों द्वारा साकार किया जा सकता है या इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई विध्वंसात्मक घटना आवश्यक होगी। चाहे ऐसी विध्वंसात्मक घटना आवश्यक थी या नहीं, किन्तु सन् १९१४ में युद्ध के छिड़ने पर वह घटित हो ही गई। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे राज्य भी थे जिनमें संविधान तो था किन्तु उनके राजनीतिक संगठनों को लोकतंत्रात्मक नहीं कहा जा सकता था, विशेषकर इस कारण कि वहां कार्यपालिका पर लोक-नियंत्रण का अभाव था। यह बात जर्मनी के बारे में विशेष रूप से लागू होती थी।

वुड्रो विल्सन के मतानुसार यह युद्ध विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने के निमित्त लड़ा गया था। अतएव, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उससे पैदा हुई परिस्थितियों में संविधानवाद की बाढ़ आ गई। विजेताओं ने इस बात पर जोर दिया कि विभिन्न लोगों के आत्मनिर्णय के आधार पर ही स्थायी शांति की नींव डाली जा सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दलित जातियों को जहां तक सम्भव हो, राष्ट्रीय आधार पर स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित हो जाना चाहिए। इस सिद्धांत को लागू करने से चार बड़े साम्राज्यों—जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, और तुर्की—का पूर्ण अथवा आंशिक विघटन हुआ। यह कार्य बहुत सीमा तक युद्ध ने ही कर दिया था। नई व्यवस्था के अधीन मध्य और मध्यपूर्वी यूरोप छोटे-छोटे राज्यों का पुंज बन गया जब कि पहले वहां केवल तीन राज्य थे। शांति-संधियों ने फिनलैंड, इस्थोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, पोलैंड, और चेकोस्लोवाकिया जैसे नए राज्यों का सृजन किया; जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे राज्यों का अंगभंग कर दिया और सर्बिया (जो वर्द्धित रूप में युगोस्लाविया कहलाया) तथा रूमानिया जैसे राज्यों के क्षेत्रों का विस्तार कर दिया।

प्रत्येक अवस्था में, इन परिवर्तनों के फलस्वरूप नए दस्तावेजी संविधान का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि नए राज्यों में प्रभुत्वसम्पन्न शासन की कोई पद्धति विद्यमान नहीं थी और पुरानों में क्रांति के फलस्वरूप युद्धपूर्व के शासन नष्ट हो गए थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, लोकसत्ता और राष्ट्रीयता इन सब राज्यों के संविधानों की विशेषताएं थीं और इन सभी ने बिना किसी अपवाद के कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण की ब्रिटिश योजना को थोड़े-बहुत फेरफार के साथ अंगीकार किया, यद्यपि इनमें से बहुत-से व्यापक मताधिकार के मामले में उससे आगे बढ़ गए। जहां तक कागजी अधिकार-पत्रों की सफलता का सवाल था, लोकतंत्र निश्चय ही विजयी हो चुका था। आर्थिक स्थिरता और

मामरिक महत्त्व की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विचारा जाए तो यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता भी विजयी हो चुकी थी। यह सच है कि कई देशों में विशेषकर इटली में आस्ट्रियन-जर्मनों, और विस्तृत रूमानिया में मेगयारों जैसे गैर-राष्ट्रीय अल्प-संख्यक लोग भी थे, परन्तु पहले के बराबर नही।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप संविधानवाद का और भी विकास राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना के रूप में हुआ। संधियों पर हस्ताक्षर करने के साथ राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा पर भी हस्ताक्षर करना अनिवार्य बना दिया गया था। यह इतिहास में पहला अवसर था जब कि निश्चित रूप से गठित नियमों के एक निकाय और सुव्यवस्थित संस्थाओं के अधीन अनेक राज्यों का एक संगठन दृष्टिगोचर हुआ। राष्ट्रसंघ एक साथ ही अनुभवमूलक और प्रयोगात्मक संगठन था, अपने निर्माता राज्यों की सांविधानिक प्रथा पर यथासंभव अनुरूपता के साथ आधारित था और जिसमें अपने स्वरूप के ही अनुकूल ऐसे विस्तार और संशोधन हो सकते थे जो अनुभव द्वारा अपेक्षित और परि-स्थितियों के अनुसार सम्भव हों। हम इसे सांविधानिक प्रयोग इसलिए नहीं कहते कि यह कोई प्रभुसत्तात्मक स्वतन्त्र निकाय था (क्योंकि ऐसा वह निश्चय ही नहीं था) बल्कि इसलिए कि उसने उन प्रभुसत्तात्मक राज्यों के बीच, जो कि इसके सदस्य थे, संघर्षो के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए साधनों की खोज का प्रयत्न किया और इस कारण वह उस सांविधानिक प्रगति के अनुरूप था जो उस समय तक अधिकतर पश्चिमी राज्यों में हो चुकी थी।

११. संविधानवाद का परित्याग और द्वितीय विश्वयुद्ध

युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में ऐसा प्रतीत होता था मानो मनुष्य के अधिकारों और विधि के शासन की लगभग सार्वजनिक विजय के निमित्त राष्ट्रवाद और प्रातिनिधिक लोकतंत्र मिल गए हैं और राजनीतिक संविधानवाद के अनुभवों का अंत में विश्वशांति की समस्याओं को हल करने में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाएगा। किन्तु दुर्भाग्यवश यह बात शीघ्र ही बड़ी तीव्रता के साथ स्पष्ट हो गई कि राजनीतिक अधिकार-पत्र स्वतः काफी नही होते और जिनके लाभ के लिए वे निर्मित किए जाते हैं यदि उन लोगों में उन्हें क्रिया-न्वित करने की इच्छाशक्ति नहीं है तो उन्हें रद्द करने के लिए अ-सांविधानिक तरीकों का अपनाया जाना अनिवार्य है। यही हुआ भी। प्रथम विश्वयुद्ध के निपटारे के बाद के वर्षो में पूर्वी, दक्षिणी और मध्य यूरोप में कई राज्यों में लोकतंत्रात्मक संविधानवाद के विरुद्ध एकाधिकारवादी प्रतिक्रिया हुई।

राजनीतिक संविधानवाद का, जिसके विकास की हम यहां व्याख्या करते आ रहे हैं, सर्वप्रथम परित्याग करनेवाले रूसी लोग थे। सन् १९१७ की रूसी क्रांति दो अवस्थाओं में से होकर गुजरी; इनमें पहली मार्च की राजनीतिक या उदारवादी क्रांति थी, जिसने जार की निरंकुशता समाप्त करके संसद् (ड्यूमा) और मंत्रिमंडल सहित एक

गणतंत्रात्मक संविधान की स्थापना की जो मोट तौर से फ्रांसीसी ढंग का था। दूसरी अवस्था नवम्बर की सामाजिक या बोल्शेविक क्रांति थी, जिसने ड्यूमा को नष्ट करके मजदूर गणराज्य (वर्कर्स रिपब्लिक) स्थापित कर दिया। बीच के आठ महीनों में सोवियतें अर्थात् मजदूर परिषदें, ड्यूमा के साथ-साथ, विद्यमान थीं, किन्तु नए संसदीय प्रयोग को अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का समय मिलने से पूर्व ही लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने रूस को सोवियतों का गणतन्त्र घोषित कर दिया। यह गणतन्त्र प्रारम्भ में मुख्य रूस तक ही सीमित था किन्तु इसके बाद पुराने रूसी साम्राज्य के अन्य यूरोपीय और एशियाई भागों में भी इसी प्रकार की क्रांतियां हुई और सन् १९२३ में इन विभिन्न नए राज्यों ने संघबद्ध होकर सोवियत् समाजवादी गणतंत्रों का संघ (यू० एस० एस० आर०) की स्थापना की।

सन् १९१८ में लेनिन ने एक संविधान प्रस्तुत किया था, जिसकी भूमिका में 'श्रमिक और शोषित जनों के अधिकारों की घोषणा' थी। यह शब्दावली पाश्चात्य संविधानवाद के साथ रूस के सम्बन्धविच्छेद का स्वरूप स्पष्ट कर देती है। मार्क्स के सिद्धांतों के प्रयोग के रूप में रूस की नई व्यवस्था का उद्देश्य बहुसंख्यकों के सांविधानिक शासन की स्थापना नहीं, वरन् सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित करना था, जिसे लेनिन के सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए बाद में स्तालिन ने सर्वहारा वर्ग का पथप्रदर्शन करनेवाली शक्ति के रूप में सारतः साम्यवादी दल का अधिनायकतंत्र बताया। किन्तु, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, सन् १९३६ में स्टालिन द्वारा प्रवर्तित नए संविधान में पाश्चात्य विचारों का भी कुछ समावेश था। इसके अतिरिक्त उक्त क्रांति ने एक नई सामाजिक व्यवस्था का सृजन किया जिसमें पहले के सम्पत्तिस्वामियों के वर्ग को सम्पत्तिविहीन कर दिया गया और सभी प्रकार की सम्पत्ति पर समाज का स्वाम्य हो गया। इस प्रकार सन् १९१७ की क्रांति से उत्पन्न रूस की सोवियत् व्यवस्था में दो बातें ऐसी थी जिनसे उसका सांविधानिक राज्य से स्पष्ट भेद प्रकट होता था : एक तो, अन्य दलों को अलग रखते हुए केवल एक दल के प्राधान्य द्वारा राजनीतिक अधिनायकत्व; और दूसरे, एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था जो राजनीतिक यंत्र का, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को नियंत्रित और संचालित करने के लिए, प्रयोग करती थी।

अधिनायकतंत्र और सर्वाधिकारवाद के ये लक्षण ही इटली में मुसोलिनी की फासिस्ट व्यवस्था और जर्मनी में हिटलर के तृतीय साम्राज्य (नाजी व्यवस्था) में भी, जो बाद के वर्षों में स्थापित किए गए थे, विशिष्ट थे, यद्यपि रूसी क्रांति की पूर्व की अवस्थाएं और उसके परिणाम फासिस्ट विद्रोह और नाजी विप्लव से बहुत भिन्न थे। यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि लेनिन और बोल्शेविकों ने एक निरंकुशतंत्र को नष्ट करने का काम पूरा किया और उसके भग्नावशेषों पर एक नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया जिसने एक विशाल जन-समुदाय को, जो उससे पहले घोर अज्ञान और

अधीनता की अवस्था में पड़ा हुआ था, मताधिकार प्रदान किया। इसके विपरीत फासिस्टों और नाजियों ने स्थापित संसदीय व्यवस्था पर अनुचित आक्रमण किया और उसके स्थान पर एक घोर अत्याचारी शासन की स्थापना की जिसने लाखों देशवासियों को उन अधिकारों से वंचित कर दिया, जिनका वे उससे पहले उपभोग करते थे।

अक्तूबर सन् १९२२ में, जब फासिस्ट सैन्यदल रोम की ओर कूच कर रहा था; वहां के बादशाह ने गृहयुद्ध को टालने के उद्देश्य से मुसोलिनी को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। मंत्रिमंडल के निर्माण के पश्चात् चेम्बर ऑफ डिपुटीज (लोकसभा) ने अपने-आपको तुरन्त ही भंग किए जाने से बचाने के लिए मुसोलिनी को विशेष शक्तियां प्रदान कर दीं। उसी समय से मुसोलिनी ने अपने-आपको ड्यूची (Duce) **'नेता'** की आडम्बरपूर्ण उपाधि से विभूषित करके उस सांविधानिक व्यवस्था को नष्ट कर दिया जिसके अनुसार इटली अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय से शासित हो रहा था। निर्वाचन-विधि को इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया गया जिससे संसद् में कृत्रिम फासिस्ट-बहुसंख्या उपलब्ध हो जाए। शीघ्र ही और सब दल दबा दिए गए और फासिस्ट महापरिषद् शासन की एकमात्र प्रभावपूर्ण संस्था बन गई जो कि 'ड्यूची' की इच्छा को व्यक्त करती थी। इसके साथ ही मुसोलिनी ने सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार की उन संस्थाओं को जो फासिस्ट सिद्धांत और व्यवहार को नहीं मानती थीं, समाप्त कर दिया। इस प्रकार मुसोलिनी ने लोकतंत्रात्मक ढांचे को वस्तुतः नष्ट कर दिया और अनेक उपायों द्वारा, जिनका हम बाद में विश्लेषण करेंगे, उसके स्थान पर निगम-राज्य (कार्पोरेट स्टेट) स्थापित किया जो उसके शब्दों में राष्ट्रीय सिंडीकेलिज्म पर आधारित था। सन् १९३९ में लोकसभा (चेम्बर ऑफ डिपुटीज), जो पहले ही अशक्त हो चुकी थी, विलुप्त हो गई और उसका स्थान एक नई सभा ने ले लिया जो **फेसिओं एवं निगमों की सभा** (Chamber of Fascios and Corporations) कहलाई। इस समय अब इटली के संविधान का, जैसा कि उसका लगभग एक शताब्दी के दौरान में सन् १९४८ की सार्डीनियन संविधि से विकास हुआ था, राजा के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहा और वह भी इसलिए कि संपूर्ण गौरव एवं प्रतिष्ठा से वंचित होकर वह फासिज़्म के रथचक्र के साथ बंधकर चलने में संतुष्ट था।

जर्मनी में जनवरी सन् १९३३ में हिटलर और राष्ट्रीय समाजवादियों ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। यहां भी संसदीय व्यवस्था को उलटने की योजना को प्रारम्भ में सांविधानिक आवरण दिया गया। तब तक जर्मनी सन् १९१९ में स्थापित वेमर (Weimar) गणराज्य के संविधान द्वारा शासित हो रहा था और हिटलर ने गणराज्य के राष्ट्रपति से चान्सलर अर्थात् प्रधान मंत्री का पद स्वीकार किया। हिटलर ने किसी भी समय उस संविधान की निंदा नहीं की किन्तु जर्मन संसद् (राइखस्टाग) द्वारा अनुदत्त और राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित समस्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए उसने सांविधानिक राज्य के मूल

आधारों को शीघ्र ही नष्ट कर दिया। उसने राष्ट्रीय समाजवादियों के सिवाय और सभी दलों को बलपूर्वक भंग कर दिया यद्यपि केवलमात्र नात्सी-सभा के रूप में भी जर्मन संसद् (राइखस्टाग) फ्यूरेर (हिटलर) के आवेशपूर्ण भाषणों को सुनने के लिए समय-समय पर होनेवाली सभा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह गई। जनवरी सन् १९३४ में सौ से भी कम शब्दों की एक आज्ञप्ति निकालकर हिटलर ने जर्मनी में एक हजार वर्ष से चल रही संघ-व्यवस्था को एक ही प्रहार में समाप्त कर दिया और इस प्रकार एक संघीय लोकतंत्र को हिटलर के प्रत्यक्ष नियंत्रण के अधीन एक केन्द्रित निरंकुशतंत्र में बलपूर्वक परिवर्तित कर दिया गया। उसी वर्ष अगस्त में राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मृत्यु पर हिटलर ने राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री (चान्सलर) दोनों पदों को स्वयं संभालने के अपने इरादे की घोषणा की, जिसका बाद में एक जनमत-संग्रह में जनता ने भारी समर्थन किया। इस प्रकार धीरे-धीरे वह सब सांविधानिक संरक्षण जो वेमर गणराज्य द्वारा सुनिश्चित थे, नष्ट कर दिए गए और अंत में निरंकुश अधिनायक की सनक ही एकमात्र राजनीतिक शक्ति रह गई।

हिटलर के अधिनायकतंत्र में सभी वैयक्तिक और सामाजिक अधिकार भी राजनीतिक संरक्षणों की तरह समाप्त हो गए। कोई भी व्यक्ति या परिवार गुप्त पुलिस (जेस्टापो) के हस्तक्षेप से मुक्त नहीं था और प्रत्येक युवक को नात्सी युवक आन्दोलन (हिटलर जुगेण्ड) में बलपूर्वक भरती किया जाता था। नाजी संगठनों के सिवाय और कोई भी संगठन जीवित नहीं रह सकते थे। मालिकों और मजदूरों की अनेक संस्थाएं भंग कर दी गई और उनकी जगह तथाकथित श्रम मोर्चे (Labour Front) ने ले ली। सभी स्वतन्त्र विचारों का दमन किया जाने लगा और समाचारपत्र नाजी पार्टी के हथियार बन गए। ऐसे शासन को प्रामाणिकता देने के लिए हिटलरी जर्मनी की समस्त व्यवस्था का राज्य के एक मिथ्या दर्शन द्वारा प्रतिपादन किया गया, जिसका तर्क यह था कि नात्सी दल जर्मन राष्ट्र का ही पर्याय है, दोनों एक है और पाश्चात्य लोकतंत्र एक घिसा-पिटा पंथ है। किन्तु वास्तव में, नाजीवाद, हिटलर के एक दलत्यागी अनुयायी के शब्दों में, "एक सिद्धांतहीन शून्यवाद" से अधिक कुछ नहीं था। किन्तु उसके अत्याचारों को मौन सम्मति प्रदान करने के कारण जर्मनी और विश्व को अत्यधिक क्षति सहन करनी पड़ी।

इटली और जर्मनी में अधिनायकवाद की सफलता का पड़ोसी राज्यों के राजनीतिक संविधानवाद पर भी बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ा। यह बात स्पेन के बारे में विशेष रूप से सही थी, जहां सन् १९३२ में, अर्थात् हिटलर के शक्ति प्राप्त करने से केवल एक वर्ष पूर्व, एक नए संविधान का प्रख्यापन किया गया था। सन् १९२४ तक स्पेन सन् १८७६ के संविधान के अधीन शासित होता आ रहा था। सन् १९२४ में वह संविधान स्थगित कर दिया गया और आगामी सात वर्ष तक अलफोंसो तेरहवें ने एक निर्देशक-मंडल

(डायरेक्टरी) के द्वारा शासन किया, जिसका प्रधान प्रारम्भ में जनरल प्रिमो डी रिवेरा (मारक्विस द एस्टेला) था और बाद में जनरल बैरेंग्युअर हुआ। किन्तु सन् १९३१ में नगरपालिका के निर्वाचन हुए जिनमें गणतंत्रवादियों की भारी बहुमत से विजय हुई। इसके फलस्वरूप एक गणतंत्रात्मक अस्थायी शासन की स्थापना की गई और राजा देश छोड़कर चला गया। इसके पश्चात् संविधान-सभा के लिए निर्वाचन हुए जिसने सन् १९३२ के संविधान को जन्म दिया। सन् १९३६ में जनरल फ्रांको ने इस संविधान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और तीन वर्ष तक स्पेन में गृहयुद्ध चलता रहा। हिटलर और मुसोलिनी से गुप्त रूप से सहायता प्राप्त करते हुए फ्रांको ने अंत में सन् १९३९ के वसन्त में गणतंत्रवादियों को कुचल दिया और अपना अधिनायकतत्र स्थापित कर लिया।

यूरोप महाद्वीप के लगभग प्रत्येक राज्य में नाजी प्रचार के अड्डे थे और अनिश्चित शांति के उन थोड़े-से वर्षों में केवल बेलजियम और नीदरलैंड्स, डेनमार्क और चेकोस्लोवाकिया जैसे राज्य बड़ी कठिनाई से अपनी संसदीय संस्थाओं को बनाए रख सके। अधिकतर अन्य राज्य हिटलर की शक्ति के आगे झुक गए या उसके धोखे-बहकावे में आ गए और किसी-न-किसी प्रकार के अधिनायकतंत्र के द्वारा उन्होंने अपने सांविधानिक संरक्षणों को नष्ट हो जाने दिया। इसके पश्चात् हिटलर ने खुले आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य लोकतंत्रात्मक राज्य अंत में तुष्टीकरण की निरर्थकता और उसके खतरे को समझते हुए शस्त्र लेकर हिटलर के विरुद्ध अग्रसर हुए और इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ हुआ।

राजनीतिक संविधानवाद पर द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव प्रथम विश्वयुद्ध के प्रभाव से कहीं अधिक जटिल और भयावह हुआ है, क्योंकि निरंकुशता और आक्रमण की शक्तियों पर संयुक्तराष्ट्रों की विजय के फलस्वरूप अब विश्व के समक्ष तीन राजनीतिक विचारधाराएं उपस्थित हैं और प्रत्येक जनता के समर्थन का दावा करती है। इनमें सबसे प्रथम पश्चिम का परम्परागत लोकतंत्रवाद है। इसका समर्थन मुख्य रूप से ब्रिटिश और अमरीकी राष्ट्रमंडलों द्वारा किया जाता है। किन्तु युद्ध में और उसके उपरांत पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों को जैसे कष्ट सहने पड़े उनके कारण इसका सम्मान और आकर्षण पहले से कम हो गया है। दूसरी विचारधारा रूस का विजयी सोवियत् लोकतंत्रवाद है, जो एक बृहत् जाल की भांति समस्त पूर्वी यूरोप पर और एशिया के एक बड़े भाग पर बिछा हुआ है और दोनों भू-खंडों में पड़ोसी समाजों की राजनीतिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव डाल रहा है। तीसरी विचारधारा में फासिस्टवाद और नात्सीवाद के बदनाम सिद्धांत हैं जो युद्धाग्नि में भस्म हो जाने पर भी अपनी राख में से पुनः उत्पन्न होने की धमकी दे रहे हैं और जिनका दावा है कि एक ओर धनिक लोकतंत्रवाद तथा दूसरी ओर साम्यवाद की शक्तियों के बीच कुचले हुए लोगों को युद्धजनित कष्टों से छुटकारा दिलाने में नेतृत्व करने की शक्ति उन्हीं में है। ऐसी परिस्थिति में राजनीतिक संविधानवाद को अपने-आपको

जीवित रहने योग्य सिद्ध कर दिखाना चाहिए। उसके बिना पाश्चात्य सभ्यता को जीवित रखने की कोई आशा नहीं है, क्योंकि सांविधानिक राज्य पाश्चात्य सभ्यता का एक मूल आधार है।

यह बात राज्यों के पारस्परिक सम्पर्क के क्षेत्र में संविधानवाद के सम्बन्ध में भी उतनी ही यथार्थ है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा द्वारा सांविधानिक तरीकों का प्रयोग करने का प्रयत्न द्वितीय सर्वव्यापी युद्ध को रोकने में असफल रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत में राष्ट्रों को संयुक्तराष्ट्र-संगठन के महाधिकार-पत्र (चार्टर) के द्वारा विश्वशांति बनाए रखने का दूसरा अवसर मिला है। पिछले राष्ट्रसंघ की असफलता का भारी मोल चुकाना पड़ा, किन्तु अब संयुक्तराष्ट्रों की उसी प्रकार की असफलता निश्चय ही घातक सिद्ध होगी, क्योंकि यदि वर्त्तमान परमाणु-युग की परिस्थितियों में तृतीय विश्वव्यापी संघर्ष हुआ तो निश्चय है कि सभ्य समाज जीवित नहीं रह सकेगा।

१२. सारांश

अब हमें यह देखना है कि इस ऐतिहासिक रूपरेखा से क्या निष्कर्ष निकलता है। सबसे पहला निष्कर्ष यह है कि सांविधानिक राजनीति उसके इतिहास के अध्ययन के बिना नहीं समझी जा सकती। प्रत्येक युग ने, जिस पर हमने दृष्टि डाली है, विद्यमान स्वरूप के विकास में योग दिया है। यूनानी संविधानवाद ने राजनीतिक दर्शन को प्रेरणा दी और पंद्रहवीं शताब्दी में प्राचीन विद्या के पुनरुत्थान से लोगों का ध्यान राजनीतिक संगठन के उच्च आदर्शों की ओर आकर्षित हुआ। रोमन संविधानवाद ने पाश्चात्य संसार को विधि की वास्तविकता और एकता का आदर्श प्रदान किया। सामंतवाद ने पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् की अराजकता और आधुनिक राज्य के प्रादुर्भाव के बीच की खाई को पाटने का काम किया। मध्ययुग में इंगलैंड, फ्रांस और स्पेन में राज-पद के द्वारा केन्द्रीयकरण की प्रगति सामंतवाद की बुराइयों को समाप्त करने और एक राष्ट्रीय नीति की नींव डालने के लिए आवश्यक थी, दूसरी ओर इन्हीं देशों में अंशतः प्रातिनिधिक संस्थाओं के विकास से पश्चिमी यूरोप में पहले-पहल लोकतंत्रात्मक राज्य के आरम्भ की प्रथम धूमिल आभा दृष्टिगोचर हुई। इसके साथ ही पंद्रहवीं शताब्दी में परिषदीय आंदोलन ने यूरोप के अपरिपक्व राष्ट्रीय विभाजनों पर बल दिया और शासन की प्रातिनिधिक पद्धतियों की व्यापक चर्चा का समारम्भ किया।

पुनरुत्थान के युग ने यूरोप के पश्चिम में केन्द्रीयकरण की क्रिया को आगे बढ़ाया तथा राष्ट्रवाद की जड़ें और पक्की कर दीं। धर्मसुधार आन्दोलन ने धार्मिक सहिष्णुता के आदर्श को जन्म दिया और इसके साथ ही राज्य-चर्च के विकास के द्वारा राजा की शक्ति बढ़ा दी और लोगों में यह विश्वास पैदा करके कि धार्मिक स्वतंत्रता का मार्ग राजनीतिक

संगठन है, उसने धार्मिक असतोष को राजनीतिक विद्रोह का रूप दे दिया। ब्रिटिश संविधानवाद ने उदार संस्थाओं को अनेक शताब्दियों के दौरान में निरंतर जीवित रखा जब कि वे अन्यत्र मृत हो गई थीं या कभी भी विद्यमान नहीं थीं; अपनी संस्थाओं को विश्व के सभी भागों के उन समुदायों में विकसित होने दिया, जिनका अधिपति स्वयं ब्रिटेन था, और जब कभी किसी नए मुक्त समाज को संविधान-निर्माण की आवश्यकता हुई तो उसने संविधान का एक नमूना प्रस्तुत किया। अठारहवीं शताब्दी में तत्कालीन विश्वासों एवं विचारों के विरोधी सिद्धांतों ने लोकतंत्र के आधुनिक सिद्धांतों की नींव रखी। अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों ने आधुनिक विश्व को दस्तावेजी संविधानों के पहले नमूने दिए और इस प्रकार स्वतंत्रता तथा सत्ता, मनुष्यों के अधिकारों तथा स्थापित शासन, के बीच मेल बिठाने का तात्कालिक मार्ग ढूंढ निकाला। इसके अतिरिक्त अमरीका ने संघवाद के द्वारा विश्व को एसी राजनीतिक एकता का पाठ पढाया जिसमें स्थानीयता की भावना नष्ट नहीं होती; फ्रांसीसी क्रांति ने, यद्यपि वह स्वयं असफल हो गई, उन्नीसवीं शताब्दी को अपनी विरासत के रूप में स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व के आदर्श प्रदान किए जो आगे चलकर उनके मूल प्रेरकों द्वारा स्थिर आधार से अधिक स्थायी आधार पर प्रतिष्ठित हुए। नेपोलियन की विजय ने क्रांति के आदर्शो का प्रचार किया और इसके साथ ही विजित लोगों में राष्ट्रीयता की प्रसुप्त भावना को चेतन और सक्रिय बना दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में उदारवादी सुधार और राष्ट्रवाद की मान्यता के लिए संघर्ष हुआ और राजनीतिक स्वरूपों के रूप में उन्हें आंशिक सिद्धि भी प्राप्त हो गई। औद्योगिक क्रांति ने मध्यम वर्ग को मताधिकार दिलाया और मजदूरों के एक नए वर्ग को, जिसने राजनीतिक अधिकारों के उपभोग की अधिकाधिक मांग की, जन्म देकर आधुनिक लोकतंत्र की रक्षा के सुदृढ़ साधन का निर्माण किया। औद्योगिक क्रांति ने आर्थिक संरक्षण की नीति के पोषण द्वारा और तत्पश्चात् मताधिकार के विस्तार एवं राष्ट्रवादी दलों के संगठन के द्वारा राष्ट्रवाद तथा सांविधानिक सुधार दोनों में तीव्रता ला दी। प्रथम विश्व-युद्ध ने अनुदार सरकारों को समाप्त करके, तब तक की दलित जातियों से नए राज्य बनाकर, इस प्रकार इन दोनों को राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के आधार पर संविधान स्थापित करने के लिए प्रेरित करके, और राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना से सांविधानिक मार्ग पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए इच्छा की सृष्टि करके संविधानवाद को भारी प्रेरणा दी। किंतु इसके पश्चात् के वर्षो में राजनीतिक संविधानवाद के विरुद्ध हिंसात्मक प्रतिक्रिया हुई और सन् १९१७ की रूसी क्रांति के पश्चात् इटली में फासिस्ट विद्रोह हुआ, जर्मनी में नात्सी विप्लव हुआ और स्पेन में गणतंत्रवादियों पर फ्रांको की विजय हुई और इसके साथ ही नात्सी और फासिस्ट प्रभाव में आकर पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों की सामान्य प्रवृत्ति उन सांविधानिक संरक्षणों का परित्याग करने की हो गई जिन्हें उन्होंने कुछ ही समय पूर्व प्राप्त किया था। इस प्रकार स्थापित अधिनायकतंत्र और सर्वाधिकारवादी प्रणालियों से अनिवार्यत:

बाह्य आक्रमण की नीतियों का श्रीगणेश हुआ जिसके फलस्वरूप अंत में सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। इस युद्ध ने पश्चिम के राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद के लिए एक बहुत ही जटिल और खतरे की स्थिति पैदा कर दी। उसे एक ओर सोवियत् लोकतंत्र की प्रतिद्वन्द्विता का, जिसका उस समय पूर्वी यूरोप और एशिया के एक बड़े भाग पर प्रभाव था, और दूसरी ओर पराजित राष्ट्रों में नात्सीवाद के फिर से जी उठने के खतरे का सामना करना पड़ा। किंतु युद्ध के अन्त में राष्ट्रों को परमाणु-युग में विश्वशांति की स्थायी स्थापना के लिए संयुक्तराष्ट्रसंघ (यूनाइटेड नेशन्स ऑर्गेनाइज़ेशन) के महा-धिकार-पत्र (चार्टर) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सांविधानिक पद्धतियों को प्रयुक्त करने का एक और अवसर मिला।

इस रूपरेखा का दूसरा निष्कर्ष यह तथ्य है कि यद्यपि राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद का प्रारंभ बहुत पहले हुआ था, तथापि वह अब भी प्रयोग की स्थिति में है और यदि उसे शासन की अधिक क्रांतिकारी पद्धतियों के मुकाबले में जीवित रहना है तो हमको उसे आधुनिक समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बनाते रहने के लिए तैयार रहना चाहिए। निश्चय ही राजनीतिक संविधान का मूल प्रयोजन सभी स्थानों पर समान है : अर्थात् सामाजिक शांति और प्रगति सुनिश्चित करना, वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा और राष्ट्रीय हित की प्राप्ति। अब हमें इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाए गए विभिन्न साधनों का अध्ययन करना है। इसके अन्तर्गत आधुनिक राजनीतिक संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन और उनकी समानताओं एवं विभिन्नताओं का विश्लेषण समाविष्ट है। अब हम ऐसा ही प्रयत्न करेंगे।

प्रश्न

१. यूनानी लोगों को नगर-राज्य का विचार क्यों प्रिय था ?
२. रोमन साम्राज्य किस अर्थ में एक विश्वराज्य था ?
३. रोमन साम्राज्य के पतन और आधुनिक राज्य के उदय के बीच एक संक्रमणकालीन व्यवस्था के रूप में 'सामन्तवाद (फ्यूडलिज्म)' की विवेचना कीजिए।
४. पुनरुत्थान के पूर्व पश्चिमी यूरोप में क्या सांविधानिक प्रगति हो चुकी थी ? पुनरुत्थान के राजनीतिक पहलुओं का कुछ वर्णन कीजिए।
५. 'धर्मसुधार' के राजनीतिक परिणामों पर प्रकाश डालिए।
६. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के रूप में सामाजिक संविदा के सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।
७. संविधानवाद के इतिहास में अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध तथा फ्रेंच क्रांति का महत्त्व समझाइए।
८. औद्योगिक क्रांति के राजनीतिक पहलुओं पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
९. यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध का सांविधानिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा ?
१०. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में यूरोप की सांविधानिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

द्वितीय खण्ड

तुलनात्मक सांविधानिक राजनीति

अध्याय ३

संविधानों का वर्गीकरण

१. अरस्तू तथा अन्य विद्वानों द्वारा किया गया अप्रचलित वर्गीकरण

राजनीतिक संविधानों के या राज्यों के वर्गीकरण का प्रयास पूर्वकाल में प्राय: किया जाता था, किन्तु वह ऐसा नहीं है जिससे आधुनिक विद्यार्थी को संतोष हो। वर्गीकरण के ऐसे पुराने प्रयत्नों में हम अरस्तू द्वारा किए गए वर्गीकरण पर विचार कर सकते हैं। इस विषय का अरस्तू ने अपने आचार्य अफलातून की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विषय में अफलातून के विचार बहुत उलझे हुए हैं क्योंकि उसने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में वर्गीकरण का एक आधार और दूसरी रचना 'पॉलिटिकस' अथवा 'स्टेट्समैन' में उससे बिलकुल भिन्न आधार अपनाया है। अरस्तू ने संविधानों को प्रथमत: दो बड़े वर्गों में बांटा है, अर्थात् उत्तम तथा निकृष्ट अथवा सत् तथा असत्। यहां उसकी कसौटी शासन की भावना है। इन दो बड़े वर्गों में से प्रत्यक में उसने इस आधार पर कि शासन एक व्यक्ति के, अथवा कुछ के या बहुत के हाथों में है, तीन प्रकार के शासन ढूंढ निकाले।

अरस्तू ने इस वर्गीकरण को सर्वांगपूर्ण तथा अनन्य माना है। इसका कारण यह है कि उसने यूनानियों तथा बर्बरों के अपने समय में उपलब्ध संविधानों का, जिनकी संख्या १५८ से कम नहीं थी, पूर्ण अनुसंधान किया (इस अनुसंधान के विवरणों वाली पुस्तक अभाग्यवश खो चुकी है) और उसके आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि समस्त राज्यों को एक क्रांति-चक्र से गुजरना पड़ा है। इस भांति राज्य यथासम्भव सर्वोत्तम प्रकार के शासन से प्रारम्भ होता है, जो एक व्यक्ति का शासन है और वह व्यक्ति राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति होता है। यह **एकतंत्र** या **नृपतंत्र** है। कुछ समय के पश्चात् ऐसा सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सकता था, किन्तु फिर भी एक व्यक्ति का शासन बना रहा; और बल के आधार पर उसकी सत्ता कायम रही। इस प्रकार के शासन को अरस्तू **अत्याचारतंत्र** या **निरंकुशतंत्र** कहता था, परन्तु अत्याचारी शासक को आगे चलकर सच्चरित्र व्यक्तियों के समूह के विरोध का सामना करना पड़ा, जिसने उसको उखाड़ फेंका और उसके स्थान पर स्वयं शासक बन गया। यह **अभिजाततंत्र** था। कुछ समय पश्चात् अभिजाततंत्र की भावना का भी पतन होने लगा, और यद्यपि अल्प जनों का शासन चालू रहा, परन्तु वह राजनीतिक सद्गुण के आधार

पर स्थिर नहीं रहा; उसने अपने को शक्ति अथवा भ्रष्टाचार के प्रयोग से कायम रखा। अभिजाततंत्र का यही दूषित रूप अरस्तू के शब्दों में **अल्पजनतंत्र** है। अंत में इस घृणित शासन के विरुद्ध एक जन-विद्रोह भड़क उठा और इस भांति अल्पजनतंत्र के स्थान पर **बहुजनतंत्र** अथवा **लोकतंत्र** की स्थापना हुई। अरस्तू के मत में लोकतंत्र इतनी सरलतापूर्वक अनियंत्रित तथा अराजक बन जाता है कि अफलातून के समान वह भी उसे स्वभाव से ही पतित समझता है। यह बहुजनतंत्री शासन अव्यवस्थित जन-समूह (अथवा उसके शब्दो में 'दरिद्रों') का शासन हुए बिना नही रह सका जो कि शासन का परम निषेधात्मक रूप है। इस घोर अंधकार में से फिर एक किसी सर्वोच्च सर्वगुणसंपन्न व्यक्ति का आविर्भाव होता है, कोई सीजर फिर उत्पन्न होता है केवल जो ही व्यवस्था तथा विवेक की पुनःस्थापना करता है। इस भांति चक्र पूरा हो जाता है और पुनः प्रारंभ होता है।

अरस्तू की समस्या इस प्रकार का शासन ढूंढ निकालना था, जो इस चक्र को तोड़ सकने के लिए पर्याप्त रूप से स्थायी हो। उसके विचार में मध्यमवर्गीय शासन ही इस प्रकार का शासन था, और उसने उसे **'पॉलिटी' (विशुद्ध प्रजातंत्र)** की संज्ञा दी। अरस्तू के विचार यह एक ओर एकतंत्र तथा अभिजाततंत्र के आदर्शों के, जिनका प्राप्त करना और जिन्हें में बनाए रखना बड़ा कठिन था, तथा दूसरी ओर अवांछनीय अत्याचारतंत्र, अल्पजनतंत्र तथा बहुजनतंत्र अथवा लोकतंत्र रूपी असत् शासनों के बीच एक सर्वोत्तम मध्यम मार्ग था। शासन की स्थिरता बनाए रखने की दृष्टि से अरस्तू ने मध्यम वर्ग के शासन को इतना आवश्यक समझा कि उसका नामकरण करने के लिए उसने जिस शब्द 'पॉलिटी' (प्रजातंत्र) का प्रयोग किया, उसका आज व्यापक रूप में प्रयोग होने लगा है। अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत संविधानों के वर्गीकरण को सारणी के रूप में निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है:

संविधान का प्रकार	उत्तम अथवा सत् रूप	विकृत अथवा असत् रूप
एक का शासन	एकतंत्र अथवा नृपतंत्र	अत्याचारतंत्र या निरंकुशतंत्र
कुछ का शासन	अभिजाततंत्र	अल्पजनतंत्र
बहुत का शासन	पॉलिटी (विशुद्ध प्रजातंत्र)	लोकतंत्र

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अरस्तू के विचारों के इस अंश से हमें बहुत-कुछ सीखना है। उदाहरणार्थ, उसने बड़ी दृढ़ता के साथ यह कहा है कि चूंकि किसी भी राज्य विशेष के समस्त नागरिकों का उद्देश्य निश्चय ही अपनी संस्था की सुरक्षा होना चाहिए, अतएव उस संविधान को बनाए रखने के लिए, जो कि उस सुरक्षा का आधार है, प्रत्येक बात का त्याग किया जाना चाहिए, और किसी भी नागरिक का संविधान की सीमा से बाहर का कोई भी कार्य (चाहे वह तत्कालीन सरकार के द्वारा किया गया कोई भी

असांविधानिक कार्य हो अथवा गैर-राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा की गई कोई भी तथा-कथित सीधी कार्यवाही हो) एक क्षण के लिए भी सहन नहीं किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा तर्क है जिसका अरस्तू के प्राचीन पॉलिटी (प्रजातंत्र) के समय की अपेक्षा आधुनिक लोकतंत्र में अधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य का प्रतिवाद करना कठिन कि अरस्तू के समय के पश्चात् के विश्व-इतिहास ने ह्रास तथा क्रांति के चक्र के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए है, जो उसके विश्लेषण की पुष्टि करते हैं।

तथापि हमें अरस्तू के संविधानसंबंधी वर्गीकरण का परित्याग करना ही होगा, क्योंकि वह विद्यमान राजनीतिक परिस्थितियों को बिलकुल लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, वर्त्तमान युग में आधुनिक राज्य के लिए 'एकतंत्र' शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे उसके विषय में कोई सुस्पष्ट बात मालूम नहीं होती। इसके अतिरिक्त 'लोक-तंत्र' शब्द आज इतने आधुनिक राज्यों को लागू होता है कि उससे उनका विभाजन करने में कोई सहायता नहीं मिलती। साथ ही अरस्तू के बाद के कतिपय राजनीतिक दार्शनिकों के द्वारा किए गए वर्गीकरणों से भी आधुनिक परिस्थितियों में कोई सहायता नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, मॉण्टेस्क्यू ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में शासनों को तीन वर्गो में विभाजित किया था : गणतंत्रीय, एकतंत्रीय, तथा निरंकुशतंत्रीय। इसके कुछ वर्षो के उपरांत ही रूसो ने शासन को तीन वर्गो में विभाजित किया : निरंकुशतंत्रात्मक, अभिजाततंत्रात्मक, तथा लोकतंत्रात्मक; परन्तु उसने यह भी प्रतिपादित किया कि राज्य का केवल एक ही रूप है, अर्थात् गणतंत्र। उसके कुछ समय पश्चात् कांट ने तीन प्रकार के राज्यों की चर्चा की जो रूसो के तीन प्रकार के शासनों के समान थे, कितु कांट की दृष्टि म शासन दो ही प्रकार के थे : गणतंत्रीय और निरंकुश-तंत्रीय। परंतु आधुनिक संसार में 'गणतंत्र' शब्द भी हमें उस राज्य के रूप को समझने में, जिसका कि हम उल्लेख कर रहे हैं, 'एकतंत्र' शब्द से अधिक सहायक नहीं होता। उदाहरणार्थ, तीन विद्यमान गणतंत्रों, अर्थात् संयुक्तराज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड तथा फ्रांस, और तीन वर्त्तमान एकतंत्रों अर्थात् ब्रिटेन, नॉरवे तथा नीदरलैड्स को लीजिये। इस तथ्य को ही विभा-जन का आधार बनाना और यह कहना स्पष्टतया भ्रांतिजनक है कि संयुक्तराज्य, स्विट्जरलैड और फ्रांस एक विशिष्ट वर्ग के राज्य है तथा ब्रिटेन, नॉरवे और नीदरलैंडस उससे भिन्न प्रकार के हैं। ऐसा करना नामकरण को अत्यधिक महत्त्व देना होगा। वर्त्तमान युग में आइए तो हम देखते हैं कि आधुनिक जर्मन लेखक ब्लुण्ट्श्ली (Bluntschli) ने अरस्तू के त्रिविध विभाजन को ही उसमें एक चौथे प्रकार के राज्य को जोड़कर, जिसे उसने कल्पना-राज्य (Ideocracy) अथवा धर्मराज्य (Theocracy) कहा है, बढ़ाने की चेष्टा की है। ऐसे राज्य में सर्वोच्च शासक के रूप में ईश्वर की अथवा किसी अतिमानवीय भावना या विचार की कल्पना की गई है जैसा कि प्रारंभिक यहूदी राज्य तथा मुस्लिम देशों में था। परंतु यह विभाजन वास्तविक और विद्यमान समताओं तथा विषमताओं के आधार पर राज्यों के

वर्गीकरण के प्रयत्नों में हमें आगे नही बढ़ाता। अतएव, हमें स्पष्ट ही अपने आधार को अन्यत्र खोजने का प्रयास करना चाहिए।

२. आधुनिक वर्गीकरण के आधार

सच तो यह है कि प्रत्येक राज्य को सम्पूर्ण रूप में बारी-बारी से लेने पर राज्यों को वर्गों में विभाजित करना असम्भव है, क्योंकि सभी राज्यों की शक्तियों का समुच्चय सर्वत्र समान है अर्थात् प्रत्येक राज्य पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न राजनीतिक निकाय है। जो समुदाय ऐसा नहीं है उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। एक अमरीकी लेखक **विलोबी** का कथन है: "राज्यों के शासन संबंधी संगठन की रूपरेखा दर्शानेवाली विशेषताओं के अनुसार ही उनके भेद को प्रकट किया जा सकता है।" पूर्ववर्त्ती अध्याय में जिस आधुनिक संविधान-वाद के क्रमिक विकास का हमने चित्रण किया है, यदि उसको ध्यान में रखकर हम इस विषय पर विचार करना प्रारंभ करें तो एक सजीव वर्गीकरण हमारे सामने अपने-आप उपस्थित होने लगता है। हम देख चुके है कि पश्चिमीय जगत् के समस्त समुदाय किस भांति न्यूनाधिक रूप में समान प्रकार की बातों से प्रभावित हुए है और इसी कारण उनमें समानताओं का दृष्टिगोचर होना अवश्यम्भावी है। इसके विपरीत, पृथक्करण के हेतु राष्ट्रीयता की भावना भी इतनी प्रबल शक्ति सिद्ध हुई है कि उनके बीच के भेद भी समान रूप से भलीभांति देखे जा सकते है। अतएव, वर्गीकरण करते समय हमें उन विशेषताओं को मालम कर लेना चाहिए जो समस्त आधुनिक सांविधानिक राज्यों में समान रूप से विद्यमान है; और राज्यो को उनकी संगठनसंबंधी विशिष्टताओं के अनुसार विभाजित करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें इन विशेषताओं की एक-एक करके परीक्षा करनी चाहिए और उसके साथ राज्यों की अनुकूलता के आधार पर उन्हें वर्गों में विभाजित करना चाहिए।

ऐसी सामान्य विशेषताएं वे ही हैं, जिनकी हम पूर्ववर्त्ती अध्याय में चर्चा कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक सांविधानिक राज्य के शासन के तीन पृथक् विभाग होते हैं: व्यवस्थापिका (विधानमंडल), कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका। अतः, वर्गीकरण का आधार निम्नलिखित पांच शीर्पकों के अनुसार ही मिलना चाहिए :—

(१) राज्य का स्वरूप, जिसमे संविधान लागू होता है,
(२) स्वयं संविधान का स्वरूप,
(३) विधानमंडल का स्वरूप,
(४) कार्यपालिका का स्वरूप,
(५) न्यायपालिका का स्वरूप ।

इस वर्गीकरण का दोष यह है कि इसमें प्रत्येक बार एक विशेषता के सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता के कारण प्रत्येक राज्य का कई बार विवेचन करना पड़ता है, क्योंकि

यह आवश्यक नहीं है कि यदि 'क' राज्य प्रथम विशेषता के संबंध में 'ख' राज्य के सदृश है, तो वह द्वितीय विशेषता में भी उससे मिलता हुआ होगा। अथवा यदि 'ग' राज्य तीसरी विशेषता के संबंध में 'घ' राज्य से भिन्न है, तो वह चौथी विशेषता के संबंध में भी उस राज्य से भिन्न होगा। यही वह वास्तविकता है जो इस प्रकार के वर्गीकरण को ही विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाती है और यह इतना बड़ा लाभ है कि वर्गीकरण की इस पद्धति के जो भी दोष हों उनकी हम उपेक्षा कर सकते हैं।

यह वर्गीकरण, जिसका हम विस्तारपूर्वक परीक्षण करने जा रहे हैं, उन अनेक सुझावों पर आधारित है जो कि तीन आधुनिक अंगरेज राज्य-वैज्ञानिकों—लॉर्ड ब्राइस, एडवर्ड जेंक्स, तथा सर जे० ए० आर० मेरियट—ने प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि इनमें से किसी ने भी यहां अपनाई गई योजना के अनुसार उनको क्रियान्वित नहीं किया। हमारा वर्गीकरण भी सर्वांगपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तुलनात्मक सांविधानिक राजनीति की विषयवस्तु का बहुत-सा भाग ऐसा है जिसका वर्गीकरण किया ही नहीं जा सकता। फिर भी यह वर्गीकरण विद्यार्थियों को इस विषय का परिचय कराने के लिए पर्याप्त है। कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर जो कि इस वर्गीकरण की सीमा से बाहर रह जाते हैं, इस पुस्तक के तीसरे भाग में विचार किया जाएगा। तब तक हमें इस वर्गीकरण पर अधिक ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

३. राज्य का स्वरूप जिसे संविधान लागू होता है

एकात्मक अथवा संघीय

प्रत्येक आधुनिक सांविधानिक राज्य—एकात्मक अथवा संघीय—इन दो बड़े वर्गों में से किसी एक का होता है, और यहीं से एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद प्रारम्भ हो जाता है। एकात्मक राज्य वह है जिसका संगठन एक केन्द्रीय शासन के अधीन होता है। केन्द्रीय शासन के द्वारा संपूर्ण रूप से प्रशासित क्षेत्र के भीतर के विभिन्न जिलों की जो भी शक्तियां होती हैं, वे उनका प्रयोग उस शासन के विवेक के अनुसार ही कर सकते हैं और केन्द्रीय सत्ता सर्वोच्च होती है तथा उसके भागों को विशेष शक्तियां देनेवाली जैसी किसी विशेष विधि का उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। स्वर्गीय प्रोफेसर डायसी ने राजनीतिक अर्थ में **'एकात्मकवाद'** की इन सुन्दर शब्दों में व्याख्या की है कि वह "सर्वोच्च विधायिनी शक्ति का एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा अभ्यस्त प्रयोग है।" यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस तथा बेल्जियम एकात्मक राज्यों के उदाहरण हैं। इनमें से किसी भी देश में ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि राज्य के किसी लघुतर भाग की कोई विधिनिर्मात्री संस्था केन्द्रीय सत्ता की शक्ति पर कोई रोक लगा सके। जहां, उदाहरणार्थ यूनाइटेड किंगडम में, स्थानीय शासन सुदृढ़ है, वहां की केन्द्रीय सत्ता पर, जो कि स्थानीय अधिकारियों को दबा सकती है, कोई प्रतिबन्ध नहीं है; क्योंकि आजकल केन्द्रीय सत्ता ही उन समस्त शक्तियों

को, जो कि स्थानीय प्राधिकारियों के पास हैं, प्रदान करती है। इसलिए, वह उन शक्तियों में संशोधन भी कर सकती है अथवा उन्हें वापस भी ले सकती है। वास्तविकता तो यह है कि ब्रिटेन में स्थानीय अधिकारी विधि-निर्माण करनेवाले नहीं, उपविधि अथवा उपनियम निर्माण करनेवाले है।

संघीय राज्य वह है जिसमें अनेक समकक्षी राज्य कुछ सामान्य प्रयोजनों के हेतु मिल जाते हैं। प्रोफेसर डायसी के शब्दों में "संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक योजना है, जिसका उद्देश्य 'राज्यों के अधिकारों' का राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। हमें एकात्मक राज्य में के स्थानीय शासन और संघीय राज्य के अन्तर्गत राज्य-शासन के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए। संघीय राज्य में केन्द्रीय अथवा संघीय सत्ता की शक्तियां उन इकाइयों को, जो सामान्य प्रयोजनों के लिए इकट्ठी हुई हैं, प्राप्त कतिपय शक्तियों से सीमित होती हैं। इस भांति हम देखते है कि संघीय राज्य में संघीय सत्ता तथा संघ का निर्माण करनेवाली इकाइयों की सत्ताओं की शक्तियों में एक अन्तर होता है। ऐसी दशा में ऐसी कोई विशिष्ट सत्ता होनी चाहिए जो इस वितरण का निश्चय करे। ऐसी विशिष्ट सत्ता संविधान ही है। संघीय संविधान का स्वरूप संधि का स्वरूप है। यह ऐसे कुछ राज्यों के बीच में की गई व्यवस्था है, जो कुछ अधिकारों को अपने पास रखना चाहते हैं। इस भांति संविधान में उन सब अधिकारों को जिन्हें संघनिर्माण करनेवाली इकाइयां अपने पास रखती है, अथवा उन अधिकारों को प्रकट किया जाता है जिन्हें संघीय सत्ता ग्रहण करती है। दोनों ही दशाओं में यह स्पष्ट है कि न तो राज्यों के साधारण विधानमंडलों को और न संघ के विधानमंडल को ही ऐसी कोई शक्ति प्राप्त हो सकती है, जिससे वह संविधान में संविधान-निर्माण करनेवाले सदस्यों के मत को जानने के लिए किसी विशेष साधन से काम लिए बिना कोई परिवर्तन कर सके। एक सच्चे संघीय राज्य में इन साधनों को संविधान में निश्चित रूप से उल्लिखित किया जाता है। साथ ही ऐसी भी कोई-न-कोई सत्ता होनी चाहिए जो संघीय तथा राजसत्ताओं के बीच के विवादों को, यदि कभी ऐसे विवाद उत्पन्न हो जाएं, निपटा सके। ऐसी सत्ता सामान्यतया न्यायाधीशों का एक सर्वोच्च न्यायालय होती है।

अतएव, पूर्णरूपेण विकसित संघवाद में तीन विशेषताएं स्पष्ट रूप से अंकित होती हैं: प्रथम, संघ की स्थापना करनेवाले संविधान की सर्वोच्चता; द्वितीय, संघराज्य तथा उसको बनानेवाले समकक्षी राज्यों के बीच में शक्तियों का वितरण; और तृतीय, किन्हीं भी ऐसे विवादों को जो कि संघीय तथा राज्यसत्ताओं में उत्पन्न हो जाएं, निपटानेवाली कोई सर्वोच्च सत्ता। ऐसे सभी राज्य जो कि संघराज्य कहलाते हैं, बिलकुल ऐसे ही नहीं होते। वास्तव में, संघवाद पूर्णता तथा यथार्थता के विभिन्न रूपों में विद्यमान है। ऐसे राज्यों को जो कि पूर्णतया संघीय राज्य से नहीं मिलते, अर्द्ध-संघीय राज्य कहा जा सकता है। हम आगे के एक अध्याय में इन भदों का अधिक ध्यानपूर्वक परीक्षण करेंगे। विद्यमान संघराज्यों में यहां हम संयुक्तराज्य अमरीका, स्विट्जरलड, आस्ट्रेलिया, कनाडा, तथा सोवियत् रूस

की ओर ध्यान दे सकते है। यद्यपि इन राज्यों में पर्याप्त अतर दिखाई देता है, तो भी ये संघीय राज्य के मूल नियम के अनुरूप हैं, अर्थात् इनमें से प्रत्येक ऐसे अनेक छोटे-छोटे राज्यो से बना है, जो संयोग चाहते हैं परन्तु एकता नही चाहते, अर्थात् सम्मिलित होना तो चाहते हैं परन्तु अपना अस्तित्व मिटाकर बिल्कुल एक हो जाना नहीं चाहते।

हमने संघीय राज्य का उल्लेख किया है, परंतु इसके साथ ही हमने संघ में सम्मिलित होनेवाली इकाइयों का भी राज्यों के नाम से उल्लेख किया है। इसका एकमात्र कारण भाषा की कमी है। जैसे ही अनेक राज्य एक संघ बना लेते है, वैसे ही वे संघीय राज्य के निर्माण-कर्त्ता भाग बन जात हैं और पूर्ण अर्थो में राज्य नहीं रहते, क्योंकि वे राज्य के उस आवश्यक तत्त्व के कुछ भाग का त्याग कर चुकते हैं, जिस पर हमने पहले जोर दिया है, अर्थात् प्रभु-सत्ता। इस प्रकार अमरीका के संघ के अड़तालीस राज्य वास्तविक राज्य नहीं हैं, उन अड़-तालीस राज्यों का संघ ही वास्तविक राज्य है। तो भी राज्यों के पास विस्तृत विधायिनी शक्ति है और उनके विधानमंडलों को अर्द्ध-प्रभुत्वसंपन्न विधानसभाएं कह सकते हैं। इसी भांति, आस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ के छह राज्यों में से कोई भी वास्तविक राज्य नहीं है। कॉमनवेल्थ ही एक राज्य है, यद्यपि वह ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का, जिसकी रचना में किसी भी संघीय तत्त्व का समावेश नहीं है, एक अंग भी है। एक अगले अध्याय में हम इसके संबंध में अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि हमारे पास आधुनिक सावि-धानिक राज्यों के वर्गीकरण के लिए यह एक सुदृढ़ आधार है। यद्यपि, जैसा कि आगे चलकर बताया जाएगा, एकात्मक राज्यों के अनेक रूप हैं, और इसी भांति संघराज्य भी अनेक प्रकार के है, फिर भी आज का कोई भी सांविधानिक राज्य इन दो कोटियों में से बिलकुल ही बाहर का नहीं हो सकता।

इसी शीर्षक के अधीन हम यह भी बता सकते थे कि वर्गीकरण का एक और सहायक आधार है: राज्य का केंद्रीयकृत अथवा स्थानीयकृत होना अर्थात् राज्य में स्थानीय शासन का प्रबलत्व है अथवा नही। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन एक स्थानीयकृत राज्य है, क्योंकि वहां की स्थानीय सरकार वहां के समाज के राज-नीतिक जीवन में बड़ा कार्य करती है। इसके अतिरिक्त फ्रांस अतिकेन्द्रित राज्य है, जिसमें स्थानीय सत्ताओं को बहुत कम उत्तरदायित्व सौंपा हुआ है, और जो कुछ दिया भी गया है उस पर भी केन्द्रीय शासन के अधिकारी के द्वारा, जो कि '**प्रिफेक्ट**' कहलाता है, तीव्र दृष्टि रखी जाती है, तथा उसे सीमित किया जाता है। यद्यपि यह प्रश्न अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्त्व का है, फिर भी यहां हम इस पर अधिक विचार नही करेंगे, क्योंकि इससे हम अपने मुख्य विषय से बहुत दूर चल जाएंगे। हम यहां पर इसकी चर्चा किसी भी स्थानीय शासन तथा (संघ के भीतर के) राज्य-शासन के बीच के भेद पर जोर देने के लिए कर रहे हैं। यह भेद इस बात से स्पष्ट है कि फ्रांस में, जो कि एकात्मक राज्य है, स्थानीय शासन मन्द है, जब कि

संयुक्तराज्य अमरीका का, जो कि एक संघराज्य है, निर्माण करनवाले राज्यों में से हरएक का स्थानीय शासन बड़ा सक्रिय है और उसके संबंध में प्रत्येक को बडा गौरव एवं अभिमान है।

४. स्वयं संविधान का स्वरूप

(क) अलिखित अथवा लिखित—एक मिथ्या भेद

प्रायः संविधानों को अलिखित तथा लिखित में विभाजित किया जाता है; परन्तु यह एक मिथ्या भेद है, क्योंकि ऐसा कोई भी संविधान नहीं है जो कि पूर्णरूप से अलिखित हो और न ऐसा ही कोई संविधान है जो पूर्णरूपेण लिखित हो। साधारणतया लिखित कहा जानेवाला संविधान एक दस्तावेज के रूप में होता है जो विशेष पवित्र समझा जाता है। साधारणतया अलिखित कहलानेवाला संविधान लिखित विधि की बजाय प्रथाओं के आधार पर विकसित होता है। परन्तु कभी-कभी तथाकथित लिखित संविधान इतना पूर्ण विलेख होता है जिसमें संविधान के निर्माताओं ने उसके प्रवर्त्तन में घटित हो सकनेवाली प्रत्येक आकस्मिकता की व्यवस्था के लिए प्रबन्ध किया होता है। अन्य अवस्थाओं में लिखित संविधान अनेक मूल विधियों में पाया जाता है जिनका निर्माण या अंगीकरण संविधान-निर्माता इस दृष्टि से करते हैं कि उस प्रकार प्रस्तुत ढांचे के अन्दर संविधान के विकास के लिए साधारण विधि-निर्माण की प्रक्रिया की यथासंभव अधिक-से-अधिक गुंजाइश हो।

ग्रेट ब्रिटेन का संविधान अलिखित कहा जाता है, परन्तु वहां ऐसी कुछ लिखित विधियां हैं जिन्होंने संविधान में पर्याप्त रूप से परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ, अधिकारों का विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) (सन् १६८९) संविधान की ही विधि है; इसी भांति उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दियों के विभिन्न मताधिकारसंबंधी अधिनियम और विशेषतया सन् १९११ तथा १९४९ के संसदीय अधिनियम हैं, जो लोकसदन द्वारा पारित विधेयकों को संशोधित अथवा रद्द करने की सामंत सभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) की शक्ति को कम करते हैं। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान समस्त संविधानों में सर्वाधिक पूर्णलिखित संविधान है। फिर भी कतिपय अलिखित परम्पराएं अथवा रूढ़ियां, स्वयं संविधान में इस संबंध में किसी शाब्दिक परिवर्तन के बिना ही, संविधान के निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न हो गई है। इस संबंध में उदाहरणस्वरूप संविधान के अनुच्छेद २, धारा १ (बारहवें संशोधन के सहित) को प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके अनुसार यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए जनता निर्वाचकों को चुने, जो एकत्रित होकर बहुमत से उस व्यक्ति का निर्वाचन करें, जिसे वे चाहें। परन्तु व्यावहारिक रूप में, जैसा कि हम बाद में बताएंगे, ऐसा कभी भी नहीं होता।

अतएव, हम फिर कह देना चाहते हैं कि संविधान का इस आधार पर वर्गीकरण भ्रमात्मक है कि वह अलिखित है अथवा लिखित। निस्संदेह, कभी-कभी तथाकथित

लिखित और तथाकथित अलिखित संविधान में भेद करना आवश्यक हो जाता है और जब कभी हमें ऐसा करने की आवश्यकता होगी, तो हम पहले को दस्तावेजी तथा दूसरे को गैर-दस्तावेजी संविधान कहेंगे ।

(ख) अनमनीय तथा नमनीय

स्वयं संविधान के स्वरूप को देखते हुए संविधानों के वर्गीकरण का वास्तविक आधार यह है कि यह अनमनीय है अथवा नमनीय । बहुधा यह समझा जाता है कि यह विभाजन वैसा ही है जैसा कि दस्तावेजी अथवा गैर-दस्तावेजी संविधान का । परन्तु यह धारणा त्रुटिपूर्ण है । इस बात के होते हुए भी कि गैर-दस्तावेजी संविधान नमनीय ही हो सकता है, यह संभव है कि दस्तावेजी संविधान अनमनीय न हो । तब वह कौन-सी बात है जिससे संविधान अनमनीय अथवा नमनीय बनते हैं । यहां दोनों के बीच के भेद का आधार यही है कि सांविधानिक विधियों के निर्माण की क्रिया तथा साधारण विधि के निर्माण की क्रिया एक-सी है अथवा नही । जो संविधान किसी विशेष प्रणाली के बिना बदला अथवा संशोधित किया जा सकता है, वह नमनीय संविधान है । जिस संविधान को बदलने या संशोधित करने के लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, वह अनमनीय संविधान है ।

उदाहरणस्वरूप, ग्रेट ब्रिटेन में सर्वदा ठीक एक-सी ही विधायिनी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है, चाहे उस पारित किए जानेवाले विधेयक का संबंध जानवरों को खेल करना सिखानेवालों की पद्धति पर नियंत्रण रखने से अथवा सामंतसभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स)की शक्तियों में क्रांतिकारी परिवर्तन करने से हो । यूनाइटेड किंगडम में वास्तव म विशिष्ट सांविधानिक विधि जैसी कोई चीज नही है । अतएव,यूनाइटेड किंगडम का संविधान नमनीय है । इटली के पिछले राज्य के सम्बन्ध में यही बात ठीक थी । यद्यपि एकतंत्र के अधीन इटली में दस्तावेजी संविधान था, परन्तु उसको बदलने के लिए संविधान में कोई विशेष प्रक्रिया निर्धारित नही थी । वास्तव में, उक्त संविधान सन् १८४८ का मूल सार्डीनियन संविधान (स्टेटुओ) था जो कि साधारण विधायिनी प्रक्रिया द्वारा एक बढ़ते हुए राज्य तथा अधिक प्रगतिशील राजनीतिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुकूल बना लिया गया था । यह सचमुच इतना नमनीय था कि अपनी अधिनायकता के प्रारम्भिक वर्षों में मुसोलिनी इस संविधान को भंग किए बिना ही उसकी मल भावना का भारी उल्लंघन करने में समर्थ हो सका । यह सब इटली मे अब बदल चुका है, क्योंकि सन् १९४७ का इसका गणतंत्रीय संविधान, जिसका हम आगे चलकर विस्तार के साथ विवेचन करेंगे, अत्यधिक अनमनीय है । उसमें उन तरीकों के बारे में, जिनसे कि इसमें संशोधन किया जा सकता है, अत्यन्त विस्तार के साथ निर्देश दिए गए है ।

इस भांति हम एक तरह से एक विचित्र विरोधाभास की स्थिति पर पहुंचते हैं। कोई संविधान अत्यधिक लिखित प्रकार का हो, अथवा वह पृथक्-पृथक् संविधियों का एक बड़ा समूह हो, फिर भी वह नमनीय हो सकता है। यह तथ्य ही कि वह विभिन्न समयों पर पारित अनेक विधियों का बना हुआ है, उसकी नमनीयता का प्रतिपादन करते है, क्योंकि जहां सांविधानिक संशोधन के लिए एक विशेष प्रणाली को कार्यान्वित करना पड़ता हो, वहा संशोधन बहुत बड़ी संख्या में नही हो सकते। इस विरोधाभास का एक और उदाहरण तृतीय फ्रेंच राज्य का संविधान है। वह अत्यल्प लिखित विलेख होते हुए भी अनमनीय था, क्योंकि उसकी मलभत विधियों में परिवर्तन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपेक्षित थी। सन् १९४६ में प्रख्यापित चतुर्थ फ्रेंच गणराज्य का संविधान भी यदि अधिक नहीं तो समान रूप में ही अनमनीय है, यद्यपि इसमें तथा तृतीय गणराज्य के संविधान के रूप में विभिन्नता है, क्योंकि यह एक पूर्ण एवं विशद दस्तावेज है। संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान भी अनमनीय है, क्योंकि विशेष प्रणाली को कार्यान्वित किए बिना इसमें संशोधन नहीं किए जा सकते। इस परिस्थिति में यह निश्चय ही आवश्यक हो जाता है क्योंकि संविधान में संघ-सरकार को ही दी गई शक्तियों को निश्चित रूप से निर्धारित किया गया है, और यदि वह इससे आगे बढ़ती है, तो वह संविधान को नमाना नही, वरंच भंग करना होगा। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि जो संविधान भंग किए बिना नमाया न जा सके, वही अनमनीय संविधान है।

५. विधानमंडल का स्वरूप

आधुनिक सांविधानिक राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग विधानमंडल अथवा विधि-निर्माता निकाय है। इस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण करने के विभिन्न तरीके हमारे सामन हैं, परन्तु उनमें से अधिकतर विशेष लाभदायक नहीं हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विधानमंडलों को एकसदनीय अथवा द्विसदनीय मंडलो में विभाजित करना अधिक सारपूर्ण नही है, क्योंकि इससे समस्त महत्त्वपूर्ण राज्य एक कोटि में तथा कम महत्त्व के समस्त अन्य राज्य, उदाहरणस्वरूप फिनलैंड और तुर्की, दूसरी कोटि में आ जाएंगे।[1] इसके अतिरिक्त संसदीय प्रक्रियाओं की पद्धतियों के आधार पर विधानमंडलो के वर्गीकरण का प्रयत्न भी हमें इस अध्ययन में बहुत आगे नहीं ले जा सकता। इस विषय में अधिक महत्त्व की बात तो उन तरीकों की जांच करना है, जिनसे बड़े राज्यों के दोनों—निम्न तथा उच्च—सदनों की रचना होती है, क्योंकि इसी स्तर पर तो नागरिक संपर्क में आते हैं। इस संबंध में आधुनिक संविधानों को दो प्रकार के तथ्यों के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले हम उनका विभाजन उस निर्वाचन-प्रणाली के स्वरूप के आधार पर कर सकते हैं, जिसके अनुसार निम्न सदन के सदस्य चुने जाते हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत मताधिकार तथा

---

[1]. एकसदनीय विधानमंडलों की सूची में अब न्यूज़ीलैंड का नाम भी सम्मिलित करना चाहिए, क्योंकि वहां १ जनवरी सन् १९५१ को उच्च सदन (विधान परिषद्) को समाप्त कर दिया गया।

Liste) के नाम से ज्ञात पद्धति द्वारा मतदान किया। वास्तव में तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद से फ्रांस ने बारी-बारी से दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया है। तृतीय गणराज्य के अन्तिम वर्षों में उसने पुनः एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की पद्धति को अपनाया था, किन्तु इसके पश्चात् ही उसने अस्थायी विधानमंडल के निर्वाचन के लिए सामूहिक मतदान की प्रणाली को पुनः आरम्भ किया, जिसने चतुर्थ गणराज्य के संविधान का प्रारूप तैयार किया और सन् १९५१ के आनेवाले साधारण निर्वाचन के लिए दलमैत्री अथवा अपरेंटीमेंट्स (Apparentements) की अतिजटिल प्रणाली का सूत्रपात किया। निर्वाचन-क्षेत्र को विस्तृत करने की यह पद्धति मुसोलिनी के अधिनायकतंत्र में इटली में चरम सीमा पर पहुंच गई थी, जहां उसने सम्पूर्ण इटली को एक विस्तृत निर्वाचक-मंडल में बदल दिया था।

हम इस प्रश्न पर भी बाद के एक अध्याय में विस्तार के साथ विचार करेंगे। यहां पर केवल यही कहना आवश्यक है कि इस प्रश्न से आधुनिक संविधान को दो बड़े प्रकारों में बांटने में सहायता मिलती है। कुछ राज्यों में एकलसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र का निम्नसदन के निर्वाचनों के लिए और बहु-सदस्यां-निर्वाचन-क्षेत्र का उच्चसदन के निर्वाचन के लिए प्रयोग किया जाता है। उदाहरणस्वरूप आस्ट्रेलिया में ऐसा ही होता है। ब्रिटिश मतदाताओं के लिए भावी लोकतंत्र में इस अर्थ में निर्वाचन-क्षेत्रों की पुनर्व्यवस्था के संभव लाभों पर विचार करना लाभदायक होगा।

(ख) द्वितीय सदन के प्रकार

द्वितीय सदन के प्रकारों के अनुसार विभाजन से आधुनिक संविधानवाद के एक बहुत ही दिलचस्प तुलनात्मक अध्ययन के लिए आधार प्राप्त होता है। इस शीर्षक के अधीन दो मुख्य विभाजन होते हैं : द्वितीय सदन निर्वाचित होता है अथवा अनिर्वाचित। इन दोनों के बीच में एक ऐसा अनिश्चित मध्यवर्त्ती क्षेत्र भी है, जिसमें द्वितीय सदन आंशिक रूप से अनिर्वाचित होता है, जैसा कि गणतंत्र के पहले स्पेन में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की पराजय तक उसमें था और जैसा कि आज भी दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन तथा मिस्र में है। फिर भी यह विभाजन द्वितीय सदन की समस्या के, जिस पर हम बाद के अध्याय में विचार करेंगे, अध्ययन करने का एक अच्छा आधार है।

निर्वाचित उच्च सदनों के रूप में सुज्ञात संयुक्तराज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, आयर तथा इटली[1] की सिनेट, फ्रांस[2] की गणतंत्रीय परिषद्

---

[1]. अर्थात् गणराज्य (१९४७) के संविधान के अधीन।

[2]. अर्थात् चतुर्थ गणराज्य (१९४६) के संविधान के अधीन; गणराज्य-परिषद् ने तृतीय गणराज्य की सिनेट का स्थान ले लिया है।

तथा स्विट्जरलड की राज्यों (अर्थात् केण्टनों) की परिषद् उल्लखनीय हैं। अनिर्वाचित द्वितीय सदनों के उल्लेखनीय उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन की सामन्तसभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) तथा कनाडा की सिनेट हैं। साधारणतया जहां द्वितीय सदन निर्वाचित होता है, वहां यह, जैसी कि आशा की जानी चाहिए, अनिर्वाचित द्वितीय सदन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस भांति, उदाहरणस्वरूप, जब कि संयुक्तराज्य अमरीका की सिनेट कांग्रेस के दोनों सदनों में से अधिक प्रभावशाली है, वहां ग्रेट ब्रिटेन में सामन्तसभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) विधानकार्य को प्रभावित करने में लगभग शक्तिहीन हो गई है।

६. कार्यपालिका का स्वरूप

संसदीय अथवा असंसदीय

विभाजन का चौथा आधार कार्यपालिका का स्वरूप है। जैसा कि हमने पहले कहा हैं, कार्यपालिका का यह कार्य है कि वह नीति का निर्माण करे तथा उस नीति को तब कार्यान्वित करे जब कि उसे विधानमंडल के माध्यम से विधि की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। समस्त सांविधानिक राज्यों में कार्यपालिका की शक्ति पर प्रतिबन्ध होते हैं; अर्थात् कार्यपालिका सदा ही किसी-न-किसी के प्रति उत्तरदायी होती है। निस्संदेह, अन्तिम अर्थ में, यह कहना ठीक होगा कि आधुनिक परिस्थितियों में कार्यपालिका सदैव ही जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, परन्तु क्योंकि यह बात सभी जगह लागू होती है, अतः इससे वर्गीकरण में सहायता नहीं मिलती। यहां हम जिस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं, वह तो यह है कि तात्कालिक उत्तरदायित्व किस पर है। इस प्रश्न का उत्तर हमें सांविधानिक राज्यों को दो बड़े वर्गों में विभाजित करने का आधार प्रदान करता है; क्योंकि व्यवहार-रूप में कार्यपालिका या तो संसद् (अर्थात् विधानमंडल) के प्रति उत्तरदायी होती है, जो उसे उस समय हटा सकती है जब कि वह उसका विश्वास खो दे अथवा कार्यपालिका नियतकालिक राष्ट्रपति-निर्वाचन जैसे अधिक दूरवर्त्ती नियंत्रण के अधीन होती है। तात्कालिक रूप से संसद् के प्रति उत्तरदायी होने की अवस्था में उसे **संसदीय कार्यपालिका** कहा जाता है। परन्तु यदि वह निश्चित अवधि पर किसी अधिक विस्तृत निकाय के प्रति तात्कालिक रूप से उत्तरदायी हो और संसदीय कार्यवाही द्वारा नहीं हटाई जा सकती हो तो उसे **असंसदीय अथवा स्थायी कार्यपालिका** कहा जाता है।

इस भेद से आधुनिक सांविधानिक राजनीति में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार उत्पन्न होता है। विशेष रूप से इसी कारण हम एकतंत्र तथा गणतंत्र जैसे पारिभाषिक शब्दों पर आधारित विभाजन को निरर्थक पाते है। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस को ही लीजिए। इस आधार पर विचार करने से हम इस भ्रम में पड़ जाएंगे कि प्रथम उदाहरण में राजा तथा दूसरे में राष्ट्रपति ही कार्यपालिका है; इनमें से कोई भी बात ठीक नही है। इसके विपरीत, इन दोनों अवस्थाओं में ही कार्यपालिका मंत्रिमंडल है, क्योंकि राजा और राष्ट्रपति दोनों ही अपने मंत्रियों के विनिश्चयों के मुकाबले में राजनीतिक रूप से शक्तिहीन

हैं। इंगलैंड का अन्तिम राजा जॉर्ज तृतीय (सन् १७६०-१८२०) था, जिसने कार्यपालिका के कार्य में वास्तव में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया था, परन्तु वह इस उद्देश्य की प्राप्ति में बिलकुल ही असफल रहा। फ्रांस में अन्तिम राष्ट्रपति **एम० मिलरां** (M. Millerand) था, जिसने कार्यपालिका के कार्य में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया, और ऐसा करने के कारण उसे त्यागपत्र देना पड़ा।[1]

अतः, यह स्पष्ट है कि वे समस्त राज्य जिनमें कार्यपालिका निर्वाचित सभाओं के प्रति उत्तरदायी है, एक विशिष्ट कोटि के होते हैं। इस प्रकार की सरकार या तो मंत्रिमंडलीय सरकार कहलाती है, क्योंकि ऐसे सभी राज्यों में कार्यपालिका न्यूनाधिक रूप में ऐसे मंत्रि-मंडल के नमूने की होती है जैसी कि इंगलैंड में अठारहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से स्थापित की गई थी, अथवा वह उत्तरदायी सरकार कहलाती है। इस शब्द का प्रयोग सामान्यतया ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्व-शासित डॉमिनियनों के लिए ही किया जाता है, जहां मंत्रिमंडलीय शासन की स्थापना का संबंध मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के ब्रिटिश सरकार के पास से प्रत्येक डॉमिनियन की निर्वाचित सभा को सौंपे जाने से रहा है।

इस समय एकमात्र विचारणीय ऐसा लोकतंत्रीय राज्य, जिसकी कार्यपालिका असंसदीय अथवा स्थायी है,[2] अमरीका का संयुक्तराज्य ही है। पिछले जर्मन साम्राज्य म भी कार्यपालिका स्थायी ही थी, यद्यपि वह अमरीका की कार्यपालिका से बिलकुल भिन्न प्रकार की थी। साम्राज्यवादी जर्मनी में स्वयं सम्राट् वास्तविक अर्थ में कार्यपालिका था; क्योंकि वह इम्पीरियल चांसलर (प्रधान मंत्री) के माध्यम से कार्य करता था, जिसे वह अपनी इच्छा से नियुक्त अथवा पदच्युत कर सकता था। उदाहरण के लिए, इसका व्यावहारिक रूप सन् १८९० की सुप्रसिद्ध घटना **'चालक का परित्याग'** में देखने को मिलता है, जब कि कैसर, द्वितीय विलहेल्म ने विस्मार्क को पदच्युत कर दिया। परन्तु यह निस्संदेह ही जर्मनी का पुराना युग था। वेमर गणतंत्र (सन् १९१९) के संविधान के अधीन कार्यपालिका संसदीय प्रकार की थी। इस संबंध में यह बड़ी मार्के की बात थी कि जर्मनी में उस महान् सुधार का कारण राष्ट्रपति विल्सन की यह मांग थी कि सन् १९१८ में जर्मनी के साथ अपनी संधिसंबंधी वार्त्ता करते समय उन्हें यह आश्वासन हो कि वे एक लोकतंत्रीय सरकार के साथ बात कर रहे हैं। हिटलर के अधिनायकतंत्र में कार्य-पालिका स्पष्टतः संसदीय नहीं थी, परन्तु वह शासन किसी भी दशा में सांविधानिक राजनीति

---

[1]. चतुर्थ गणतंत्र में यही बात है, क्योंकि राष्ट्रपति को वास्तविक कार्यपालिका के कार्य देने के प्रयत्नों के किए जाने पर भी सन् १९४६ के संविधान ने उसे केवल नाममात्र की शक्तियां ही प्रदान कीं।

[2]. सोवियत् रूस की कार्यपालिका-पद्धति सांविधानिक राजनीति के बाहर का विषय है।

के अन्तर्गत नहीं था। इटली के फासिस्ट शासन के संबंध में भी यही बात है। तुर्की गणतंत्र में भी कार्यपालिका किसी हद तक स्थायी है; परन्तु वहां की परिस्थिति विचित्र है, क्योंकि वहां राष्ट्रपति गणतंत्र, मंत्रिमंडल, विधानमंडल तथा लोकसभा के बहुमतदल, इन चारों का अध्यक्ष है।

संयुक्तराज्य अमरीका में कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति तथा उसके मंत्रिगण होते हैं। परन्तु मंत्रिगण का कांग्रेस (संसद्) की इच्छा के अधीन होना तो दूर रहा, उन्हें प्रतिनिधि-सदन अथवा सिनेट में बोलने अथवा मत देने की भी अनुमति नहीं है। कार्यपालिका तथा विधानमंडल में वैयक्तिक संपर्क राष्ट्रसभा को संबोधित राष्ट्रपति के संदेश के माध्यम से ही होता है जो वर्ष में एक बार किया जाता है (अथवा अधिक बार भी किया जा सकता है यदि असाधारण परिस्थितियों में विशेष सत्र की आवश्यकता हो)। कार्यपालिका पर केवल यही नियंत्रण है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है जो प्रति चार वर्ष में होता है। परन्तु एक बार निर्वाचित हो जाने पर राष्ट्रपति अपने मंत्रियों को सिनेट के अनुमोदन के अनुकूल चुन तथा पदच्युत कर सकता है। राष्ट्रपति को उसके पद के निश्चित काल के बीच में ऐसे वास्तविक दुराचरण के सिवाय अन्य किसी कारण से भी नहीं हटाया जा सकता, जिसके लिए उस पर महाभियोग चलाया जा सकता है; अर्थात् कांग्रेस द्वारा उस पर अभियोग चलाया जा सकता है। अपने कार्यकाल के अन्त में वह बना रहे अथवा न रहे, यह केवल जनता की इच्छा पर, जैसी कि वह निर्वाचन में अभिव्यक्त होती है, निर्भर है। चूंकि कार्यपालिका का वह प्रकार जिसे हमने असंसदीय या स्थायी कहा है, इस तरह अमरीकी राष्ट्रपतित्व से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है; अतः, उसे मंत्रिमंडल-सरकार के मुकाबले में राष्ट्रपति-सरकार भी कहा जाता है।

७. न्यायपालिका का स्वरूप

विधि का शासन अथवा प्रशासनीय विधि

वर्गीकरण का हमारा अन्तिम आधार शासन के तीन विभागों में से तीसरे अर्थात् न्यायपालिका से संबंधित है। विचाराधीन विषय से ही इसका विवेचन आवश्यक हो जाता है। सांविधानिक राज्यों में विधानमंडल के समान ही न्यायपालिकाओं का वर्गीकरण करने के भी अनेक संभव तरीके हैं, किन्तु उनमें बहुत-से उस क्षेत्र के अन्दर ही आ जाते हैं जिसमें हम अभी होकर आए हैं और आगे भी जाएंगे। उदाहरण के लिए हम उन्हें ऐसे प्रकारों में विभाजित कर सकते है जो विधानमंडलों के अधिनियमों पर आपत्ति कर सकते हैं तथा उनका निर्वचन अथवा व्याख्या कर सकते हैं, जैसा संयुक्तराज्य अमरीका में होता है, तथा जो बिना कोई आपत्ति किए ऐसे अधिनियमों को लागू करने को बाध्य हैं, जैसे ग्रेट ब्रिटेन में। परन्तु यह ऐसा अन्तर है जिसकी हम राज्य के तथा संविधान के स्वरूपसंबंधी अधिक विस्तृत

व्याख्या में मीमांसा करेंगे। यहां पर वास्तविक महत्त्वपूर्ण अन्तर न्यायपालिका का कार्य-पालिका से संबंध के बारे में है।

महाद्वीपीय राज्यों में विधि की एक विशेष प्रणाली है, जिसके अनुसार राज्य के सेवकों की उनके शासकीय कर्त्तव्यों के सम्पादन के समय रक्षा की जाती है, यदि वे उन कर्त्तव्यों के करने के कारण ऐसे कार्यों के दोषी होते हैं, जो यदि अ-शासकीय व्यक्तियों के द्वारा किए जाते, तो अवैध होते। इस प्रणाली का जन्म फ्रांस में हुआ था, जहां इसे प्रशासनीय विधि (**ड्रॉइट एडमिनिस्ट्रेटिफ**) के नाम से पुकारा जाता है। महाद्वीप के अनेक राज्य जिन्हें अंगरेजी पद्धति पर अपनी कार्यपालिका संबंधी प्रणालियों के बनाने पर अन्य रूप से संतोष हुआ है, प्रशासनीय विधि को अंगीकृत करने में आंग्ल-सेक्सन भावना से बिलकुल हट गए ह; क्योंकि ब्रिटेन में तथा उन समदायों में जिनका उससे प्रत्यक्ष रूप से आविर्भाव हुआ है, और जो उसकी विधिसंबंधी प्रणाली को अपनाए हुए हैं, भले ही उन सबों ने उसकी संविधानसंबंधी प्रणाली को न अपनाया हो, शासकीय कर्मचारियों की रक्षा के लिए प्रशासनीय विधि की कोई विशेष प्रणाली नहीं है। यूनाइटेड किंगडम, स्व-शासित डॉमिनियनों तथा औपनिवेशिक साम्राज्य में, संयुक्तराज्य अमरीका में और लेटिन-अमरीकी गणतंत्रों में (जो कि प्रायः संयुक्तराज्य अमरीका के नमूने पर बने हैं) शासकीय कर्मचारी विधि की दृष्टि में ठीक उसी स्थिति में हैं जिसमें कि अ-शासकीय नागरिक, और न्यायपालिका राज्य-पदाधिकारियों की ओर से किए गए ऐसे कार्यों के सम्बन्ध में, जो कि प्रजाजनों की स्वतंत्रता का उल्लंघन करनेवाले हों, राजकीय आवश्यकता की युक्ति को स्वीकार नहीं कर सकती। शासकीय कर्मचारियों की यह अनुन्मुक्ति ही **विधि का शासन** कहलाती है।

यह अन्तर विधिप्रणालियों के अन्तर के कारण है। इंगलैंड की सामान्य विधि अपने प्रारम्भ तथा विकास में महाद्वीप के राज्यों की विधिसंहिताओं से भिन्न है और यही विधि के शासन की आधार-शिला है, जो शासकीय कर्मचारियों को इस प्रकार अरक्षित छोड़ देती है। दूसरी ओर, महाद्वीप में विधिसंहिता-निर्माण की अधिक औपचारिक पद्धतियों के अन्तर्गत विशेष प्रशासनीय न्यायालयों (जो कि विधिसंहिता के बाहर कार्य करते है) के द्वारा राज्य के कर्मचारी की रक्षा की जाती है, और ये न्यायालय उसे नागरिक के मुकाबले में विधि के समक्ष विशेषाधिकार प्रदान करते हैं।

हम राज्यों को दो प्रकारों में विभाजित करके इस भेद को संक्षेप में इस भांति व्यक्त कर सकते हैं:—(१) सामान्य विधि वाले राज्य जिनमें कार्यपालिका, विधि के शासन के अधीन रहने से, अरक्षित रहती है; और (२) विशेषाधिकार वाले राज्य जिनमें प्रशासनीय विधि की एक विशिष्ट प्रणाली से कार्यपालिका को रक्षण प्रदान किया जाता है।

८. सारांश

अपने वर्गीकरण को संक्षेप में अब निम्नलिखित सारणी में इस भांति प्रकट किया जा सकता है :—

आधुनिक सांविधानिक राज्यों का वर्गीकरण

विभाजन का आधार	प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
१. उस राज्य का स्वरूप जिसे संविधान लागू होता है।	एकात्मक	संघीय अथवा अर्द्ध-संघीय
२. स्वयं संविधान का स्वरूप	नमनीय (आवश्यक रूप से अलिखित नहीं)	अनमनीय (आवश्यक रूप से पूर्णरूप में लिखित नहीं)
३. विधानमंडल का स्वरूप	(१) (क) पुरुष-मताधिकार	वयस्क-मताधिकार
	(ख) एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र	बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र
	(२) निर्वाचित अथवा आंशिक रूप में निर्वाचित द्वितीय सदन	अनिर्वाचित द्वितीय सदन
४. कार्यपालिका का स्वरूप	संसदीय	असंसदीय या स्थायी
५. न्यायपालिका का स्वरूप	सामान्य विधि वाले राज्य (विधि के शासन के अधीन)	विशेषाधिकार वाले राज्य (प्रशासनीय विधि के अधीन)

इस सारणी की परीक्षा करते समय पाठक को यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी एक राज्य जिसे वह परीक्षण के लिए चुने, अपनी समस्त विशिष्टताओं में आवश्यक रूप से एक ही प्रकार का नही होता। प्रत्येक राज्य को विभाजन के प्रत्येक आधार पर पृथक् रूप से देखना चाहिए। उदाहरण के लिए ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका को ही लीजिए। ब्रिटेन प्रथम आधार पर प्रथम प्रकार का है, द्वितीय आधार पर भी प्रथम प्रकार का है; तृतीय आधार (१) (क) पर द्वितीय प्रकार का है; तृतीय आधार (१) (ख) पर प्रथम प्रकार का है; तृतीय आधार (२) पर द्वितीय प्रकार का है, चतुर्थ आधार पर प्रथम प्रकार का है, तथा पंचम आधार पर भी प्रथम प्रकार का है। संक्षेप में, ब्रिटेन नमनीय संविधान, वयस्क-

मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधानमंडल, एकलसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रों, अ-निर्वाचित द्वितीय सदन वाला तथा विधिशासन के अधीन संसदीय कार्यपालिका से युक्त एक एकात्मक राज्य है। दूसरी ओर, संयुक्तराज्य के नाम से ज्ञात अमरीकी राज्यों का संघ प्रथम आधार पर द्वितीय प्रकार का, द्वितीय आधार पर द्वितीय प्रकार का; तृतीय आधार (१) (क) पर द्वितीय प्रकार का, तृतीय आधार (१) (ख) पर प्रथम प्रकार का, तृतीय आधार (२) पर प्रथम प्रकार का, चतुर्थ आधार पर द्वितीय प्रकार का, तथा पंचम आधार पर प्रथम प्रकार का है। दूसरे शब्दों में, संयुक्तराज्य अमरीका अनमनीय संविधान, वयस्क-मताधिकार पर निर्वाचित विधानमंडल, एकलसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र, निर्वाचित द्वितीय सदन वाला तथा विधि के शासन के अधीन अ-संसदीय कार्यपालिका से युक्त एक संघराज्य है।

अब हम सांविधानिक राज्यों के इन लक्षणों में से प्रत्येक के पूर्ण विवेचन की ओर अग्रसर होंगे।

प्रश्न

१. अरस्तू ने अपने समय के राजनीतिक संविधानों का किस प्रकार वर्गीकरण किया था ? वह वर्गीकरण आज किन बातों में पुराना पड़ गया है ?

२. संविधानों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल वर्गीकरण कीजिए।

३. आधुनिक राज्यों के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'एकात्मक' और 'संघीय' शब्दों की परिभाषा कीजिए।

४. आधुनिक संविधानों में लिखित एवं अलिखित संविधानों को वर्गीकृत करने में क्या दोष है ?

५. संविधानों के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'नमनीय' और 'अनमनीय' शब्दों का क्या तात्पर्य है ?

६. आधुनिक राज्य में विधानमंडल के निर्माण के सम्बन्ध में निर्वाचन-यंत्र का क्या महत्त्व है ?

७. 'मताधिकार' तथा 'निर्वाचन-क्षेत्र' से आप क्या समझते हैं ? संसदीय प्रतिनिधियों के निर्वाचन में वे क्या भाग लेते हैं ?

८. आधुनिक राज्य में कितने प्रकार के द्वितीय सदन विद्यमान हैं ? प्रत्येक के उदाहरण दीजिए।

९. 'संसदीय' और 'असंसदीय' अथवा 'स्थायी' कार्यपालिका में क्या भेद है ?

१०. 'विधि के शासन' से आप क्या समझते हैं ? उन राज्यों की विधिव्यवस्थाएं जिनमें इस प्रकार का शासन होता है, अन्य राज्यों की विधि व्यवस्थाओं से किस प्रकार भिन्न होती हैं ?

अध्याय ४

एकात्मक राज्य

१. आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व

हम कह चुके कि एकात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें हम "सर्वोच्च विधायिनी शक्ति का एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा अभ्यस्त प्रयोग" पाते हैं, जब कि संघराज्य "एक ऐसी राजनीतिक योजना है जिसका उद्देश्य राज्यों के अधिकारों का राष्ट्रीय ऐक्य तथा शक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है।" अर्थात्, संक्षेप में, ऐसा शासन जिसमें विधायिनी सत्ता केन्द्रीय अथवा संघीय शक्ति और ऐसी लघुतर इकाइयों में विभाजित रहती है जो अपनी शक्ति की पूर्णता के अनुसार कभी-कभी राज्य अथवा केण्टन और कभी-कभी प्रांत भी कहलाती हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए हमें प्रभुत्व के विषय पर अपने प्रारंभिक विवरण का कुछ और विस्तार करना चाहिए। प्रभुत्व की समस्या एक अत्यंत कठिन समस्या है। राजनीतिक दार्शनिकों और विधिविचारकों ने अपनी पुस्तकों के असंख्य पृष्ठों में इसके विवेचन का प्रयत्न किया है, फिर भी यह आज की राजनीति का प्रमुख प्रश्न बना हुआ है। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, प्रभुत्व के आन्तरिक तथा बाह्य दो पहलू हैं। हम आन्तरिक प्रभुत्व की परिभाषा राज्यों में एक व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय को उसके क्षेत्राधिकार के अन्दर व्यक्तियों या व्यक्तियों की संस्थाओं पर प्राधान्य के रूप में और बाह्य प्रभुत्व की परिभाषा एक राज्य की अन्य सब राज्यों के प्रति पूर्ण स्वतंत्रता के रूप में कर चुके हैं।

जहां तक कि आंतरिक प्रभुत्व की बात है, सारा प्रश्न 'राज्य' शब्द के अर्थ पर केन्द्रित है। एक बार यह मान लेने पर कि राज्य, अपने अन्दर के व्यक्तियों के, राजनीतिक रूप में संघटित सम्पूर्ण समाज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, रूसो की इस युक्ति के तर्क की आप प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते कि प्रभुत्व लोकप्रधान, अविभाज्य तथा अविच्छेद्य होता है। यद्यपि यह कहा जाता है कि प्रभुता शासन में निहित होती है, तथापि अंततः यह शासितों की शक्ति में ही होती है। किसी भी समय का कैसा भी निरंकुश शासन इस सत्य के बल पर, जैसा कि डेविड ह्यूम ने बहुत पहले कहा था, अपनी निरंकुशता में सीमित रहता है कि शक्ति सदा ही शासितों के पक्ष में रही है जो विद्रोही विचारों से पर्याप्तरूपेण विचलित होने पर शासन को उलट देने के लिए क्रांति कर सकते हैं। ज्योंही हम निरंकुश राज्यों से सांविधानिक राज्यों की ओर अग्रसर होत है यह मर्यादा और अधिक स्पष्ट हो उठती है। जैसा कि लेस्ली स्टीफेन ने लिखा है : "यदि कोई विधानमंडल यह निश्चय करे कि नीली आंखों वाले सभी शिशुओं का वध कर दिया जाए, तो नीली

आंखों वाले शिशुओं का संरक्षण अवैध होगा; परन्तु ऐसी विधि पारित करनेवाले विधायक पहले से ही पागल और ऐसी विधि को माननेवाले प्रजाजन पहले से ही विवेकशून्य हो चुके होंगे।"

हम वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु के भेद को बता चुके हैं और उदाहरणस्वरूप यह भी कह चुके हैं कि ग्रेट ब्रिटेन में 'संसद् सहित राजा' वैध प्रभु है। निर्वाचक-मंडल राजनीतिक प्रभु है जो वैध प्रभु को अपनी इच्छा के अनुकूल बना सकता है। यदि आप यह कहें कि व्यावहारिक रूप में ऐसा दिखाई देना बड़ा कठिन है, तो इसका तात्पर्य यह नही है कि आप जनता की राजनीतिक प्रभुता की वास्तविकता से इनकार कर रहे हैं; आप केवल इतना ही संकेत कर रहे हैं कि लोकमत की अभिव्यक्ति का माध्यम अच्छी प्रकार कार्य नहीं कर रहा है। कम-से-कम यह कहना उचित ही होगा कि आधुनिक प्रतिनिधि-शासन, जहां तक कि संसार अब तक पहुंच सका है, वैध तथा राजनीतिक प्रभुओं में उस सीमा तक एकरूपता स्थापित कर सका है, जहां तक वैसा कर सकना सम्भव है। ऐसे प्रतिनिधि-शासन की स्थापना रिवाज और विधियों के द्वारा अथवा किसी पूर्ण दस्तावेज के द्वारा होती है और ये दोनों संविधान कहलाते हैं। एक दृष्टिकोण से संविधान शासन तथा शासितों के बीच के संबंधों को निरूपित करने का एक प्रयास है। इस भांति, जहां सिद्धांत में वैध प्रभु की प्रभुता असीम तथा जनता की प्रभुता अविच्छेद्य रहती है, वहां व्यावहारिक रूप में एक की प्रभुता पर्याप्त रूप से सीमित रहती है और दूसरे की प्रभुता का सामाजिक शांति तथा राजनीतिक सामंजस्य के हेतु एक बहुत बड़ी सीमा तक त्याग कर दिया जाता है।

इस प्रकार सांविधानिक राज्य किसी ऐसे शासन का अधिकार-क्षेत्र है जिसके कृत्यों का अवधारण उस राज्य के संविधान में किया जाता है। इस भांति संविधान राज्य की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों सीमाओं का निरूपण करता है और राज्य की सीमाएं उसके बाह्य संबंधों पर विचार करते समय अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। आन्तरिक प्रभुता के समान ही बाह्य प्रभुता भी सिद्धान्तरूप में असीमित है, परन्तु व्यवहार में यह या तो संबंधित समुदाय की शांति की इच्छा से अथवा किसी ठोस लाभ की दृष्टि से निश्चयात्मक रूप में अथवा किसी पड़ोसी राज्य की उस समुदाय को कुचल डालने की शक्ति के भय से निषेधात्मक रूप में सीमित रहती है। इन दोनों में से किसी भी अवस्था का यह परिणाम हो सकता है कि वह राज्य अन्य राज्यों के साथ अपनी परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में वास्तविक संयोग स्थापित कर ले। ऐसे संयोग का सामान्य रूप मैत्री है जो या तो प्रतिरक्षात्मक (अर्थात् किसी भी सदस्य-राज्य पर आक्रमण होने की अवस्था में उसे सशस्त्र सहायता देना) या आक्रमणात्मक (अर्थात् उसके किसी एक सदस्य के आक्रमणकारी होने पर भी उसे सशस्त्र सहायता देना) हो सकती है। यह प्रभुता पर कोई औपचारिक प्रतिबंध नहीं है, क्योंकि संयोग का कोई भी सदस्य, जब भी वह चाहे, अपनी शर्तों का त्याग करने के लिए स्वतंत्र है भले ही मैत्री की शर्त में कोई अवधि निर्धारित क्यों न हो। इसका एक

उदाहरण वह घटना है जब कि इटली ने जर्मनी तथा आस्ट्रिया के साथ हुई त्रि-मैत्री से सन् १९१४ का महायुद्ध छिड़ने पर अपने को अलग कर लिया और अगले वर्ष ही अपने पूर्व मित्रों के शत्रुओं के साथ मित्रता कर ली। ऐसी ही बात इटली ने सन् १९४३ में भी की।

कोई राज्य कतिपय घटनाओं के अवसर पर कतिपय कार्यों के सम्पादन करने अथवा न करने की प्रतिज्ञा करते हुए भी अन्य राज्यों के साथ संयोग स्थापित कर सकता है। परन्तु, जैसा कि हम सन् १९१४ में बेल्जियम पर जर्मनी के द्वारा किए गए आक्रमण में देख चुके हैं, यह भी प्रभुता पर वास्तविक प्रतिबंध नहीं है। इससे भी बढ़कर वह कदम है जब कि कोई वैयक्तिक संयोग स्थापित होता है; जब दो या अधिक राज्य केवल इस माने में संयुक्त होते है कि उनके ऊपर एक ही राजा राज्य करता है। इसका उदाहरण सन् १७१४ से लेकर १८३७ तक ब्रिटेन तथा हेनोवर का संबंध है। इस भांति दो या अधिक राज्य, जो वंश के आधार पर संयुक्त होते हैं, आगे बढ़कर कूटनीतिक इकाई के रूप में विश्व के सामने आ सकते हैं। इसके उदाहरण सन् १८६७ से १९१८ तक के आस्ट्रिया तथा हंगरी और सन् १८१५ से १९०५ तक के नॉरवे तथा स्वीडन के संबंध हैं। परन्तु केवल मैत्री कर लेना, एक ही राज्यप्रमुख का एक से अधिक बार राज्याभिषेक करना, राजनीतिक इकाई के रूप में संसार के सामने आना—ये सब ऐसे कार्य नहीं हैं जिनसे पहले के दो या अधिक राज्य संयुक्त होकर एक नया राज्य बन सकें; क्योंकि राज्य के पास आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुता होती है और उस प्रभुता पर औपचारिक प्रतिबन्ध ही वास्तव में उसके राज्यत्व में कमी कर सकता है।

२. राज्य के संयोजन की प्रक्रिया

राज्य का स्वरूप उसकी प्रभुता से निर्धारित होता है। आज हमारी दृष्टि में कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जिसके वर्त्तमान स्वरूप का निर्माण संयोजन अथवा एकत्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा न हुआ हो। यह बात पूरी तरह सत्य है चाहे हम ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस जैसे राज्यों पर, जिनकी जड़ें बहुत प्राचीन हैं, या चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया जसे अपेक्षाकृत नवीन राज्यों पर विचार करें, क्योंकि संयोजन के प्रारंभ और उसके विकास की परिस्थितियों के अनुसार उसकी प्रक्रिया भी धीमी अथवा तीव्र हो सकती है। संयोजन की प्रक्रिया का निश्चय युद्ध के द्वारा हो सकता है, जहां कि एक स्थानीय इकाई दूसरी पर विजय प्राप्त करके उसे अपने में सम्मिलित कर लेती है। रोम, इंगलैंड तथा फ्रांस के प्रारंभिक इतिहास में यही हुआ। अथवा युद्ध की संभावनाओं से अनेक पड़ोसी इकाइयां एक साथ स्वाधीन हो सकती हैं, जिनके सामने उस संकट के कारण से ही अपने सामान्य लाभ की दृष्टि से किसी भी प्रकार का संघ स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गई है। इसका उदाहरण सन् १८७३ में अमरीकी उपनिवेश तथा सन् १९१८ में सर्ब, क्रोट तथा स्लोवीन समाज हैं। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि विभिन्न बिखरी हुई इकाइयां किसी

भी ऐसे संकट के कारण, जिसके अस्तित्व की तब तक संभावना भी नहीं हुई हो, एक यूनियन के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करें। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में आस्ट्रेलिया की परिस्थिति ऐसी ही थी।

परन्तु किसी भी दशा में, संयोजन के प्रश्न के उठने पर, संबंधित समाजों को यह निश्चित करना पड़ता है कि उनका संयोजन संघ के निर्माण द्वारा होगा अथवा पारस्परिक विलय के द्वारा। यदि संयोजन संघनिर्माण के द्वारा होता है तो कम-से-कम व्यवहार में प्रभुता का विभाजन हो जाता है; उसका कुछ अंश संघनिर्माणकारी इकाइयों के पास रह जाता है और कुछ अंश वे उस केन्द्रीय संस्था को समर्पित कर देते हैं जिसकी उन्होंने स्थापना की है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संघनिर्माण की दशा में, समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए प्रभुता विभक्त रहती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह सच है कि सिद्धान्तरूप में प्रभुता अविभाज्य है किन्तु संघीय व्यवस्था की विचित्र कठिनाई का सामना करने का एकमात्र तर्कसंगत उपाय यह मान लेना ही है कि संघबद्ध होनेवाले राज्य पहले जिस प्रभुता को वैयक्तिक रूप में धारण करते थे वह दो सत्ताओं—संघ की और राज्यों की—में विभाजित हो जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह मैत्री से बिलकुल भिन्न व्यवस्था है। संघबद्ध होनेवाली इकाइयां अपनी बाह्य प्रभुता का केन्द्रीय सत्ता के पक्ष में पूर्णरूप से त्याग कर देती हैं, और उनकी आन्तरिक प्रभुता केवल भग्न रूप में उनके पास रहती है; क्योंकि कुछ ऐसी शक्तियां भी होती है जिनका प्रयोग पहले प्रत्येक इकाई की सरकार अपने प्रत्येक नागरिक पर करती थी परन्तु अब उनका प्रयोग केवल संघ-सरकार ही कर सकती है।

अन्ततोगत्वा, वास्तव में प्रभुता का विभाजन नही होता। संघव्यवस्था में वैध प्रभु स्वयं संविधान है जो संघ तथा राज्य की सत्ताओं में शक्तियों का विभाजन करता है। जब अनेक राज्य संघ द्वारा संयोजित होते हैं तो वे संविधान में निर्धारित शर्तों को स्वीकार करते हैं। संविधान एक संधि है, परंतु यह एक विशिष्ट पवित्र संधि है, जिसका अतिक्रमण कोई भी संविदाकारी पक्ष तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें उल्लिखित प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करता। अतएव, संघव्यवस्था के राज्यों का उल्लेख सहायक-प्रभुत्वपूर्ण निकायों के रूप में करना ठीक ही होगा।

इसके विपरीत यदि संयोजन विलीनीकरण का रूप लेता है तो संयुक्त होनेवाली इकाइयों के पास कोई भी शक्ति नहीं रह जाती। वे पृथक् रूप से दो या अधिक प्रभुत्वपूर्ण शक्तियां होती हैं परन्तु केवल एक संधि करके आपस में मिलकर एक हो जाने के लिए। सभी शक्तियां पारस्परिक रूप से त्याग करके एक समान उपकरण को सौंप दी जाती हैं, जो संघीय नहीं बल्कि केन्द्रीय सरकार होती है। उस अवस्था में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रभुताएं पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार के पास रहती है तथा इस व्यवस्था के बल पर वह सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकायों को स्वीकार नहीं करती। यह ही एकात्मक राज्य है।

३. एकात्मक राज्य की सारभूत विशेषता

हम यह कह चुके हैं कि जहां तक संघीय राज्य का संबंध है व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए हम विभाजित प्रभुता की बात कर सकते हैं। एकात्मक राज्य की सारभूत विशिष्टता यह है कि उसमें प्रभुता अविभाजित होती है अथवा यह कहा जाना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियां अप्रतिबन्धित होती है, क्योंकि एकात्मक राज्य का संविधान केन्द्रीय विधानसभा के अतिरिक्त किसी भी विधिनिर्माणकारी निकाय को स्वीकार नहीं करता। यदि केन्द्रीय सत्ता लघुतर निकायों को–भले ही वे स्थानीय सत्ताएं हों अथवा औपनिवेशिक सत्ताएं—अधिकार का नियोजन (Delegation) सुविधाजनक समझती है तो वह ऐसा करती है। किन्तु स्मरण रहे कि यह नियोजन वह अपनी शक्ति की पूर्णता के कारण करती है, इसलिए नहीं कि संविधान के अनुसार उसे ऐसा करना चाहिए अथवा न इसलिए कि राज्य के विभिन्न भागों की पृथक् सत्ता है जिसे उन्होंने बृहत्तर निकाय में सम्मिलित होने से पूर्व ही किसी सीमा तक अपने पास रख लिया था। इसका तात्पर्य सहायक विधिनिर्माता निकायों का अभाव नहीं है, परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि वे केन्द्रीय सत्ता की इच्छानुसार विद्यमान रहते हैं और समाप्त भी किए जा सकते हैं। अतएव, इसका यही तात्पर्य है कि इन शब्दों के अर्थ को तोड़-मोड़कर इन सहायक निकायों को सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकाय नही कहा जा सकता और अन्त में इसका यह तात्पर्य है कि केन्द्रीय तथा स्थानीय सत्ताओं के बीच ऐसा कोई विवाद उठने की संभावना ही नहीं रहती जिसका निपटारा करने की वैधानिक शक्ति केन्द्रीय सरकार के पास न हो।

अतः, (१) केन्द्रीय संसद् की सर्वोच्चता, और (२) सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकायों का अभाव, ये दोनों बातें एकात्मक राज्य की सारभूत विशेषताएं कही जा सकती हैं।

(१) **केन्द्रीय संसद् की सर्वोच्चता**—जहां कहीं भी हम एकात्मक राज्य को पाते हैं वहां हमें केन्द्रीय संसद् की सर्वोच्चता भी दिखाई देती है। बहुधा, जैसा कि हम अनमनीय संविधान की चर्चा के समय देखेंगे, एकात्मक राज्य में कुछ इस प्रकार के अधिनियम होते हैं जिन्हें संविधान कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर सामान्य परिस्थिति में साधारण केन्द्रीय विधानमंडल को पारित करने का अधिकार नही देता। परंतु संघराज्य की केन्द्रीय संसद् पर इसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप में ऐसा करने पर प्रतिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि संघीय संविधान, संविधान में परिवर्तन करने के साधनों को ही नियत नहीं करता वरंच यह भी व्यक्त करता है कि संघीय सत्ता की या संघनिर्माणकर्त्री इकाइयों की क्या शक्तियां हैं। अतः, संघराज्य में दो प्रकार के विधानमंडल होते हैं—संघ के तथा राज्यों के—जिनमें से प्रत्येक का अपना क्षेत्र होता है और उनमें से कोई भी सर्वरूपेण सर्वोच्च नहीं होता। इसके विपरीत एकात्मक राज्य में केवल एक ही प्रकार का विधान-मंडल होता है, जो सर्वदा और पूर्णरूप से सर्वोच्च होता है।

(२) **सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकायों का अभाव**---यह एकात्मक राज्य की दूसरी विशेषता है। सहायक विधिनिर्माता निकायों तथा सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकायों के बीच में जो अंतर हमने प्रकट किया है वह एकात्मक राज्य की स्थानीय सत्ताओं और संघराज्य की राज्यसत्ताओं के बीच का अंतर है। संघ में राज्यसत्ता का संविधान के संबंध में विचार करने की बजाय संघसत्ता के संबंध में विचार करने पर यह अंतर स्पष्ट हो जाता है। राज्य-सत्ता को कुछ अधिकार होते हैं जिन्हें संघसत्ता बढ़ाने अथवा घटाने में असमर्थ है। ऐसा करनेवाली एकमात्र शक्ति संविधान ही है जब कि उसमें इस दृष्टि से संशोधन किया जाता है और यह ऐसी क्रिया है जिसकी पूर्ति संघ का निर्माण करनेवाले विभिन्न राज्यों की इच्छा जानकर ही हो सकती है। इस प्रकार, 'संयुक्तराज्य अमरीका' कहलानेवाले संघ में वर्जीनिया राज्य को ही लीजिए। इसे संविधान के द्वारा कुछ विषयों में पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। संघीय विधानमंडल (कांग्रेस) का कोई भी अधिनियम वर्जीनिया को उसके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता जब तक कि संविधान में इस प्रयोजन से परिवर्तन न हो जाए (और केवल कांग्रेस में ऐसा करने की शक्ति नहीं है)। इसकी, एकात्मक राज्य में स्थानीय सत्ता तथा केन्द्रीय विधानमंडल के संबंधों से, तुलना कीजिए। 'यूनाइटेड किंगडम' कहलानेवाले एकात्मक राज्य में लंदन-काउंटी कौंसिल को कुछ शक्तियां प्राप्त हैं, परंतु ये संविधान के द्वारा न दी जाकर वेस्टमिंस्टर में स्थित संसद् के अधिनियम द्वारा दी गई हैं। वेस्टमिंस्टर में स्थित संसद् किसी भी समय अपने स्वयं के अधिनियम से लंदन काउंटी कौंसिल को इन शक्तियों में से समस्त या कुछ से वंचित कर सकती है। अंतर यही है कि संयुक्तराज्य अमरीका की कांग्रेस किन्हीं भी परिस्थितियों में वर्जीनिया राज्य को समाप्त नहीं कर सकती, परंतु यूनाइटेड किंगडम की संसद् लंदन काउंटी कौंसिल को किसी भी उच्चतर शक्ति से पूछे बिना ही तोड़ सकती है।

संक्षेप में, यदि केन्द्रीय सत्ता के अधीन कोई ऐसी सत्ताएं हैं जिनमें वह (संविधान में निर्धारित मार्ग से भिन्न रूप में) केवल संविधान की साधारण प्रक्रियाओं से हस्तक्षेप करने में शक्तिहीन है, तो वह केन्द्रीय सत्ता संघीय सत्ता है और वह राज्य, जिस पर उसका ऐसा सीमित अधिकार है, संघीय राज्य है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय सत्ता के अधीन ऐसी सत्ताएं हैं जिन्हें वह अपनी इच्छा से स्थापित अथवा समाप्त कर सकती है तो वह सर्वोच्च सत्ता है, और, वह राज्य, जिसके भीतर उसका ऐसा असीमित अधिकार है, एकात्मक राज्य है। अब हम आधुनिक विश्व के कुछ महत्त्वपूर्ण एकात्मक राज्यों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

४. यूनाइटेड किंगडम का ऐतिहासिक एकात्मवाद

यूनाइटेड किंगडम का क्रमिक विकास ऐसे एकात्मक राज्य के विकास का एक उत्तम उदाहरण है जिसमें संयोजन की प्रक्रिया संघ के माध्यम से न होकर विलीनीकरण के माध्यम

से हुई है। विलीनीकरण की यह प्रक्रिया अत्यंत प्राचीन काल से देखी जा सकती है। टयूटॉनिक आक्रमण के प्रथम वेग के पश्चात् तुरंत ही इंगलैंड में जितने लुटेरों के झुंड थे उतने ही छोटे-छोटे राज्य बन गए तथा उन झुंडों में जितने मुखिया थे उतने ही राजा बन गए। जैसे-जैसे ये आक्रमणकारी व्यक्ति बसते गए व्यक्ति की भक्ति वैयक्तिक की जगह प्रादेशिक हो गई, और रोमन-कैल्टिक ब्रिटेन की विजय की वास्तविक क्रिया समाप्त होने से पूर्व ही लघुतर राज्यों को बड़े राज्य अपने में मिलाने लग गए थे। सन् ६१३ तक चेस्टर के पतन के साथ, जब कि हम इस विजय को पूरा हुआ समझ सकते हैं, आरंभिक दुर्व्यवस्था में से सात राज्यों (हैप्टार्की) का आविर्भाव हो चुका था और ब्रिटनों के साथ हुए बाह्य संघर्ष का स्थान आक्रमणकारियों के सात राज्यों के पारस्परिक आन्तरिक संघर्ष ने ले लिया। बहुत शीघ्र ही यह सप्त-राज्य त्रि-राज्य में बदल गया। इसके पश्चात् डेनों का आक्रमण हुआ, परंतु विलीनीकरण की क्रिया को रोकने के लिए यह भी पर्याप्त नहीं था। डेन भी यहीं बस गए और अन्य लोगों की भांति वेसेक्स वंश के राजाओं के अधीन एक संयुक्तराज्य (यूनाइटेड किंगडम) में समा गए।

नार्मनों की विजय से भी इंगलैंड के राज्य के एकात्मवाद को बल प्राप्त हुआ, और वह लम्बी प्रक्रिया, जिसके फलस्वरूप इंगलैंड, वेल्स, स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड का एकीकरण हुआ, प्रारंभ हुई। वेल्स को एडवर्ड प्रथम ने जीता था तथा वेल्स-संविधि (सन् १२८३) ने निश्चित रूप से उस देश को उसके वृहत् निकटवर्त्ती देश में विलीन् कर लिया। सन् १६०३ में टयूडर वंश की समाप्ति तथा स्टुअर्ट वंश के, जिसका संबंध सीधा हेनरी सप्तम से था, राज्यासीन होने पर ग्रेट ब्रिटेन का समस्त द्वीप एक राजा के अधीन संयुक्त हो गया। परंतु इससे एकात्मक राज्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिक-से-अधिक यह एक वैयक्तिक एकीकरण था जो कि एक ही राजा के रूप में प्रकट हुआ था। इसके उपरान्त सन् १७०७ के ऐक्य अधिनियम (एक्ट ऑफ यूनियन) ने इन दो राज्यों को एक पूर्ण इकाई में परिवर्तित कर दिया। इन दो राज्यों ने एक संधि की, परंतु इस संधि द्वारा प्रत्येक ने दूसरे को अपने भीतर आतमसात् कर लिया। उनकी राज्यों के रूप में पृथक् सत्ता उसी समय से मिट गई। यह इंगलैंड की (जिसमें वेल्स भी सम्मिलित था) तथा स्कॉटलैंड की संसदों का एकीकरण नहीं बल्कि एक नई संसद् की स्थापना थी जिसके अन्तर्गत दोनों राज्य थे। ऐक्य अधिनियम, संधि तथा संविधि दोनों ही था। ज्योंही दोनों संसदों ने इसे स्वीकार कर लिया, संविदाकर्त्ता पक्ष विद्यमान नही रहे और इसलिए इस संधि का अन्त हो गया। यह ग्रेट ब्रिटेन के राज्य की संविधि-संहिता (Statute Book) में एक मान्य अधिनियम बना रहा।

सन् १८०० में इसी प्रकार का विलीनीकरण ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड में हुआ। आयरलैंड सैद्धान्तिक रूप से बारहवीं शताब्दी में हेनरी द्वितीय के दिनों से तथा वास्तव में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हेनरी सप्तम के काल से अंगरेजी राजसत्ता के अधीन एक प्रांत था। सन् १८७२ में आयरलैंड को विधायिनी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, परन्तु यह व्यवस्था टूट

गई और सन् १८०० में द्वितीय ऐक्य अधिनियम पारित हुआ । यहां भी कुछ समय के लिए दो राज्य संधि करने के लिए मिले और फिर पृथक् सत्ताओं के रूप में लुप्त हो गए। इस भांति सन् १८०० से ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड का संयुक्त राज्य विद्यमान रहा है और इसके विकास की प्रक्रिया में जरा-सा भी संघीय तत्त्व नही रहा। न इंगलैंड, न स्कॉटलैंड और न आयरलैंड किसी की भी, अल्पीकृत रूप में भी, प्रभुसत्ता नहीं रही; इनमें से प्रत्येक एक व्यापक राज्य में विलीन हो गया।

यह सत्य है कि स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड की विशिष्ट विधियां जो कि यूनियन के पूर्व दोनों देशों में जारी थीं, विद्यमान रहीं, किन्तु केवल उसी सीमा तक जिस तक कि वे यूनियन के निबन्धनों के अनुरूप थीं, और उस समय तक जहां तक कि उनका संयुक्त राज्य की संसद् ने—और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है—निरसन नहीं कर दिया। और यह भी सत्य है कि उस समय के उपरान्त संयुक्त संसद् द्वारा पारित कुछ अधिनियमों में स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड को विशेष रूप से उनके क्षेत्र से परे रखा गया है और कुछ अधिनियम उन देशों में से हर एक को पृथक् रूप से लागू हुए हैं। परन्तु यूनियन के दोनों अधिनियमों के निर्माताओं की यदि यह इच्छा रही भी हो कि इन अधिनियमों के उपबंध अपरिवर्तनीय रहें तो वह परीक्षण करने पर बिलकुल भ्रामक सिद्ध हुई है और इन अधिनियमों द्वारा आगामी संसदों को बाध्य करने के लिए यदि कोई प्रयत्न उपलक्षित रहा भी हो तो वह असफल ही रहा है; क्योंकि इन दोनों देशों में धर्म से संबंध रखनेवाले अधिनियम, जिन्हें स्थायी रखा जाना अभिप्रेत था, तब से निरसित अथवा संशोधित कर दिए गए हैं। वह एकमात्र मार्ग, जिसके द्वारा संयुक्त संसद् का इन ऐक्य अधिनियमों में निर्हस्तक्षेप सुनिश्चित किया जा सकता था, ऐसे किसी विशेष निकाय को कायम रखना हो सकता था जो कि उनकी रक्षा अथवा उनमें परिवर्तन कर सकता, परन्तु ऐसी अवस्था में ब्रिटिश संसद् की प्रभुता की पूर्णता में कमी हो जाती और तब यह संयुक्त राज्य एकात्मक राज्य नही रहता बल्कि संघराज्य बन जाता। सन् १९२२ में आयरिश स्वतंत्र राज्य की स्थापना से संयुक्त राज्य का क्षेत्र कट गया, परन्तु इससे उसके राजनीतिक स्वरूप पर मूलभूत रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि जो कुछ शेष रहा वह ग्रेट ब्रिटेन तथा उत्तरी आयरलैंड के संयुक्त राज्य के नाम से एक एकात्मक राज्य बना रहा।

ब्रिटिश साम्राज्य तथा राष्ट्रमंडल के विकास तथा राजनीतिक संगठन में भी संघवाद के सिद्धान्त का इसी प्रकार अभाव है। ब्रिटिश साम्राज्य के संविधान जैसी वस्तु की चर्चा असम्भव है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है। यूनाइटेड किंगडम का एक संविधान है और इसी भांति प्रत्येक स्व-शासित डॉमिनियन का भी अपना-अपना संविधान है। जहां तक औपनिवेशिक साम्राज्य का संबंध है कुछ उपनिवेशों को आंशिक रूप में स्व-शासित संस्थाएं प्रदान की गई हैं, परन्तु इस संबंध में ये उपनिवेश वेस्टमिस्टर में स्थित शासन के सामने ठीक उसी स्थिति में हैं जिसमें इंगलैंड की स्थानीय सत्ताएं हैं, अर्थात् किसी भी

उपनिवेश को आंशिक रूप में स्व-शासन का प्रदान संसद् के अधिनियम के द्वारा ठीक उसी भांति किया गया है जैसे ब्रिटेन के भीतर किसी काउंटी या बरो को कतिपय स्थानीय शक्तियां प्रदान की जाती हैं और वे निरसक अधिनियम के द्वारा समान रूप से वापस भी ली जा सकती हैं। कुछ दिन पूर्व तक स्व-शासित डॉमिनियनों की परम्परागत स्थिति ऐसी ही रही थी, क्योंकि उनके संविधान भी औपचारिक रूप से ब्रिटिश संसद् द्वारा प्रदत्त थे। परंतु वास्तव में स्व-शासन का यह प्रदान विभिन्न डॉमिनियनों में राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना के फलस्वरूप हुआ था और इस तरह प्रत्येक के संबंध में यह सत्ता प्रदान करने-वाले अधिनियमों का स्वरूप संविधि की अपेक्षा संधि का ही था।

कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के विषय में जो बात उपलक्षित थी, वह आयरिश फ्री स्टेट के संबंध में स्पष्ट थी। इस राज्य का संविधान वास्तव में एक ऐसी संधि पर आधारित था जिसने गृहयद्ध की स्थिति को समाप्त किया और जो सन् १९२२ में ग्रेट ब्रिटेन तथा दक्षिणी आयरलैंड (जिसे सन् १९३७ में नए संविधान के उपरान्त से सरकारी तौर पर **आयर** कहा जाता है) के बीच में हुई और जिसका ब्रिटिश संसद् तथा आयरिश संविधान-निर्मात्री सभा ने अनुमोदन किया। इस संविधान की प्रस्तावना में यह उल्लिखित है कि—

"यदि उक्त संविधान का कोई उपबंध अथवा उसका कोई संशोधन अथवा तदधीन निर्मित कोई विधि किसी भी रूप में अनुसूचित संधि के किसी भी उपबंध के विरुद्ध हो तो वह केवल ऐसी विरुद्धता की सीमा तक पूर्णरूप से शून्य तथा अप्रवर्त्तनीय होगी।"

इस राष्ट्रीयता की मांग को पूरा करने के केवल दो ही सम्भव मार्ग थे। इनमें पहला मार्ग यह था कि सम्पूर्ण साम्राज्य को एक संघ बना दिया जाए जिसके समस्त अंग बराबर हों। आयर के संविधान द्वारा निश्चित रूप से स्थापित स्थिति ने उस विवाद को चरम सीमा पर पहुंचा दिया जो वास्तव में सन् १७८३ में अमरीकी उपनिवेशों के पृथक् हो जाने से प्रारंभ हुआ था। उस प्राचीन साम्राज्य के विघटन के आघात ने पहले एक ऐसे पराजयवादी तर्क को जन्म दिया जो कि **'पके फल का सिद्धान्त'** कहलाया, अर्थात् उपनिवेशों का अपने मूल देश से वही संबंध है, जो फल का वृक्ष से है; जब वे पक जाते हैं तो प्रकृति के नियमानुसार गिर ही जाते हैं। प्रत्येक साम्राज्यसंबंधी संकट के समय यह सिद्धान्त कुछ राजनीतिज्ञों तथा विचारकों के मस्तिष्क में बराबर उठता रहा है। सन् १८७० में यह सिद्धान्त अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और तब उसके स्थान पर संघ के लिए एक जोरदार आन्दोलन चल पड़ा, जो शताब्दी के अंत तक किसी-न-किसी रूप में चलता रहा। दूसरा रास्ता वही था जो कि वास्तव में अपनाया गया। यह साम्राज्य के विभिन्न अंगों में मैत्री-स्थापना का मार्ग था, जिसका अस्तित्व साम्राज्यिक सम्मेलनों (Imperial Conferences) द्वारा कायम रखा गया है। परंतु यह मैत्री किसी भी रूप में एक कूटनीतिक इकाई का निर्माण नहीं करती, क्योंकि इन डॉमिनियनों में से

प्रत्येक विदेशों में अपने स्वयं के प्रतिनिधि रखता है और हर एक की राष्ट्रसंघ में पृथक सदस्यता है।

आयरिश संधि के पश्चात् घटनाचक्र की तीव्र गति के फलस्वरूप डॉमिनियन-पद (Dominion Status) का स्पष्टीकरण हुआ और सन् १९२६ के साम्राज्यिक सम्मेलन में डॉमिनियनों के अधिकारों को इन शब्दों में स्पष्टतापूर्वक प्रकट किया गया: "ये (डॉमिनियन) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्तशासी समाज हैं, जो समान हैसियत के हैं, अपने घरेलू तथा बाहरी मामलों में किसी भी रूप में एक दूसरे के अधीनस्थ नहीं हैं, यद्यपि ये मुकुट के प्रति सामान्य निष्ठा के द्वारा संयुक्त हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के रूप में स्वेच्छा से परस्पर संबंधित है।" इसके अतिरिक्त, सन् १९२६ के साम्राज्यिक सम्मेलन के फलस्वरूप किसी भी डॉमिनियन में ब्रिटिश सरकार का (मंत्रिमंडल के रूप में) प्रतिनिधित्व करनेवाले गवर्नर-जनरल के पद की समाप्ति हो गई और एक उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) वास्तव में एक सम्पर्क अधिकारी की तरह नियुक्त करना आवश्यक हो गया। इन स्व-शासित डॉमिनियनों को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करनेवाले इस विकास को सन् १९३१ में वेस्टमिंस्टर की संविधि के द्वारा संविधीय शक्ति प्रदान की गई।[1]

यह संविधि 'सन् १९२६ तथा १९३० में हुए साम्राज्यिक सम्मेलनों द्वारा स्वीकृत कतिपय संकल्पों को प्रभावशाली करनेवाले साम्राज्य की संसद् के अधिनियम' के रूप में वर्णित की गई है। इस संविधि की प्रस्तावना में संबंधित डॉमिनियनों का नाम दिया गया है। ये कनाडा, आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन, आयरिश स्वतंत्र राज्य[2], तथा न्यूफाउंडलैंड[3] हैं। प्रस्तावना में और बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि "मुकुट ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के स्वतन्त्र संयोग का प्रतीक है"; "वे मुकुट के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा संयुक्त हैं" और "यह बात स्थापित सांविधानिक परम्परा के अनुरूप है कि यूनाइटेड किंगडम की संसद् के द्वारा निर्मित कोई भी विधि तब तक उक्त डॉमिनियनों में से किसी को उस डॉमिनियन की विधि के भाग के रूप में लागू नहीं होगी जब तक कि उक्त डॉमिनियन ऐसा करने की प्रार्थना न करे तथा इसके लिए सम्मति न दे।"

---

१. स्व-शासित डॉमिनियनों में कार्यपालिका की कल्पना तथा उसके व्यवहार पर सन् १९२६ के साम्राज्यिक सम्मेलन तथा वेस्टमिंस्टर की संविधि के निश्चयों के प्रभाव के लिए आगे पृष्ठ २१० देखिए।

२. जैसा कि यह उस समय था। परंतु सन् १९३७ के संविधान में केवल इस भांति स्वीकार की गई स्वाधीनता पर बल दिया गया है। आगे पृष्ठ ८४ देखिए।

३. न्यूफाउंडलैंड का संविधान सन् १९३३ से १९४८ तक निलंबित दशा में था। बाद के वर्षों की स्थिति के संबंध में पृष्ठ १०६ की पादटिप्पणी देखिए।

इस संविधि की दूसरी, तीसरी तथा चौथी धाराएं इतनी महत्त्वपूर्ण तथा स्पष्ट हैं कि वे पूर्ण रूप से उद्धृत किए जाने योग्य हैं :—

"२. (१) औपनिवेशिक विधि मान्यीकरण अधिनियम (१८६५) (Colonial Laws Validity Act) इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् किसी भी डॉमिनियन की संसद् के द्वारा निर्मित किसी विधि को लाग नहीं होगा।

(२) इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् किसी भी डॉमिनियन की संसद् द्वारा निर्मित कोई भी विधि अथवा किसी भी विधि का कोई भी उपबन्ध इस आधार पर शून्य या अप्रवर्त्तनीय नहीं होगा कि वह ब्रिटेन की विधि के अथवा यूनाइटेड किंगडम की संसद् के किसी विद्यमान अथवा भावी अधिनियम के अथवा ऐसे अधिनियम के अधीन निर्मित किसी आदेश, नियम या विनियम के विरुद्ध है और किसी भी डॉमिनियन की संसद् की शक्तियों के अन्तर्गत ऐसे अधिनियम, आदेश, नियम या विनियम को निरसित या संशोधित करने की शक्ति उस सीमा तक है जिस तक कि वह उस डॉमिनियन की विधि का भाग है।

"३. इसके द्वारा यह घोषित तथा अधिनियमित किया जाता है कि डॉमिनियन की संसद् को राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्त्तन वाली विधियां बनाने की पूरी शक्ति है।

"४. इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् पारित यूनाइटेड किंगडम की संसद् का कोई भी अधिनियम उक्त डॉमिनियन को तब तक उक्त डॉमिनियन की विधि के रूप में लागू नही होगा अथवा लागू हुआ नहीं समझा जाएगा जब तक कि उस अधिनियम में यह स्पष्टतया घोषित न हो कि डॉमिनियन ने उसके अधिनियमन के लिए प्रार्थना की है तथा सम्मति दी है।"

उपान्त्य धारा में डॉमिनियन तथा उपनिवेश के बीच के भेद को इस कथन में स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है कि "इस अधिनियम के प्रारंभ हो जाने के पश्चात् यूनाइटेड किंगडम की संसद् के किसी भी "संविधान में उल्लिखित 'उपनिवेश' " के अन्तर्गत कोई डॉमिनियन या उस डॉमिनियन का भाग होनेवाला कोई प्रांत या राज्य नहीं होगा।"

इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुकुट ही ऐक्य स्थापित करनेवाली एकमात्र सत्ता है और डॉमिनियन का गवर्नर-जनरल प्रत्यक्ष रूप से राजा का प्रतिनिधि है और डॉमिनियन की संसद् के समक्ष उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि यूनाइटेड किंगडम की संसद् के समक्ष राजा की। "यूनाइटेड किंगडम में हिज मेजेस्टी की सरकार", "कनाडा के डॉमिनियन में हिज मेजेस्टी की सरकार" आदि इन औपचारिक अभिव्यक्तियों का यही अर्थ है।

जो कुछ हम अभी तक कह चुके हैं उससे यह परिणाम निकलता है कि हम साम्राज्य के संविधान पर उसके समस्त रूप को लेकर इस भांति विचार नहीं कर सकते कि वह एकात्मक राज्य है अथवा संघराज्य; और दूसरे, हमें प्रत्येक डॉमिनियन के संबंध में एकात्मक अथवा संघराज्य के रूप में पृथक् विचार करना पड़ेगा। यहां हम राष्ट्रमंडल के भीतर एकात्मक राज्यों के उदाहरण के रूप में न्यूजीलैड और दक्षिणी अफ्रीका को तथा आयरलैंड को (जो अब डॉमिनियन नहीं रहा है) लेते हैं, और कनाडा तथा आस्ट्रेलिया संघराज्यों के संबंध में अगले अध्याय में विचार करेंगे।

५. ब्रिटिश स्व-शासित डॉमिनियनों में एकात्मक राज्यों के उदाहरण

(क) न्यूजीलैंड

ब्रिटिश आधिपत्य में न्यूजीलैंड का इतिहास सन् १८४० से प्रारंभ होता है जब कि यह वैध रूप से ग्रेट ब्रिटेन में मिला लिया गया था और मावरियों से संधि कर ली गई थी जिसमें उन्हें अपनी भूमि पर कब्जा बनाए रखने की गारंटी दी गई थी। भूमिस्वामित्वसंबंधी मावरियों के युद्ध सन् १८७० में समाप्त हो गए और उसके उपरांत से मावरी लोग गोरों के साथ मित्रवत् रह रहे हैं तथा अब वे उनके विशेषाधिकारों के भी भागी हैं। मावरी अपने में से चार व्यक्तियों को प्रतिनिधि-सभा में सदस्य बनाकर भेजते हैं और कुछ वर्षों से यह भी परम्परा हो गई है कि कम-से-कम एक मावरी मंत्रिमंडल का भी सदस्य होता है। साम्राज्यिक संसद् के दो अधिनियमों के द्वारा पहले (सन् १८५३ में) एक निर्वाचित विधानमंडल और इसके उपरान्त (सन् १८५६ में) उसके प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्थापना हुई। इन अधिनियमों ने वैधानिक रूप से उस प्रथा को नहीं छेड़ा जो कि वहां कुछ वर्षों से चालू थी, जिसके अनुसार शासन के बहुत-से कृत्य प्रांतीय परिषदों के द्वारा सम्पादित होते थे। ऐसी परिषदें एक प्रांत में एक होती थीं। पहले ये संख्या में छह थीं, परन्तु बाद में नौ हो गई; और चूंकि संविधान में संशोधन करने की शक्ति सम्पूर्ण रूप से (साम्राज्यिक संसद् की शक्तियों के साधारण सुरक्षण के सहित) विधानमंडल में निहित थी; अतः, डॉमिनियन को स्वयं ही यह निश्चित करना था कि क्या वह प्रांतीय प्रणाली को कायम रखकर संघ-राज्य के रूप में अपना विकास करेगा।

जैसा कि अंत में हुआ, सन् १८५३ के अधिनियम के द्वारा स्थापित तथा तीन वर्ष के उपरान्त द्वितीय अधिनियम द्वारा दृढ़ीकृत संसद् केन्द्रीयकरण करनेवाली ऐसी प्रबल शक्ति सिद्ध हुई कि सन् १८७६ तक प्रांतीय पद्धति सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो गई और न्यूजीलैंड निश्चित रूप से एकात्मक राज्य बन गया जिसकी केन्द्रीय सरकार किसी भी अधीनस्थ प्रभुत्वपूर्ण निकाय को स्वीकार नहीं करती। न्यूजीलैंड का राजनीतिक भविष्य विभिन्न हो सकता था, क्योंकि आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ की स्थापना करनेवाले मूल विधेयक में उसका नाम वास्तव में उल्लिखित था। उस समय कॉमनवेल्थ के भाग होने-

वाले उपनिवेशों के रूप में 'राज्य' शब्द की परिभाषा करते हुए विधेयक की धारा ६ में न्यूजीलैंड को यह लिखकर सम्मिलित किया गया था कि "यदि यह किसी भी समय कॉमनवेल्थ का भाग हो या हो जाए।" परंतु उस समय तक न्यूजीलैंड ने स्वयं अपनी संस्थाओं का इतना विकास कर लिया था कि जब यह प्रश्न उठा तो वह अपने वैयक्तिक अस्तित्व को विस्तृत संघ में विलीन न कर सका।

(ख) दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन

दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन एकात्मक राज्य का कुछ ऐसा विचित्र उदाहरण है जिसके राजनीतिक संगठन के कुछ पहलुओं में संघीय रूप दिखाई पड़ता है। वास्तव में इसमें संघवाद की मात्रा इतनी न्यून है कि उसे अर्द्ध-संघराज्य भी कहना बिलकुल गलत होगा। दक्षिणी अफ्रीका के उस आन्दोलन तथा वाद-विवाद के, जिसके फलस्वरूप सन् १९१० में इस यूनियन की स्थापना हुई, आधार पर कोई भी यह अनुमान लगा सकता था कि वहां कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया जैसे किसी नमूने की संघीय प्रणाली को अपनाया जाएगा और उस समय कुछ दक्षिणी-अफ्रीकी राजनीतिज्ञों ने ऐसी संघीय प्रणाली की निस्संदेह कल्पना भी की थी। किन्तु वहां के उपराष्ट्रों तथा जातियों के बीच के संघर्षों की तीव्रता से उत्पन्न शासकीय कठिनाइयों के कारण उसके संविधान का मसौदा तैयार करनेवाले सम्मेलन को केन्द्रीय शासन को यथासंभव शक्तिशाली बनानेवाला संविधान निर्मित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। जैसा कि अब तक स्पष्ट हो गया है, केन्द्रीय शासन, संघीय प्रणाली की अपेक्षा, एकात्मक प्रणाली में बहुत अधिक शक्तिशाली होता है।

अत:, दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन उन चार विभिन्न प्रदेशों का बना होने पर भी, जिनमें कुछ ही समय पूर्व परस्पर युद्ध चल रहा था, वास्तव में एकात्मक राज्य है, जिसके केन्द्रीय शासन पर किसी प्रकार के अधीनस्थ निकाय के अस्तित्व के द्वारा कोई प्रतिबंध लगा हुआ नहीं है। चारों मूल उपनिवेशों में से प्रत्येक में—जो कि यूनियन निर्माण करनेवाले अधिनियम के द्वारा प्रांत बने और जो केप ऑफ गुड होप, नेटाल, ट्रांसवाल तथा ऑरेंज फ्री स्टेट कहलाए—एक प्रांतीय परिषद् है, जिसकी शक्तियां संविधान में उल्लिखित हैं; किन्तु उल्लेख के उपरान्त ही यह कथन भी है कि—

"प्रांतीय परिषद् के द्वारा बनाया गया कोई भी अध्यादेश प्रांत में तथा उसके लिए तभी तक और वहां तक ही प्रभाव रखेगा जब तक और जहां तक वह (यूनियन की) संसद् के अधिनियम के प्रतिकूल न हो।"

इस भांति दक्षिणी-अफ्रीकियों ने केनेडियनों और आस्ट्रेलियनों का अनुसरण न करते हुए सन् १७०७ में अंगरेजों तथा स्कॉटों ने जैसा किया था, उसी का अनुसरण किया है। संघवाद की कुछ झलक सिनेट में दिखाई देती है जहां प्रत्येक प्रांत के आठ-आठ सदस्य हैं, साथ ही सम्पूर्ण यूनियन की ओर से सपरिषद् गवर्नर-जनरल के द्वारा निर्देशित

आठ सदस्य भी हैं; परन्तु ये सदस्य उस प्रकार प्रांतों का प्रतिनिधित्व नहीं करते जैसे संयुक्त-राज्य अमरीका में सिनेटर अपने राज्य का करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि इस प्रयोजन के लिए दक्षिणी अफ्रीका के प्रांत केवल निर्वाचन-क्षेत्र मात्र हैं।

एकात्मक राज्य के रूप में दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन में ऐसी अनेक जटिलताएं हैं जिनका यूरोपीय देशों को कोई अनुभव नहीं है और जो जातिसंबंधी समस्याओं तथा ब्रिटिश हुकूमत के अधीन उसके आसपास के प्रदेशों के दर्जे से संबंधित संदेहों से उत्पन्न हुई हैं। उदाहरण के लिए, यूनियन में जातिभेद के सिद्धांत पर अमल किया जाता है यद्यपि इसके क्षेत्र के अन्तर्गत देशी संरक्षित प्रदेशों में—बसूटोलैंड, बेचुआनालैंड तथा स्वाज़ीलैंड—अथवा केप प्रांत में ऐसा नहीं है और इस अन्तर से अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनका महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रभाव होता है। इसके अतिरिक्त पिछले जर्मन उपनिवेश—दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका—की स्थिति का भी प्रश्न था, जिसके लिए यूनियन, लीग ऑफ नेशन्स के मूल आदेश के अनुसार सन् १९२० से उत्तरदायी था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूनियन सरकार की नीति इस आदिष्ट प्रदेश को यूनियन में मिलाने की हो गई। इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने अपना दावा सन् १९४६ में हेग-स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में प्रस्तुत किया, परन्तु वह उस योजना के संबंध में उक्त न्यायालय का प्रतिबन्धरहित अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सका। इस निर्णय के बावजूद यद्यपि उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को विधिपूर्वक अपने में नहीं मिलाया, फिर भी वह उसे हाउस ऑफ असेम्बली (सभा-भवन) में छह तथा सिनेट में चार स्थान देकर यूनियन की संसदीय प्रणाली में समाविष्ट करने को अग्रसर हुआ, और सन् १९५० में दोनों सदनों के नए सदस्य तदनुसार निर्वाचित भी किए गए।

दोनों रोडेशियाओं के भविष्य से संबंधित संदेह ने यूनियन के लिए एक और जटिलता उत्पन्न कर दी। यह आशा की गई थी कि दक्षिणी रोडेशिया, जो सन् १९२४ में एक स्वशासित उपनिवेश बन चुका था, यूनियन में लीन होने की ओर अग्रसर होगा, परन्तु वास्तव में वह उत्तरी रोडेशिया जो सम्राट् द्वारा नियुक्त और अंशतः निर्वाचित विधान-परिषद् की सहायता से कार्य करनेवाले गवर्नर के अ न , और न्यासालैंड[1] के संरक्षित

[1] इस प्रश्न पर मार्च सन् १९५१ में लंदन में एक सम्मेलन हुआ। यह सिफारिश की गई कि दक्षिणी रोडेशिया, उत्तरी रोडेशिया तथा न्यासालैंड एक संघ में सम्मिलित हो जाएं जो कि ब्रिटिश केन्द्रीय अफ्रीका कहलाए। तीन महीने के उपरान्त विक्टोरिया फाल्स में एक सम्मेलन हुआ जहां कि समस्त स्थानीय हित रखनेवाले गोरों तथा मूल निवासियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले मौजूद थे और साथ ही कॉलोनियल सेक्रेटरी तथा कॉमनवेल्थ रिलेशन्स के सेक्रेटरी दोनों भी उपस्थित थे। वहां संयुक्तीकरण से भिन्न, संघ के सिद्धान्त को मूल निवासियों के कुछ रक्षित प्रदेशों के सहित, अधिक

प्रदेश के साथ घनिष्ठ संपर्क बढाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित कर रहा है। इस भांति वर्त्तमान लक्षणों के आधार पर विचार करने से यह असम्भव ही प्रतीत होता है कि दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन दक्षिणी तथा उत्तरी रोडेशिया को सम्मिलित कर अपनी सीमाओं को उत्तर की ओर बढ़ा सकेगा।

(ग) आयर

आयर एकात्मक राज्य का एक दिलचस्प उदाहरण है। यद्यपि यह एक राजनीतिक इकाई है, तथापि उसकी सीमा आयरलैंड कहलानेवाली भौगोलिक इकाई की सीमा से नहीं मिलती। ग्रेट ब्रिटेन के साथ आयरलैंड के कई शताब्दियों के सम्पर्क में (इसे आयरिश लोग निस्संदेह अधीनता कहेंगे), यह सदा ही एक इकाई के रूप में समझा गया और संसद् के समस्त विधेयकों तथा अधिनियमों में, जिनमें उसका उल्लेख था, उसे वैसा ही माना गया। आयरिश समस्या को हल करने में जो असफलता मिली उसके कारणों में से यह भी एक था, क्योंकि ऐसा करना कलह के अत्यंत गंभीर ऐतिहासिक कारणों की उपेक्षा करना था। इस कलह के कारण उत्तरी आयरलैंड (या अल्स्टर) तथा शेष आयरलैंड के बीच जाति, धर्म तथा आदर्शों से संबंधित मूलभूत मतभेद थे। ब्रिटिश द्वीपसमूह की आन्तरिक शांति के मार्ग में उपस्थित इस शाश्वत बाधा पर विजय प्राप्त करने का प्रत्येक प्रयत्न इस लघुतर द्वीप के इन दोनों भागों के विरोध के कारण विफल हुआ। ग्लेड्स्टन के प्रशासनों के समय के गृहशासन विधेयक (Home Rule Bills) कभी भी अधिनियम का रूप ग्रहण न कर सके और जब सन् १९१४ में जैसे-तैसे करके एक विधेयक पारित हुआ [जो सन् १९१२ का था, और जो संसदीय अधिनियम द्वारा सामन्तों (लॉर्ड्स) की शक्ति कम करके हो सका], तो यह भी प्रथमतः अल्स्टर के विरोध के कारण तथा द्वितीयतः प्रथम विश्वयुद्ध के अकस्मात् छिड़ जाने के कारण प्रभावहीन ही रहा।

उक्त महायुद्ध के समाप्त होने पर ही आयरलैंड को एक के बजाय दो इकाइयां समझने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, किंतु अब बहुत विलम्ब हो चुका था, क्योंकि इस महायुद्ध के दौरान में तथा इसके पश्चात् दक्षिणी आयरलैंड की अशांति तथा विद्रोह ने केवल पुरानी पद्धति वाले गृहशासन को बिलकुल ही अस्वीकार्य तथा स्पष्टतः त्याज्य बना दिया। तथापि सन् १९२० में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसने प्रथम बार आयरलैंड को दो भागों में बांट दिया। इस अधिनियम को केवल उत्तरी आयरलैंड ने स्वीकार किया और इसके उपबंधों के अनुसार वह भाग अब भी शासित हो रहा है। एक विनाशकारी गृहयुद्ध के पश्चात् दक्षिणी आयरलैंड जिस एकमात्र हल को स्वीकार करने को तैयार था वह डॉमिनियन गृहशासन था। यह सन् १९२२ के उस अधिनियम के अनुसार प्रदान किया गया जो युद्ध समाप्त करनेवाली संधि के बाद पारित हुआ और इस प्रकार आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना हुई। इस संधि में, जिसके आधार पर इसकी स्थापना हुई, उत्तरी आयरलैंड

व्यापक विचारविमर्श के आधार के रूप में स्वीकार किया गया।

को यह अधिकार भी दिया गया कि वह आयरिश फ्री स्टेट में सम्मिलित होने से इनकार कर सकेगा तथा सन् १९२० के अधिनियम के अधीन शासित रह सकेगा। ऐसा ही उसने किया भी। इस भांति आयरलैंड ने ऐसे दो भागों में विभाजित होने का विचित्र उदाहरण प्रस्तुत किया जिनमें से एक भाग कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया के समान स्वतंत्र है और दूसरा अपनी स्वयं की इच्छा से स्थानीय स्वायत्तता मात्र को भोग रहा है और अब भी वेस्टमिंस्टर-स्थित साम्राज्यिक संसद में सदस्य भेज रहा है।

आयरिश स्वतंत्र राज्य के लिए, जिसका नया नाम आयर हुआ, एक नया संविधान २९ दिसम्बर सन् १९३७ को प्रवृत्त हुआ जिसे विगत जुलाई में लोक-निर्देशन द्वारा जनता ने स्वीकार कर लिया था। इस नए संविधान ने गवर्नर-जनरल के पद को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर आयरलैंड (आयर) के प्रेसीडेंट के पद को जन्म दिया। यद्यपि ब्रिटेन का राजा उपलक्षित रूप में उस समय तक आयरलैंड का राजा भी मान्य किया गया जब तक कि वह 'संयोजित डॉमिनियनों द्वारा उनके सहयोग का प्रतीक' स्वीकार किया जाता रहे। ऐसा अनुमान किया जा सकता था कि इस सीमा तक आयर ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अपना संबंध बनाए रखेगा, यद्यपि द्वितीय महायुद्ध में, जब कि परीक्षण का समय आया, वह अप्रसन्नता से नहीं वरंच कड़ाई के साथ तटस्थ रहा। यह भी एक तथ्य है कि सन् १९३७ के संविधान की भाषा ऐसी थी कि वह एक स्वाधीन गणतंत्र के लिए लागू होती थी। श्री डी० वेलरा ने इस पर हुए वाद-विवाद के अवसर पर कहा भी था कि यदि आयरलैंड को गण-तंत्र घोषित करना हो तो इसमें एक विरामचिह्न के परिवर्तन की भी आवश्यकता नहीं है। उनके शब्द भविष्यवाणी के समान सिद्ध हुए, क्योंकि अक्तूबर सन् १९४८ में आयर के प्रधान मंत्री ने वैदेशिक संबंध अधिनियम को निरसित करने की साधारण प्रक्रिया के द्वारा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अंतिम औपचारिक संबंध तोड़ने के बारे में अपनी सरकार के इरादे की घोषणा की। यह एक ऐसा कदम था जिससे सन् १९४९ में स्वतंत्र आयर गणतंत्र की स्थापना हुई। इस संविधान की शाब्दिक रचना अन्त में "समस्त राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र के पुनः समायोजन" की आशा में इस प्रकार की गई थी कि वह एक एकात्मक राज्य के रूप में समस्त आयरलैंड को लागू होता था।

६. फ्रांस का एकात्मक राज्य

एकात्मक राज्य राजनीतिक संगठन का ऐसा स्वरूप है जो फ्रांस-निवासियों में, इतिहास तथा भावना, दोनों ही की दृष्टि से, गहराई के साथ जमा हुआ है। फ्रेंच राजतंत्र के अत्यन्त प्राचीन समय से ही वहां के राजा की, जिसकी प्रादेशिक शक्ति उसके अधीनस्थ सामंतों के मुकाबले में पहले बहुत कम थी, नीति उन प्रदेशों को, जो उसके अधीन नहीं थे, जीतकर अपने राज्य में मिला लेने, अर्थात् वास्तव में सामंतवाद द्वारा पैदा की गई परिस्थिति को समाप्त कर देने, की थी। यह प्रक्रिया तब तक चालू रही जब तक कि

सामंतगण राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त निर्बल नहीं हो गए और लुई चौदहवां अधिक अतिशयोक्ति के बिना यह कह सका था कि 'राज्य मैं हूं।' समस्त राजनीतिक शक्ति राजा में केन्द्रित हो जाने से, हम इसे समाप्त करनेवाली क्रांति के प्रलयकारी प्रभाव को समझ सकते हैं। नए राज्य की जड़ को जमाने के लिए शक्तिशाली स्थानीय संस्थाओं का अभाव था। राष्ट्र ही एकमात्र निगम था। क्रांति ने केन्द्रीयवाद की परम्परा तथा व्यक्तिगत अधिकारों और जनता की प्रभुसत्ता पर जोर देनेवाली विचारधारा के अतिरिक्त कोई बात नहीं रखी। इस परम्परा तथा विचारधारा का कभी भी अन्त नहीं हुआ और यही कारण है कि, जैसा एक फ्रेंच लेखक ने कहा है "फ्रांस की समस्त राजनीतिक प्रणालियां सदा स्वतः ही और शीघ्रता के साथ शक्तियों की एकता एवं समरूपता की ओर आकर्षित होती हैं।"

यह समस्त सिद्धान्त तृतीय गणतंत्र के संगठन में, जो सन् १८७५ से १९४० तक कायम रहा, निहित थे। यद्यपि इस गणतंत्र ने संसद् पर जोर देते हुए कुछ सीमा तक जनता की प्रभुता को अस्पष्ट-सा कर दिया था और प्रेसीडेंट के निर्वाचन के लिए जनमत के प्रयोग को—जो प्रथा क्रांति में बहुत प्रचलित रही—अप्रचलित कर दिया था, तथापि उसने फ्रांसीसी राज्य को विकेन्द्रित नहीं किया। वह वास्तव में राजनीतिक एकात्मकता का सर्वोत्तम और पूर्ण उदाहरण बना रहा। शासन की समस्त शक्तियां पेरिस में स्थित न्यायपालिका तथा कार्यपालिका विभागों के पास रहीं। कोई भी अधीनस्थ प्रभुत्वपूर्ण निकाय नहीं थे। फ्रांस डिपार्टमेंटों तथा कम्यूनों, एरॉनडाइजमेंटों एवं केण्टनों (इनमें से अंतिम दो केवल निर्वाचन-क्षेत्र मात्र थे) में विभाजित था, परन्तु उनके रूप तथा उनकी सीमाएं पूर्ण रूप से संविधियों पर अवलम्बित थीं। ऐसी कोई स्थानीय सत्ता तथा ऐसा कोई प्रादेशिक विभाग नहीं था जिसे केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार समाप्त न कर सकती थी। समस्त स्थानीय पदाधिकारियों की शक्तियां राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित थीं और उनके प्रत्येक कार्य का केन्द्रीय सरकार के एक प्रतिनिधि **प्रिफेक्ट** द्वारा पर्यवेक्षण होता था।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच के वर्षों में फ्रांस में गणतंत्र की राजनीतिक संस्थाओं के कार्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में संदेह तथा असंतोष फैला हुआ था और असंतोष की इन भावनाओं में राज्य की अतिकेन्द्रीयता की दमनकारिता की भावना भी थी। फलस्वरूप सुधार की विभिन्न योजनाओं में एक प्रादेशिकवाद का आन्दोलन भी था, जिसका उद्देश्य फ्रांस को स्थानीय इकाइयों में विभाजित करना और उन्हें वास्तविक रूप में स्थानीय स्वायत्तता प्रदान करना था जिससे कि केन्द्रीय सरकार को अपने अनेक भांति के कार्यों में से कुछ से मुक्ति मिल सके। परन्तु उन असंख्य समस्याओं के कारण जिनमें फ्रांस की सरकार प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् पड़ गई थी, यह आन्दोलन अधिक प्रगति नहीं कर सका और द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भी यह पुनर्जीवित नहीं हुआ। यह सच है कि अक्तूबर सन् १९४६ में हुए लोक-निर्देशन द्वारा स्वीकृत चतुर्थ गणतंत्र के संविधान में कुछ सीमा तक केन्द्र की शक्ति को कम करके स्थानीय संस्थाओं को शक्ति देने की आवश्यकता

का तृतीय गणतंत्र की अपेक्षा अधिक ध्यान रखा गया है। इस नए संविधान के दसवें अध्याय में यह प्रकट किया गया है कि यद्यपि गणतंत्र एक तथा अविभाज्य है तो भी वह कम्यूनों तथा डिपार्टमेंटों तथा समुद्रपार के प्रदेशों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, और सांविधानिक विधियों द्वारा उन्हें उन स्वतंत्रताओं के विस्तार का, जिन्हें उन्होंने पूर्व में भोगा था, आश्वासन देता है। परन्तु इस समय तो कोरे कागदी वक्तव्य से केवल यही मालूम होता है कि यह फ्रांस के स्थानीय शासन को मजबूत करने और राज्य के विभागों तथा स्थानीय प्रशासन की इकाइयों के बीच अधिक सम्पर्क सुनिश्चित करने के इरादे से अधिक कुछ नही है।

७. इटली का राज्य तथा गणतंत्र

एक स्वतंत्र एवं संयुक्त इटली की स्थापना के लिए संघर्ष की गाथा एक अर्थ में उतनी पुरानी है जितना कि ऑस्ट्रोगोथ थियोडोरिक का शासन (सन् ४९३-५२६)। दूसरे अर्थ में वह उतनी ही नई है जितना द्वितीय विश्वयुद्ध। पश्चिम में रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् एकीकरण का वास्तविक प्रयत्न करनेवाला पहला शासक थियोडोरिक था। इस सम्बन्ध में उसकी नीति उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में कावूर के समय तक की और किसी भी नीति से अधिक सफल रही। थियोडेरिक के पश्चात् चौदह शताब्दी तक भी यह संघर्ष चालू रहा जब कि इटली के लोगों ने फसिस्ट अधिनायकवाद के अंधकार तथा नाजी आधिपत्य के गढ़ से अपने को एक साथ मुक्त करने के लिए संघर्ष किया। इटली ने इन समस्त वर्षों में जो कि पश्चिम में रोमन साम्राज्य के पतन से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के इटालियन देशभक्तों—मेजिनी, कावूर, गेरीबाल्डी, राजा विक्टर इमेन्यूएल—के आविर्भाव तक गुजरे, न तो अपनी स्वतंत्रता और न एकता ही प्राप्त की। उसने सन् १८१५ में नेपोलियन के पतन से भी कुछ लाभ नहीं उठाया और इसके कुछ वर्षों के बाद भी उसका अत्यंत विख्यात दमनकर्त्ता मेटरनिक उसे 'एक भौगोलिक प्रदेश' ही कहता रहा। सन् १८४८ में इटली के आठ राज्यों में से सात के शासकों को अपनी प्रजा को संविधान प्रदान करने को बाध्य होना पड़ा, परन्तु इसके पश्चात् की क्रांति के विरुद्ध हुई कटु प्रतिक्रिया में एकमात्र सार्डीनिया ही अपने संविधान को जैसे-तैसे कायम रख सका। बाकी सबको पुनरुज्जीवित आस्ट्रिया ने बड़ी कठोरता से कुचल दिया।

सन् १८४८ के सार्डीनिया के संविधान का जीवित रहना, उस शताब्दी के मध्य की असफलताओं के पश्चात् होनेवाले राष्ट्रीय पुनरुत्थान और राजनीतिक एकीकरण के समय बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सन् १८५९ में सार्डीनिया ने फ्रांस की सहायता लेकर आस्ट्रियनों को लोंबार्डी से निकाल दिया और यह प्रदेश सार्डीनिया में शामिल कर दिया गया। आगामी वर्ष में टुस्कनी और केन्द्र की डचियों ने उत्तरी भाग के साथ अपने संयोग की घोषणा की और उन्हें शामिल कर लिया गया। इसी समय गेरीबाल्डी, सिसली तथा

नपल्स को, अत्याचारी बूरबों वंश से मुक्त कर रहा था, और सन् १८६१ में दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से मिल गया और प्रथम इटालियन संसद् का अधिवेशन हुआ। इस समय भी वेनिस तथा पोप के राज्य इस संयुक्त राज्य के बाहर रहे। इनमें से पहला राज्य सन् १८७० के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के परिणामस्वरूप और दूसरा राज्य सन् १८७० के फ्रांस-प्रशा युद्ध के दबाव के कारण रोम से फ्रांसीसी सेना के वापस हटने से शामिल हो गया। इस भांति उस समय ट्रियस्ट तथा उसके उपांत-स्थान और ट्रेंटीनो के प्रदेश के सिवाय व्यावहारिक रूप में इटली का एकीकरण पूर्ण हो चुका था। ट्रियस्ट तथा ट्रेंटीनो के प्रदेशों को इटली के लोग 'अ-मुक्त इटली (Italia Irredenta) कहते थे। ये प्रदेश प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक आस्ट्रिया के आधिपत्य में बने रहे। वे युद्ध के उपरान्त इटली के राज्य में शामिल हुए।

एकीकरण की यह क्रमिक प्रक्रिया संघ का रूप धारण कर सकती थी। प्रत्येक क्षेत्र कुछ अधिकारों को अपने पास रख लेता तथा शेष अधिकारों को सामान्य लाभ के लिए संघीय सत्ता को समर्पित कर देता। निस्सन्देह, बहुत-से इटलीवासियों ने, जिनमें कावूर भी सम्मिलित है, एक समय संघ की स्थापना करने का विचार भी किया था और तभी से कुछ लेखकों का यह भी मत है कि इटली के विभिन्न भागों के बीच विद्यमान इतिहास तथा परिस्थितियों की भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए यदि वहां संघीय व्यवस्था स्थापित की जाती तो एकीकरण के बाद से उसका जैसा इतिहास रहा है उससे अधिक शांत और व्यवस्थित होता। किन्तु इसके बजाय जैसे ही सार्डीनिया राज्य इटली राज्य में विस्तरित हुआ उसके संविधान का विस्तार कर उसे नए प्रदेश में भी लागू कर दिया गया। इटली वाले भी, यदि चाहते तो, वैसी ही प्रक्रिया का अनुसरण कर सकते थे जैसी कि संयुक्तराज्य अमरीका तथा कनाडा ने अपने पश्चिमी विस्तार के सम्बन्ध में अपनाई और जिसके अनुसार वे वृद्धि की आवश्यकतानुसार ही संघ में नए राज्यों को मिलाते गए। परन्तु इसके बजाय इन्होंने ब्रिटेन के संयोग अधिनियमों के दृष्टांतों का अनुसरण किया और विभिन्न भागों को संघ के रूप में संगठित करने के बजाय एक राज्य में विलीन कर दिया।

हाल ही के क्रांतिकारी परिवर्तनों के दौरान में भी राजनीतिक एकात्मकता इटली राज्य की एक सारभूत विशेषता रही है। मुसोलिनी ने तो अपने अधिनायकतंत्र की सफलता के लिए इसे मूलभूत सिद्धांत के रूप में उत्साह के साथ कायम रखा और अब भी इटली के नए संविधान में भी यह, यद्यपि कुछ संशोधित रूप में, प्रकट होता है। जून १९४६ में, इटली के निवासियों ने एक लोकमत-निर्देशन में, जिसमें पहली बार स्त्रियां सम्मिलित थीं और ९० प्रतिशत निर्वाचकों ने मतदान किया था, सापेक्ष दृष्टि से बहुत छोटे बहुमत से सेवाय वंश को, नौ शताब्दी तक राज्य करने के पश्चात्, सत्ताहीन कर दिया और अंत में उन गणतंत्रीय सिद्धांतों को अपनाया जिनके लिए राष्ट्रीय पुनरुत्थान के दिनों में मेजिनी ने निष्फल संघर्ष किया था। परिणामस्वरूप सन् १९४७ के गणतंत्रीय संविधान ने, राजतंत्र के आधारों को तथा मुसोलिनी की सर्वाधिकारवादी प्रणाली के प्रत्येक अवशेष को उखाड़ फेंकते हुए भी

इटली के एकात्मक राज्य के आवश्यक स्वरूप को बनाए रखा, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद १०६ में निश्चित रूप से यह घोषित किया गया है कि इटली का गणतंत्र "एक तथा अविभाज्य" है ।

तो भी नए संविधान[१] में कुछ सीमा तक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था है जो कि मूल संविधान में बिलकुल नहीं थी । वास्तव में अनुच्छेद १०६ में, जिससे कि अभी ही हमने उद्धरण दिया है, यह भी कहा गया है कि "गणतंत्र 'स्थानीय स्वायत्तता' को मानता है तथा उसका उत्कर्ष चाहता है ।" इसके बाद ऐसे कई अनुच्छेद (१०७-१२५) हैं जो प्रादेशिक संगठन के रूप तथा उसके कृत्यों को निर्धारित करते हैं । बाईस प्रदेशों के नाम गिनाए गए हैं और इनमें से चार को, जिनमें सिसली तथा सार्डीनिया भी सम्मिलित हैं, विशेष दर्जा दिया गया है । प्रत्येक प्रदेश में एक लोक-निर्वाचित परिषद् होती है, जो एक कार्यपालिका (La Deputazione Regionale) तथा प्रधान को निर्वाचित करती है । इन प्रादेशिक शासनों की शक्तियों तथा कृत्यों को सूचियों में प्रकट किया गया है, परन्तु साधारणतया वे ब्रिटेन की बृहत् स्थानीय सत्ताओं (काउंटी तथा कंट्री बरों) की शक्तियों से अधिक व्यापक नहीं हैं और यद्यपि इटली के इन नए प्रदेशों के अधिकार संविधान की विधि के भाग के रूप में सुरक्षित हैं फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे शासन के गठन में संघीय तत्त्व का समावेश होता है । अतएव, यह कहना ठीक ही होगा कि इटली का नया गणतंत्र, राज्य की नाममात्र की प्रमुखता को वंशानुगत नृपतंत्र से निर्वाचित प्रधानतंत्र में परिवर्तित करते हुए भी इटली में राजनीतिक एकता की अस्सी वर्ष पुरानी परम्परा में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं डालता ।

प्रश्न

१. 'प्रभुत्व' से आप क्या समझते हैं ? आन्तरिक और बाह्य प्रभुत्व में अन्तर समझाइए ।
२. आधुनिक राज्य के विकास में एकीकरण की दोनों प्रक्रियाएं समझाइए ।
३. 'संसद् की सर्वोच्चता' की परिभाषा कीजिए । एकात्मक राज्य में यह सर्वोच्चता कहां तक विद्यमान रहती है ?
४. ग्रेट ब्रिटेन के इतिहास में एकात्मकता के विकास पर प्रकाश डालिए ।
५. "ब्रिटेन के साम्राज्यवादी विकास से ब्रिटिश राज्य का एकात्मक रूप नष्ट नहीं हो सका है ।" इस उक्ति की यथार्थता प्रमाणित कीजिए ।
६. एकात्मक राज्य के उदाहरण के तौर पर दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन की परीक्षा कीजिए ।
७. सन् १९३१ के वेस्टमिंस्टर स्टेट्यूट का महत्त्व समझाइए ।
८. फ्रेंच गणतंत्र को आधुनिक संसार में एकात्मक राज्य का पूर्णतम उदाहरण बताना कहां तक युक्तियुक्त है ?
९. इटली के एकीकरण के विकास का क्रम समझाइए और बताइए कि इटली एकात्मक राज्य की जगह संघीय राज्य भी कैसे बन सकता था ?
१०. फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र तथा इटली के गणतंत्र में विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत का कहां तक लिहाज रखा गया है ?

---

[१] इस सम्बन्ध में मैं इटली के लन्दन-स्थित सांस्कृतिक दूत का आभारी हूं जिन्होंने कृपा कर मुझे संविधान के मसौदे की प्रति कुछ समय के लिए दे दी यद्यपि सन् १९४७ में, जब कि यह लिखा गया था, उनके कार्यालय में उसकी एक ही प्रति थी ।

अध्याय ५

संघराज्य

१. संघराज्य का सारभूत लक्षण

राजनीतिक संविधानवाद के विद्यार्थी के लिए संघवाद का महत्त्व स्पष्ट है, अतः इस पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। संघवाद की जड़ें किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल में भी विद्यमान थीं; प्राचीन यूनान के नगर-राज्य इससे अपरिचित नहीं थे। तदुपरान्त मध्ययुग में इटली के कुछ नगरों में भी इसकी झलक मिलती है और तेरहवीं शताब्दी से स्विट्जरलैंड के कानफेडरेशन (Confederation) के विकास से इसका इतिहास अविकल रहा है। इस संघ का जन्म सन् १२९१ में हुआ जब कि वहां के तीन फॉरेस्ट केण्टन (प्रदेश) अपनी रक्षा के लिए आपस में मिल गए। आज अनेक राज्यों—परिस्थिति और परम्परा की दृष्टि से इतने विभिन्न जितने कि युगोस्लाविया, संयुक्तराज्य अमरीका, मेक्सिको और आस्ट्रेलिया—के राजनीतिक संगठन का आधार संघवाद ही है और यदि आज संसार अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता से, जिससे कि हम अब तक परिचित हैं, निकलकर एक विश्वराज्य के रूप में संगठित होता है तो यह निश्चित है कि ऐसा संघीय आधार पर ही हो सकेगा। अतीत और वर्त्तमान में निश्चित और भविष्य में सम्भाव्य रूप से इतना गहन तथा व्यापक प्रभाव रखनेवाला राजनीतिक प्रयोग किसी भी गम्भीर नागरिक के सूक्ष्म अन्वेषण से वंचित और गहन अध्ययन से अलाभप्रद नहीं रह सकता।

संघवाद के स्थान-स्थान पर और समय-समय पर अनेक रूप रहे हैं। अपने शिथिलतम रूप में यह ऐसे राज्यों का एक संकलन मात्र है जो कि वास्तव में किंचित् मात्र भी राज्य का निर्माण नहीं करते। इतिहास इस भांति के शिथिल संगठनों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें हम किसी अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में प्रायः कानफेडरेशन कहते हैं। बहुत पीछे जाने की आवश्यकता नहीं, नेपोलियन के पतन पर सन् १८१५ में स्थापित जर्मनी के कानफेडरेशन को ही लीजिए, जो कि इस भांति के संगठन का एक उदाहरण है। जर्मनी में ऐसे दो शब्द **'स्टाट'** (Staat) जिसका अर्थ राज्य है तथा **'बंद'** (Bund) जिसका अर्थ संघ है, मौजूद हैं। इन दोनों शब्दों के संयुक्त रूप से हमें यह जानने में सहायता मिल सकती है कि तथाकथित कानफेडरेशन और वास्तविक संघ में क्या अंतर है। सन् १८१५ से १८६६ तक विद्यमान रहनेवाला जर्मनी का यह कानफेडरेशन जर्मनों द्वारा हमेशा 'बन्द' (Bund) के रूप में ही पुकारा जाता था और फ्रेंकफोर्ट में स्थित राज्य-परिषद् (Diet), जो कि इसकी एकमात्र केन्द्रीय संस्था थी, वास्तव में इस संगठन के

विभिन्न राज्यों के राजदूतों की सभा से अधिक कुछ भी नहीं थी। जर्मन लोग राज्यों के इस संगठन को **'राज्यसंघ'** (Staatenbund) कहते थे। इसमें राज्यों की बहुलता पर जोर दिया जाता था। ऐसी अवस्था में इस भांति के संगठन तथा सुदृढ़ मैत्री के बीच में किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं रह जाता। इसमें प्रत्येक राज्य की आन्तरिक प्रभुसत्ता बिलकुल अन्यून रहती है और उसकी बाह्य प्रभुसत्ता भी बहुत कम अंश में सीमित होती है।

राज्यसंघ (Staatenbund) उसके सदस्यों को सामान्यतया अधिक संतोष-जनक नहीं हुआ और वे कुछ समय में ही या तो पुनः अलग हो गए अथवा एक वास्तविक यूनियन के रूप में अधिक घनिष्ठता के साथ जुड़ गए। इस वास्तविक यूनियन को जर्मनों ने संघराज्य (Bundesstaat) कहा। यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमें 'राज्य' (Staat) शब्द एकवचन हो जाता है। यह वास्तव में राज्यों का संघ (Staatenbund) नहीं वरंच एक संघीय राज्य (Bundesstaat) है। ऐसा संगठन, संघनिर्माणकर्त्ता इकाइयों के बीच आपस में हुई संधि पर तथा इसके उपरांत इनके नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकृत संघीय संविधान पर आधारित होता है। यह आवश्यक रूप में एक कानफेडरेशन से इस बात में विभिन्न है कि इसकी एक केन्द्रीय (अथवा संघीय) कार्यपालिका होती है जिसके हाथों में सम्बन्धित क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त नागरिकों के ऊपर शासन करने की वास्तविक शक्ति होती है। यह ऐसे राज्यों का संयोग मात्र (जिससे वास्तव में राज्य का निर्माण नहीं होता) नहीं है वरन् ऐसे लोगों का यूनियन है जिनके ऊपर केन्द्रीय शक्ति को निश्चित मात्रा में प्रत्यक्ष सत्ता प्राप्त होती है। अतः, निष्कर्ष निकलता है कि वास्तविक संघराज्य के निर्माण के लिए दो बातों की आवश्यकता है और इनमें से किसी एक के भी अभाव में संघ का निर्माण नहीं हो सकता। इनमें पहली शर्त यह है कि संघ की निर्माणकर्त्ता इकाइयों में राष्ट्रीयता की भावना हो। यह बात इतनी वास्तविक है कि हम साधारणतया यह पाते हैं कि आधुनिक संघराज्य संघीकरण से पूर्व या तो कान-फेडरेशन के रूप में शिथिल रूप से संयुक्त थे, जिसका उदाहरण जर्मनी है, अथवा एक ही प्रभुसत्ता के अधीन थे जिसके उदाहरण संयुक्तराज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड (जहां दोनों बातें मौजूद थीं), आस्ट्रेलिया, और कनाडा हैं। दूसरी बात यह है कि संघनिर्माण-कर्त्ता इकाइयां संयोग (Union) चाहते हुए भी एकत्व (Unity) नहीं चाहतीं, क्योंकि यदि वे एकत्व चाहती हों तो वे संघराज्य का निर्माण न करते हुए एकात्मक राज्य बनाएंगी।

अतः, स्पष्ट है कि संघीय संविधान, राष्ट्रीय प्रभुता तथा राज्य-प्रभुता के दावों के बीच, जो कि ऊपरी दृष्टि से विरोधी जान पड़ती हैं, सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। इस सामंजस्य की मुख्य रीतियां भी स्पष्ट हैं, यद्यपि, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इनकी ब्यौरे की बातें अलग-अलग संघीय संविधानों में पर्याप्त रूप में अलग-अलग हो सकती हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें राष्ट्रीय अथवा संघीय सत्ता को सौंप दी जाती हैं,

और व्यक्तिगत रूप से राज्यों से सम्बन्ध रखनेवाली तथा सामान्य हित के लिए मूलतः महत्त्वपूर्ण न होनेवाली सब बातें राज्यों के शासन के नियंत्रण में रहती हैं। शक्तियों का यह विभाजन, चाहे वह आधुनिक विश्व के अनेक संघों में ब्यौरे की बातों में किसी भी तरह क्रियान्वित क्यों न किया जाए, संघराज्य का विशिष्ट लक्षण है।

२. संघीय आदर्श के भेद

चूंकि संघीय सत्ता और संघनिर्माणकर्त्री इकाइयों के बीच शासन की शक्तियों का विभाजन संघराज्य का अत्यावश्यक गुण है; अतः हमें ऐसी तीन बातें दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें संघराज्य एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। इनमें पहली वह रीति है जिसके अनुसार संघीय तथा राज्यीय सत्ताओं में शक्तियों का विभाजन होता है। दूसरी बात उस सत्ता का रूप है जो कि संघीय एवं राज्यीय सत्ताओं पर, यदि उनमें आपस में कोई विवाद उठ खड़ा हो, संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करती है, और तीसरी बात, संविधान में परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उसमें परिवर्तन करनेवाला साधन है।

शक्तियों का विभाजन दो प्रकार से हो सकता है : या तो संविधान में यह लिखा होता है कि संघीय सत्ता के पास क्या-क्या शक्तियां रहेंगी और शेष शक्तियां संघनिर्मात्री इकाइयों के पास रह जाती हैं अथवा इसमें यह उल्लेख रहता है कि संघनिर्मात्री इकाइयों की कौन-कौन-सी शक्तियां होंगी और शेष शक्तियां संघीय सत्ता के पास रह जाती हैं। यह अवशेष सामान्यतया **'रक्षित शक्तियां'** (Reserve of Powers) कहलाता है। शक्तियों को प्रकट करने का उद्देश्य उनका निरूपण करना और इस भांति उन्हें परिसीमित करना है। अतः, यह बात मान ली जानी चाहिए कि जहां संघीय संविधान में संघनिर्मात्री इकाइयों की शक्तियों का निरूपण होता है, जिसका उदाहरण कनाडा की डॉमिनियन है, वहां लक्ष्य यह होता है कि संघ के पृथक्-पृथक् सदस्यों—इकाइयों—को दबाकर संघीय सत्ता को बलशाली बनाया जाए। कनाडा के विषय में यह बात इतनी सत्य है कि वहां संघनिर्मात्री इकाइयों को राज्य के बजाय प्रान्त कहा जाता है। इस भांति जहां 'रक्षित शक्तियां' संघीय सत्ता के पास होती हैं वहां संविधान उस व्यवस्था की अपेक्षा जहां वे राज्यों के पास होती हैं, एकात्मक राज्य के अधिक समीप होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा राज्य स्वरूप में संघीय कम होता है।

जहां संविधान संघीय सत्ता की शक्तियों को निरूपित करता है, जैसा कि संयुक्त-राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में है, वहां इसका लक्ष्य संघनिर्मात्री इकाइयों के विरुद्ध संघीय सत्ता की शक्ति को मर्यादित करना होता है। ऐसी संघीय इकाइयां अपनी अधिक-से-अधिक उतनी स्वतंत्रता को बनाए रखना चाहती हैं जितनी कि संघ की सुरक्षा से असंगत न हो। वे वास्तविक शक्ति से युक्त एक ऐसा संघराज्य चाहती हैं, जिसके द्वारा वे अपनी समान राष्ट्रीयता को प्रकट कर सकें, परन्तु इसके साथ वे यह भी चाहती हैं कि जहां तक

सम्भव हो सके वे राज्य के रूप में अपने व्यक्तिगत स्वरूप को बनाए रखें। जितना अधिक वे अपना व्यक्तिगत स्वरूप बनाए रखना चाहेंगी उतनी ही मात्रा में वे संघीय शक्तियों को निरूपित करना चाहेंगी और उतनी ही अधिक 'रक्षित शक्तियां' वे अपने पास रखना चाहेंगी। अतः, राज्यों के पास रक्षित शक्तियां जितनी ही अधिक होंगी उतनी ही अधिक मात्रा में वह राज्य संघीय होगा जिसका संविधान उसको ऐसी रक्षित शक्तियां प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, वह संघराज्य जिसका संविधान संघीय सत्ता की शक्तियों को निरूपित करता है, उस राज्य की अपेक्षा कम केन्द्रीकृत है जिसका संविधान संघनिर्मात्री इकाइयों की शक्तियों को निरूपित करता है।

शक्तियों के इस विभाजन में, भले ही वह दोनों रीतियों में से किसी भी रीति से कार्यान्वित हो, यह उपलक्षित होता है कि संघ का तथा संघनिर्मात्री इकाइयों में से प्रत्येक का विधानमंडल, दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में सीमित हैं और उनमें से कोई भी सर्वोच्च नहीं है। उन दोनों के ऊपर भी कोई चीज है। यह संविधान है, जो कि एक निश्चित संविदा, एक ऐसी संधि, है जिसमें संविदाकर्त्ता पक्ष अपने संयोग की शर्तों को लेखबद्ध कर लेते हैं। संघीय संविधान वास्तव में संघीय तथा राज्यीय सत्ताओं के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का एक लेखपत्र है। इन अधिकारों और कर्त्तव्यों को उनके उचित अनुपातों में रखा जाना चाहिए। किसी भी सत्ता के द्वारा प्रयुक्त अधिकार और एक सत्ता से दूसरे के द्वारा अपेक्षित कर्त्तव्य संविधान में निर्धारित सूची से बाहर नहीं होने चाहिए। वास्तविक संघराज्य में इस संतुलन को बनाए रखने की शक्ति न्यायाधीशों के एक सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान की जाती है, जिसका कर्त्तव्य यह देखना है कि उस संविधान का उस सीमा तक सम्मान किया जाए जहां तक कि वह संविदाकर्त्ता पक्षों और उनके द्वारा स्थापित संघीय सत्ता के बीच शासनीय शक्तियों का वितरण करता है।

ऐसे न्यायालय के अधिकारों के परिमाण के सम्बन्ध में संघराज्यों में भेद हो सकता है। पूर्णरूपेण संघीय राज्य में, जिसका संयुक्तराज्य अमरीका सर्वोत्तम उदाहरण है, संघीय सत्ता और राज्यीय सत्ता के बीच विवाद हो जाने की दशा में निर्णय देने के लिए न्यायालय अपनी शक्ति में पूर्णरूपेण सर्वोच्च है। अन्य अवस्थाओं में कुछ दूसरी सत्ताओं को इस विषय में प्रदत्त अधिकारों के द्वारा इस न्यायालय की शक्तियां सीमित हैं। संघीय राज्य में सर्वोच्च न्यायपालिका की शक्तियों को इस भांति सीमित करनेवाला सर्वोत्तम उदाहरण स्विट्जरलैंड है जहां राज्यीय तथा संघीय सत्ताओं के बीच समस्त विवादों की अंतिम निर्णायक संघीय सभा (Federal Assembly) है न कि संघीय न्यायालय; और संघीय न्यायालय संघीय सभा के द्वारा पारित अधिनियमों की सांविधानिकता के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं कर सकता। किन्तु इस अवस्था में, जैसा कि हम बाद के अध्याय में बताएंगे, संघीय न्यायालय के हाथ में ऐसी शक्तियां होना भी निरर्थक है,

क्योंकि स्विट्जरलैंड में प्रभुत्वपूर्ण जनता के पास अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करने का अत्यन्त सीधा साधन है ।

इन दोनों चरम बिंदुओं के बीच ऐसे राज्यों के अनेक उदाहरण हैं जिनमें संघीय एवं राज्यीय सत्ताओं के बीच के विवादों के निर्णय के मामलों में भेद है । संयुक्तराज्य के बाद, जो कि इस विषय का पूर्णतम उदाहरण है, दूसरा स्थान आस्ट्रेलिया का है। इन दोनों देशों के बीच यह अंतर है कि आस्ट्रेलिया के संविधान में ऐसी कुछ धाराएं हैं जो वहां की राष्ट्रीय संसद् के द्वारा किसी अन्य सत्ता की अनुमति के बिना बदली जा सकती हैं और निश्चय ही ऐसे मामलों में राज्यों के अधिकारों के उल्लंघन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ज़र्मनी के पिछले वेमर गणतंत्र में सर्वोच्च संघ-न्यायालय से राज्य तथा संघ अथवा स्वयं राज्यों के बीच के आपस के कुछ ही मामलों में उत्पन्न विवादों का निपटारा कराया जाता था। कनाडा में विवाद के प्रश्न अक्सर उत्पन्न होते हैं, हालांकि वहां प्रान्तों की शक्तियां उल्लिखित हैं। ऐसे प्रश्नों के उठने पर कनाडा का सर्वोच्च न्यायालय निर्णय दे सकता है।[१]

इस भांति समस्त संघराज्यों में एक निश्चित विधिवाद (Legalism) है जो कि अधिकांश एकात्मक राज्यों में नहीं है। इस बात से यह प्रश्न उठता है कि संविधान में परिवर्तन कैसे किया जाए। हम इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ आगे कहेंगे। यहां पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि संघीय संविधान का स्वरूप निश्चय ही दस्तावेजी होता है, क्योंकि यह बात कल्पना से परे है कि इस भांति उत्तम रीति में संतुलित शक्तियों को उनके बने रहने के लिए केवल परम्पराओं अथवा प्रासंगिक अधिनियमन पर छोड़ दिया जाए। इस-लिए, संघीय संविधान **अनमनीय** होता है अर्थात् वे शर्तें जिनके अनुसार संविधान में परि-वर्त्तन किया जा सकता है या तो स्पष्ट या उपलक्षित होती हैं। यदि वे स्पष्ट हैं अर्थात् यदि संशोधन की शर्तें निश्चित रूप से निर्धारित की जा चुकी हैं तो वह स्पष्टतया अनमनीय है। यदि वे अभिव्यक्त नहीं की गई हैं तो संविधान की अनमनीयता उपलक्षित है, क्योंकि या तो संविधान वैध साधनों से अपरिवर्तनीय है अर्थात् उसमें परिवर्तन करना क्रान्ति को जन्म देना होगा—अथवा उसमें परिवर्तन करने का एकमात्र मार्ग यही है कि समस्त मूल-संविदा-कर्त्ता पक्ष ऐसा परिवर्तन करने को सहमत हों और ऐसी अवस्था में वे परिणामस्वरूप एक नई संधि पर हस्ताक्षर करेंगे और उस सीमा तक एक नए संविधान को प्रख्यापित करेंगे।

संघीय संविधान में परिवर्तन की पद्धतियों की विस्तार की बातों से सम्बन्धित प्रश्न को हम अनमनीय संविधान वाले बाद के अध्याय के लिए छोड़ते है। इस अध्याय के शेष भाग में हम वर्त्तमान संसार के संघराज्यों के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरणों पर विचार करेंगे।

---

[१] उक्त न्यायालय की शक्तियां लन्दन-स्थित प्रिवी कौंसिल की न्यायसमिति के समक्ष अपील के अधिकार के अधीन थीं, परन्तु यह अधिकार सन् १९५१ में जब कि इन दोनों न्यायालयों के पुराने संबंध समाप्त हो गए, लुप्त हो गया।

३. संयुक्तराज्य अमरीका की संघप्रणाली

संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान संसार का पूर्णतम संघीय संविधान है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें संघवाद की तीनों आवश्यक विशेषताएं अर्थात् संविधान की सर्वोच्चता, शक्तियों का वितरण, और संघीय न्यायपालिका की सत्ता, अत्यन्त स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। यह अपनी उस अवस्था से जिसमें प्रारम्भिक तेरह संघनिर्माता राज्य उपनिवेशों के रूप में ब्रिटेन के अधीन थे, दो मंजिलों को तय करके अपनी पूर्णावस्था में पहुंचा है। पहली मंजिल तब पार की गई जब सन् १७८१ में कानफेडरेशन की धाराओं (Articles of Confederation) को अंगीकार किया गया, जिनके अनुसार यह वास्तविक संघ नहीं वरंच एक कानफेडरेशन—एक शिथिल संयोग—बना अथवा वुड्रो विल्सन के शब्दों में "एक बाल की रस्सी जिससे कोई भी नहीं बांधा जा सकता था।" दूसरी मंजिल सन् १७८७ में तब पार की गई जब फिलाडेल्फिया के सम्मेलन में वर्त्तमान संविधान तैयार किया गया जो कि तेरहों राज्यों द्वारा अंगीकृत होकर सन् १७८९ से प्रभावकारी हुआ। अब यह वास्तविक रूप में संघ बन गया क्योंकि इसके द्वारा अत्यन्त निश्चित अधिकारों से युक्त एक केन्द्रीय कार्यपालिका की स्थापना हुई। साथ ही इसके द्वारा सम्पूर्ण राज्य को जहां तक कि सम्भव था संघीय रूप दिया गया, अर्थात् इस संविधान ने इस राज्य को इतनी कम मात्रा में एकात्मक रखा जितना कि शक्तिशाली संघीय शासन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सम्भव था, जो उन कठिनाइयों से सिद्ध हो चुकी थी जिनसे कि कानफेडरेशन को लगभग एक दशक तक असहाय रूप में संघर्ष करना पड़ा था।

जहां तक कि शक्तियों के विभाजन का प्रश्न है, संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान दुहरा विभाजन करता है; प्रथमतः यह सरकार को तीन विभागों—व्यवस्थापिका कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका—मे विभाजित करता है तथा उन्हें एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् कर देता है। इसके बारे में हम आगे चलकर कुछ कहेंगे। दूसरे, यह शक्तियों को संघीय तथा राज्यीय सत्ताओं में इस रीति से बांटता है जिससे कि संघनिर्मात्री इकाइयों को ऐसे समस्त अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जिनकी संघीय सत्ता को सामान्य राष्ट्रीय लाभ के हेतु अनिवार्य रूप से आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण संयुक्तराज्य अमरीका की शक्तियां स्पष्टतापूर्वक निरूपित हैं और राज्यों के लिए पृथक् रूप से छोड़ी हुई शक्तियां निरूपित नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह संविधान एक सुस्पष्ट सूची में उन शक्तियों का उल्लेख करता है जिनका प्रयोग संघीय सत्ता को करना है। इसमें ऐसी शक्तियों की भी सूची है जिनका प्रयोग संयुक्तराज्य (संघ-सरकार) के लिए निषिद्ध है और साथ ही इसमें ऐसी शक्तियों की भी सूची है जिनका प्रयोग करना राज्यों के लिए निषिद्ध है। इसके साथ ही इस अभिप्राय से कि दुरुपयोग के लिए कहीं गुंजाइश ही न रहे, संविधान के दसवें संशोधन में (जो सन् १७९१ में पारित हुआ और जो मूल संविधान के प्रख्यापन के इतना समीप था कि उसे वास्तव में मूल संविधान का ही एक भाग समझना चाहिए) यह कहा गया है

कि "वे शक्तियां जो संविधान के द्वारा संयुक्तराज्य को नहीं सौंपी गई हैं, अथवा जो इसके द्वारा राज्यों के लिए निषिद्ध नहीं हैं, राज्यों अथवा जनता के लिए सुरक्षित रखी गई हैं।" इस सबका निष्कर्ष यह हुआ कि संघीय सरकार ऐसी किसी शक्ति के लिए दावा नहीं कर सकती जो उसे संविधान ने प्रदान न की हो, परन्तु राज्य किसी भी ऐसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं जो एक स्वतंत्र प्रभुत्वपूर्ण राज्य को प्राप्त हैं, केवल उन शक्तियों का नहीं जिनसे उनको संविधान ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वंचित कर दिया है।

जहां तक विधान-विभाग का सम्बन्ध है, संविधान ने दो सदनों —सिनेट तथा प्रतिनिधि-सभा—वाले एक विधानमंडल (कांग्रेस) की स्थापना की है। इन दोनों सदनों में से उच्च सदन में संविधान ने समस्त राज्यों की समानता को सुरक्षित रखा है तथा इसे अपरिवर्तनीय विधि बना दिया है। जहां तक कार्यपालिका का सम्बन्ध है, यह एक चतुर्वर्षीय राष्ट्रपति-पद की स्थापना करता है तथा इस पद के निर्वाचन की पद्धति का विस्तृत विवेचन करता है। यह राष्ट्रपति की शक्तियों का निरूपण करता और उसकी राजनीतिक शक्तियों को (संधि करना, राजदूतों की नियुक्ति आदि) उनके प्रयोग के लिए सिनेट के अनुमोदन की आवश्यकता द्वारा नियंत्रित करता है। इसका हेतु यह है कि वह बाह्य प्रभुसत्ता, जिसे राज्यों ने समर्पित कर दिया है, अब भी अन्ततः उस सदन के द्वारा नियंत्रित की जाती है जिसमें उन राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है। जहां तक न्यायिक विभाग का संबंध है, संविधान ऐसे संघीय न्यायालयों की स्थापना करता है, जिनका अधिकार-क्षेत्र संविधान से उत्पन्न समस्त वादों तक विस्तृत है और उनमें वे सब वाद भी सम्मिलित हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के हैं, चाहे वे संयुक्तराज्य अमरीका के विभिन्न राज्यों के बीच अथवा संयुक्तराज्य अमरीका और संसार के किसी अन्य राज्य के बीच हों। संविधान एक ऐसे सर्वोच्च न्यायालय की भी स्थापना करता है, जो अभी तक उल्लिखित किए गए सभी भांति के वादों के लिए अंतिम अपीलीय न्यायालय है। संविधान के अनुसार यह संविधान की अन्तिम रूप से व्याख्या करता है तथा न्याय विभाग को प्रत्येक विधानमंडल से (संविधान के अन्तर्गत), भले ही वह संघीय हो अथवा राज्यीय, ऊपर स्थापित करता है।

अतएव, यह संविधान राज्यों को, जो कि संघ का निर्माण करते हैं, विस्तृत मात्रा में शक्तियां प्रदान करता है। वुड्रो विल्सन ने बताया है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश संसद् ने जिन एक दर्जन महान् विधान-सम्बन्धी योजनाओं को पारित किया, उनमें से केवल दो ही ऐसी थीं जो अमरीका के संघीय विधायन के क्षेत्र में आ सकती थीं। उदाहरण के रूप में वह कैथोलिक मुक्ति, संसदीय सुधार, दासत्व-उन्मूलन, दरिद्र-नियमों का संशोधन, नगरपालिका-सुधार, अन्न-विधियों (Corn Laws) का निरसन, यहूदियों का संसद् में प्रवेश, आयरलैंड के चर्च का विस्थापन, आयरलैंड की भूमि-संबंधी विधियों के परिवर्तन, राष्ट्रीय शिक्षा की

स्थापना, बैलट पद्धति का सूत्रपात और दण्ड विधि के सुधार को लेता है। उसका कहना है कि इनमें से केवल कॉर्नविधियां और दासत्व ही संघीय विनियमन के विषय होते, और इन दोनों में से भी दूसरा संघीय कार्यवाही के क्षेत्र के तब तक बाहर रहा जब तक कि गृह-युद्ध (सन् १८६१-१८६५) के बाद संशोधन के द्वारा उसे राज्यों की शक्तियों में से निकाल नहीं लिया गया। ये तथ्य वास्तव में, केन्द्रीय मंत्रिमंडल की सर्वोच्चता के अभ्यस्त अंगरेजों जैसे प्रेक्षकों को बड़े ही प्रभावित करनेवाले हैं। अमरीका में, निस्सन्देह, संघीय संविधान तब तक निरर्थक है जब तक राज्यों के संविधानों को उसके साथ शामिल न किया जाए; क्योंकि ये संविधान उसमें केवल जोड़ी हुई उपयोगी वस्तुएं ही नहीं वरंच उसके अनिवार्य पूरक हैं।

ऐसी समस्त बातों पर, जिनका संविधान में इस रूप में उल्लेख नहीं है कि वे संघीय सरकार की हैं, राज्यों के पूर्ण अधिकारों का एक और दृष्टान्त इस तथ्य में मिलता है कि ऐसे किसी विषय में संयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं होती। एक आधुनिक उदाहरण इस बात को सिद्ध कर देगा। कुछ वर्ष पूर्व टेनेसी राज्य में एक शिक्षक पर एक सरकारी विद्यालय में विकासवाद पढ़ाने के कारण अभियोग चलाया गया। क्योंकि यह कार्य राज्यविधि का उल्लंघन था, उस समय यह सुझाव दिया गया कि चूंकि इस मामले का स्थानीय हितों से ही सम्बन्ध नहीं है बल्कि इसमें समस्त राष्ट्र के मनोद्वेग केन्द्रित हो गए हैं; अतः, उसे सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता था। संघ न्यायालय में इस प्रकार का मामला लाने का कोई तरीका नही था (जब तक कि संविधान में ही संशोधन न किया जाए), क्योंकि संविधान में शिक्षासम्बन्धी विषय का उल्लेख भी नहीं है और इस प्रकार यह ऐसा विषय है जो पूर्णरूप से राज्यसत्ता के लिए रक्षित है।

राज्यों को संविधान द्वारा इस भांति सुरक्षा दिए जाने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि संयुक्तराज्य की स्थापना के काल से ही राज्य-सरकार के खिलाफ संघ-सरकार की शक्ति क्रमिक रूप से बढ़ रही है। यह शक्ति केवल सांविधानिक संशोधन से ही नहीं बल्कि उन विभिन्न निर्णयों से भी बढ़ी है जिनमें संघ-न्यायालयों ने संविधान की व्याख्या की है। विशेष रूप से किसी भी राज्य के लिए संघ से पृथक् हो जाना बिलकुल असम्भव हो गया है। इस तथ्य को समस्त विवादों से परे सिद्ध करने के हेतु आधुनिक काल का सबसे भयानक गृहयुद्ध हुआ। यह गृहयुद्ध अथवा पृथक्करण-युद्ध (War of Secession) (सन् १८६१-६५), जैसा कि वह विशिष्ट रूप में कहा जाता है, उन सात दक्षिणी राज्यों के (जो कि बाद में ग्यारह हो गए थे) संयुक्तराज्य अमरीका से सम्बन्ध तोड़कर अपना स्वय एक संघ स्थापित करने के प्रयत्न का परिणाम था। जहां तक राष्ट्रपति लिंकन का संबंध था, यह युद्ध दासत्व को समाप्त करने के लिए हो नहीं—यद्यपि दासत्व का प्रश्न ही उसका कारण था और दासत्व का उन्मूलन इसके द्वारा हुआ भी—वरन् एकत्व के

सिद्धांत की रक्षा के लिए लड़ा गया था। ऐसा करने में अब्राहम लिंकन ने अमरीकी जनता की राष्ट्रीय भावना के प्रति अपील की थी। नैतिक रूप से उन्होंने कहा कि "किसी भी राष्ट्र के लिए, यदि वह अपनी सीमा के अन्तर्गत एक ही समय में स्वतंत्रता और दासत्व इन दोनों चरम विरोधी सिद्धान्तों को पनपने दे, जीवित रहना असंभव है" और राजनीतिक रूप से भी उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि "संघ चिरस्थायी है।" उन्होंने यह भी कहा कि निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि "किसी भी उचित शासन ने आज तक अपनी मूल विधि (संविधान) में स्वयं अपनी ही समाप्ति के निमित्त कोई उपबन्ध नहीं रखा।"

इस गृहयुद्ध में उत्तरी राज्यों की विजय न यूनियन की रक्षा करके उसे बलशाली बनाया। आज संयुक्तराज्य का कोई भी एक राज्य पृथक् होने का सम्भवतः विचार भी नहीं कर सकता। अकेला कोई भी राज्य इस बात में सफल होने की कैसे आशा कर सकता है जब कि पहले ग्यारह राज्य मिलकर भी इस भांति स्पष्ट रूप से असफल हो चुके हैं ? ऊपर से देखने में नहीं, परन्तु वास्तव में पृथक्करण-युद्ध ने अमरीकी संविधान को महान् रूप में परिवर्तित कर दिया। यद्यपि इसने एकात्मक राज्य को जन्म नहीं दिया, तथापि अंतिम विश्लेषण में उसने यह सिद्ध कर दिया कि अमरीकी संघ स विघटन अधिक नहीं तो उतना सुरक्षित तो अवश्य है जितना कि कोई भी एकात्मक राज्य हो सकता है, क्योंकि संयुक्तराज्य अमरीका की यह विशिष्ट सफलता है कि उसने यह समझ लिया है कि लगभग अर्द्धशत राज्यों के बीच, उन्हें उन समस्त अधिकारों से वंचित किए बिना जो कि उनके राजनीतिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए परमावश्यक हैं, मिलकर कार्य करने के लाभों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। संक्षेप में, अमरीका ने संसार को यह बता दिया है कि राजनीतिक संगठन के माध्यम से शांति किस भांति प्राप्त की जा सकती है।

आधुनिक काल में और विशेष कर राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूजवैल्ट के प्रथम दो राष्ट्रपतित्व-कालो (सन् १९३३-४१) के दौरान में संयुक्तराज्य के मतदाताओं के कुछ वर्गों में यह भावना बढ़ी कि अमरीकी आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं का सामना करने के लिए, जिसके लिए उस नियंत्रण तथा निर्देशन की अपेक्षा जो कि संविधान के अधीन संघीय सत्ता के पास था अधिक केन्द्रीय नियंत्रण तथा निर्देशन की आवश्यकता है, राज्यों की शक्ति को घटाकर संघीय शासन को मजबूत बनाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य में भयानक रूप से फैले हुए हिंसात्मक अपराधों तथा गुंडागर्दी आदि को रोकने में अधिकारियों की अशक्यता का कारण, विभिन्न प्रकार की अड़तालीस राजकीय आपराधिक विधियां तथा अपराधी व्यक्ति के दूसरे राज्य में भागकर पुलिस के चंगुल से निकल जाने की आसानी बताई जाती है। इस खतरे का सामना करने के लिए अमरीकी समाज को एकमात्र आत्मरक्षा के उद्देश्य से

विवश होकर संघीय पुलिस-बल ('G' Men) का उपयोग करने की आज्ञा देने को बाध्य होना पड़ा। यह पुलिस-बल विशिष्ट संघीय विधि के अधीन मद्य-निषेध के प्रवर्त्तन के लिए पहले से मौजूद था। परन्तु जब प्रेसीडेंट रूजवैल्ट ने उस मंदी से, जो कि सन् १९२९ में प्रारम्भ हुई और उनके इस पद पर प्रतिष्ठित होने के समय पर अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी, उत्पन्न गम्भीर आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों पर प्रहार करने के लिए संघीय अधिकारों के उपयोग का प्रयत्न किया तो सम्पूर्ण सांविधानिक ढांचे को एक अत्यन्त गम्भीर परीक्षण का सामना करना पड़ा।

रूजवैल्ट के प्रस्तावों से, जो कि संक्षिप्त रूप में **'नव-व्यवस्था'** (न्यू डील) कहलाते थे, उत्पन्न सांविधानिक स्थिति उस रीति के, जिससे अमरीकी संविधान कार्य करता है, दृष्टान्त के रूप में अवलोकनीय है। इसमें राष्ट्रपति का उद्देश्य सम्पूर्ण अमरीकी संघ के साधनों को पृथक्-पृथक् राज्यों के उन कष्टों को दूर करने में उपयोग करने का था जिनका वे राज्य स्वयं ऐसी विषम स्थिति में निवारण करने में असमर्थ थे। अतएव, उन्होंने राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को मुद्रा तथा ऋण के केन्द्रीय नियन्त्रण, कृषि के राष्ट्रव्यापी विनियमन, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान, संघीय आपात सहायता (जिसमें लोक-निर्माणों की वृद्धि तथा संघीय श्रम-विनिमयों को खोलना भी सम्मिलित था), और सामाजिक सुरक्षा की सामान्य प्रणाली की स्थापना के लिए (जिसमें काम रहित व्यक्तियों का बीमा तथा वृद्धावस्था के निवृत्ति-वेतन भी सम्मिलित थे) अधिनियम पारित करने के लिए राजी किया। इन कामों का ऐसे व्यक्तियों ने कड़ा विरोध किया जो इसमें खर्च होनेवाली बहुत बड़ी सार्वजनिक धनराशि के व्यय के संबंध में और ऐसे कार्यों के बारे में आपत्ति करते थे जिन्हें वे वैयक्तिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता का तथा राज्यीय अधिकारों का अनुचित उल्लंघन समझते थे। इसके विरुद्ध, कार्यपालिका तथा विधान-मंडल ने यह प्रतिपादित किया कि संविधान ऐसे अधिकारों के प्रयोग की अनुमति देता है; क्योंकि संघीय सत्ता, राष्ट्र के कल्याण के लिए और राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अन्तर्राज्यिक वाणिज्य पर कर लगाने तथा उसका विनियमन करने के अधिकार के आधार पर सांविधानिक रूप से उत्तरदायी है।

यह एक ऐसा संघर्ष था जिसे केवल सर्वोच्च न्यायालय ही निपटा सकता था। इस नव-व्यवस्थासम्बन्धी विधान से उत्पन्न अनेक मामले सन् १९३५ और १९३६ में उस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुए, और जहां उसने एक ओर शासन की वित्तीय नीति का समर्थन किया वहां दूसरी ओर सम्पूर्ण कृषिक समायोजन अधिनियम (Agricultural Adjustment Act) को इन आधारों पर अमान्य ठहरा दिया कि "उसमें संघीय सरकार की कराधान-शक्तियों का न्यायविरुद्ध उपयोग" उपलक्षित है, और "यह योजना अलग-अलग राज्यों के अधिकारों का उल्लंघन करती हैं।" जब अगले वर्ष सर्वोच्च न्यायालय

नाम के तीन जिलों के सफल संघर्ष के फलस्वरूप स्थापित होकर, उसमें तेरह राज्य हो गए। जिस समय उसे सन् १६४८ की वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार स्वतंत्र एवं प्रभुत्वसंपन्न मान्य किया गया। उस समय कानफेडरेशन में राज्यों की यही संख्या थी। तब यह बलशाली केन्द्रीय सत्ता से रहित राज्यों का एक शिथिल संयोगमात्र था और जब तक वह फ्रांसीसी क्रांति एवं नेपोलियनकालीन यूरोप के तूफानों और अव्यवस्थाओं के बीच में से होकर गुजरता रहा तब तक इसी अवस्था में बना रहा: यहां तक कि सन् १८१५ में की गई यूरोपीय सामान्य व्यवस्था में भी इसे अपने स्थायित्व का अंतिम आधार न मिल सका। यह तब भी अत्यन्त शिथिल था, जैसा कि सन् १८४७ में प्रारंभ हुए छोटे-से गृहयुद्ध से प्रकट हुआ। इस युद्ध का आरंभ सात रोमन कैथोलिक केण्टनों ने (जो कि सोण्डरबन्द कहलाते थे) किया था, जिन्होंने संयुक्तराज्य अमरीका के सन् १८६१ के दक्षिणी राज्यों के समान ही सामान्य कानफेडरेशन से पृथक् होने का प्रयत्न किया था। इन पृथक् होनेवाले जिलों के पराजित होने के पश्चात् तुरन्त ही संविधान का संशोधन हुआ और सन् १८४८ के संविधान ने इस पुराने कानफेडरेशन (स्टेटनबंड) को संघीय राज्य (बडेस्टेट) में बदल दिया। सन् १८४८ के संविधान का सन् १८७४ में मूल रूप से संशोधन किया गया और उस वर्ष का संविधान ही, जिसमें कुछ बातों में बाद में भी संशोधन किए गए, वह संविधान है जिसके अनुसार आज स्विट्जरलैंड शासित होता है।

संघवाद कहे जानेवाले राजनीतिक उपाय के द्वारा, राज्य के अस्तित्व को समाप्त किए बिना ही राज्य के विरोधी हितों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, इसका कुछ बातों मे संयुक्तराज्य अमरीका से भी अधिक आकर्षक उदाहरण स्विट्जरलैंड के कानफेडरेशन में मिलता है। स्विट्जरलैंड राष्ट्रीयता की परिभाषा करनेवाले समस्त प्रयत्नों का उपहास करता है। यद्यपि स्विट्जरलैंड-वासी एक राष्ट्र हैं, उनका एक संगठन है जिसने छह शताब्दियों से भी अधिक काल के दौरान में उन विभिन्न प्रयत्नों का विरोध किया जो कि उसे नष्ट करने के लिए किए गए, किन्तु उनका न तो कोई एक-सा धर्म और न कोई सामान्य भाषा ही अब तक रही और न अब भी है, यहां तक कि उनके पहाड़ों से भी एक ऐसा घेरा नहीं बनता जिससे नैसर्गिक सीमा का निर्माण हो सके। वहां की दो-तिहाई जनसंख्या जर्मन बोलती है, शेष का अधिकांश भाग फ्रेंचभाषी है तथा अवशिष्ट लोग इटालियन भाषा (अथवा 'रोमेन्श' नामक एक बोली) बोलते हैं। इन भाषा-संबंधी भेदों को संघीय विधानमंडल में शासकीय रूप से मान्य किया गया है, जहां कि कोई भी सदस्य जर्मन, फ्रेंच, या इटालियन भाषा में बोल सकता है। केवल यही बात नहीं, अपने इतिहास में वहां के केण्टनों ने भी अत्यन्त प्रगतिपूर्ण जनतंत्र से लेकर अत्यन्त प्रतिक्रियावादी अभिजाततंत्र तक राजनीतिक संस्थाओं की आश्चर्यजनक विभिन्नता भी प्रकट की है। यद्यपि अब ये विभिन्नताएं समाप्त कर दी गई हैं और स्विट्जरलैंड के समस्त केण्टनों

में किसी-न-किसी प्रकार के लोकतंत्र का ही रूप मिलता है, तथापि उस प्रचंड देशभक्ति ने जिसने कानफेडरेशन को जीवन प्रदान किया, और जो इसे स्वस्थ और शक्तिमान बनाती रही है, स्थानीय स्वायत्त शासन के प्रति उस अनुराग को नष्ट नही किया है, जिसके बिना संघ, जैसा कि वह आज है, विद्यमान नहीं रहता । वास्तव में, वहां आधुनिक संघीय प्रणाली का निर्माण सांविधानिक सिद्धान्तों अथवा विदेशी उदाहरणों से उद्भूत सिद्धांतों के प्रयोग की अपेक्षा प्रान्तीय अभ्यास और अनुभव से हुआ है ।

तो भी स्विट्जरलैंड तथा अमरीकी प्रणालियों के कुछ व्यापक पहलुओं के सादृश्य का कारण सन् १८४८ तथा १८७४ के सुधारकों की ओर से जान-बूझकर किया गया अनुकरण है, यद्यपि उनका उद्देश्य अपनी संस्थाओं को अमरीकी बनाना नही था और स्विट्जरलैंड का कानफेडरेशन अनेक विशिष्टताओं के कारण स्पष्टतया पृथक् है । उदाहरण-स्वरूप, संविधान में स्विट्जरलैंड को 'राष्ट्र' कहा गया है, जो ऐसा शब्द है जैसा अमरीकी संविधान में कही नही मिलता, परन्तु इसके साथ ही यह अधिकारों का विभाजन इस प्रकार करता है जिससे कि 'रक्षित शक्तियां' केण्टनों के पास रह जाती हैं । फिर भी कुछ बातों में इसमें अपूर्ण राष्ट्रीयकरण तथा अपूर्ण संघ दोनों एक साथ दिखाई देते हैं । एक ओर संविधान के अनुच्छेद ३ में यह कहा गया है कि "प्रदेश (केण्टन) उस सीमा तक प्रभुता-सम्पन्न है जहां तक कि उनकी प्रभुता संघीय संविधान द्वारा सीमित नहीं की गई है और ऐसी अवस्था में वे उन समस्त अधिकारों का प्रयोग करते है जो कि संघीय सत्ता को समर्पित नहीं किए गए हैं ।" यह अनुच्छेद जिस अनुपात में प्रभुता का विभाजन करता है, उसी अनुपात में राष्ट्रीय एकता को कम करता है । दूसरी ओर अनुच्छेद ५ और ६ प्रादेशिक संविधानों को संघीय शक्ति की प्रत्याभूति पर निर्भर करते हैं और इस भांति वे इतने सुरक्षित नहीं हैं जितने कि संयुक्तराज्य अमरीका में राज्यों के संविधान है । उस अनुपात में जिसमें कि प्रादेशिक संविधान स्वयं (संघ के) संविधान की अपेक्षा, जिसकी व्याख्या सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के द्वारा होती है और जिसका उदाहरण कि संयुक्तराज्य अमरीका है, संघीय सत्ता पर निर्भर रहते है, संपूर्ण राज्य कम संघीकृत है ।

परन्तु स्विट्जरलैंड में राष्ट्रीय एवं राज्यीय दोनों ही भांति के अधिकारों की सुरक्षा है । ऐसी सुरक्षा संयुक्तराज्य में संघीय प्रयोजनों के लिए बिलकुल नहीं है । यह सुरक्षा लोकमत-निर्देशन है । हम आगे चलकर इसके विषय में विस्तृत रूप से विचार करेंगे । यहां पर तो केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि जहां स्विट्जरलैंड के संविधान का अनुच्छेद ६ प्रादेशिक संविधानों के लिए संघीय सत्ता की प्रत्याभूति आवश्यक समझता है, वहां वह यह भी कहता है कि यदि प्रदेश के लोग संविधान को स्वीकार कर लेते है, तो यह प्रत्याभृति निश्चय ही दी जानी चाहिए । इसके अतिरिक्त यदि जनता का बहुमत संशोधन की मांग करे तो संशोधनों की स्वीकृति नही रोकी जा सकती । कानफेडरेशन के उच्च सदन में, जो कि 'राज्य-परिषद्' (Standerat)

के नाम से पुकारा जाता है, राज्यों की एकता में और भी शिथिलता प्रकट होती है। संयुक्तराज्य अमरीका की सिनेट की भांति ही इस परिषद् में प्रत्येक केण्टन के दो सदस्य हैं (जो कि सब मिलकर ४४ होते हैं), परन्तु अमरीकी संविधान के विपरीत यह संविधान उन सदस्यों के चुनाव के प्रत्येक ब्यौरे एवं कार्यकाल को पूर्णरूप से केण्टनों पर छोड़ देता है; जब कि संयुक्तराज्य अमरीका में (सन् १९१३ के संशोधन द्वारा) वहां का संविधान सिनेटरों के जनता द्वारा निर्वाचन की सब राज्यों के लिए समान पद्धति को निर्धारित करता है।

स्विट्जरलैंड की संघीय कार्यपालिका एक विशेष प्रकार की है। इसके विषय में हम बाद में एक अध्याय में विचार करेंगे। जहां तक न्यायपालिका का संबंध है, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन छह वर्ष के लिए विधानमंडल के दोनों सदन इस निमित्त साथ-साथ बैठकर करते हैं, परन्तु इनका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है और प्रायः होता भी है। लेकिन इस सर्वोच्च न्यायालय को संयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय के समान संविधान की व्याख्या करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि स्विट्जरलैंड का न्यायालय किसी भी संघीय विधि को संघीय संविधान के किन्हीं उपबंधों का अतिक्रमण करनेवाला बताकर उसे अमान्य घोषित नहीं कर सकता। यह शक्ति तो स्पष्ट रूप से विधानमंडल के लिए छोड़ दी गई है जो कि विधि को पारित करता है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय प्रदेशों के बीच में उत्पन्न विवादों का निर्णय करता है और वह सभी वादों में अंतिम अपील का न्यायालय है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि स्विट्जरलैंड के संविधान में शक्तियों को इस भाति विभाजित किया गया है कि 'रक्षित शक्तियां' प्रदेशों के पास छोड़ दी गई हैं; संविधान सर्वोच्च है परन्तु उस पर लोकमत-निर्देशन और प्रवर्त्तन (इनिशिएटिव) के उपकरणों द्वारा प्रत्येक बात में पूर्ण जनतांत्रिक नियंत्रण रखा गया है। अंतिम बात यह है कि संघीय न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या करने का कोई अधिकार नहीं है।

५. आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ

आस्ट्रेलिया के संविधान में संघवाद के समस्त विशिष्ट लक्षण, अर्थात् सीमित तथा समान सत्ता वाले विधायक राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण, संविधान की सर्वोच्चता और संविधान की व्याख्या करने की न्यायालय की शक्ति मौजूद है। इन समस्त आवश्यक लक्षणों में कनाडा की अपेक्षा आस्ट्रेलिया की, संयुक्तराज्य अमरीका से बहुत अधिक समानता है और आस्ट्रेलिया के सादृश्य तथा कनाडा में इसके अभाव के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कारण हैं। आस्ट्रेलिया ही एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें सम्पूर्ण महाद्वीपपूर्ण लिए एक ही राजनीतिक संविधान की रचना हुई है और इसका एकमात्र कारण यह है कि यही एक ऐसा महाद्वीप है जिसके समस्त निवासी एक ही जाति के हैं। ज़रा इसकी आयु पर विचार कीजिए—बॉटनी बे (Botany Bay) की प्रथम

बस्ती सन् १७८८ के लगभग बसी थी—और इसके उपरान्त उस तीव्र गति पर ध्यान दीजिए जिसके साथ प्रगति करते हुए यह अर्द्ध-शताब्दी से भी कम समय में निर्मित शासन के उपकरण के माध्यम से विश्व के अत्यन्त विकसित सामाजिक जनतंत्रों में से एक के रूप में इस उच्चावस्था को पहुंच गया।

उन विचित्र परिस्थितियों के कारण, जिनम पृथक्-पृथक् उपनिवेशों की स्थापना हुई, और अपनी राष्ट्रीय एकरूपता की भावना के कारण इन राज्यों की पहले अपने मूल देश के तथा इसके उपरान्त सन् १९०० के संघीय संविधान के प्रति सामान्य निष्ठा सरल हो गई। परन्तु यह संविधान ऐसे क्षेत्र को लागू होता था जो क्षेत्रफल में यूरोप के क्षेत्रफल से कुछ ही कम था और उसे उतनी जनता के, जिसकी संख्या अब भी लंदन की जनसंख्या से कम है, राजनीतिक भविष्य की व्यवस्था करनी थी। इन भौतिक तथ्यों ने—अर्थात् उस विस्तृत क्षेत्रफल ने जो कि इन उपनिवेशों का था और उस भयानक दूरी ने जिसने उन्हें एक ऐसी भूमि में अलग-अलग कर दिया था जिसके आवागमन के साधन तब तक अविकसित थे, अनिवार्य रूप से पृथक्करण तथा स्थानीय भावना के विकास को प्रोत्साहित किया। ये दोनों बातें ऐसी थीं जिन पर बड़ी सावधानी से विचार करने की आवश्यकता थी। यही उस समय अपनाए गए संघवाद के विशिष्ट रूप का रहस्य है। ये संघ-निर्माणकर्ता छह उपनिवेश ऐसा कभी नहीं करते, यदि उन्हें जापानियों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के खतरे का सामान्य रूप से ज्ञान न हुआ होता। यह एक ऐसा संकट था जो विगत शताब्दी के अंतिम वर्षों तक भी स्पष्टतः दिखाई नहीं देने लगा था, परन्तु जो द्वितीय विश्वयुद्ध में आस्ट्रेलिया के निवासियों के लिए भयंकर रूप से वास्तविक बन गया। अतः, इन उपनिवेशों का उद्देश्य एक सुदृढ़ केन्द्रित राज्य की स्थापना की अपेक्षा ऐसी एकता (यूनियन) के निर्माण का साधन खोजना था जो संघबद्ध होनेवाले निकायों को उनकी वैयक्तिक सत्ता से उतना कम वंचित करे जितना कि उद्देश्य की दृष्टि से संगत हो।

इसके साथ ही एक साधारण भावना यह भी थी कि औद्योगिक तथा सामाजिक विकास के लिए संघ से पहले विद्यमान किसी सत्ता की अपेक्षा अधिक शक्तियों वाली सत्ता की आवश्यकता है और साथ ही एक सर्वोच्च न्यायिक सत्ता की भी स्थापना होनी चाहिए जिससे लंदन-स्थित प्रिवी कौंसिल में मामले ले जाने के कारण होनेवाले व्यय तथा विलम्ब से बचा जा सके। इसके फलस्वरूप इस तरह संघ, सामान्य प्रतिरक्षा के लिए, एक व्यवस्था से बहुत-कुछ अधिक बन गया और उस सामाजिक व्यवस्थापन को, जिसमें आस्ट्रेलिया-निवासी दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं, आगे बढ़ाने में एक सक्षम साधन सिद्ध हो सका।

इस संविधान में कॉमनवेल्थ (केन्द्रीय) सरकार की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और शेष शक्तियों को राज्यों के लिए छोड़ दिया गया है। इन परिगणित शक्तियों की सूची लम्बी है, फिर भी राज्यों के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता छोड़ दी गई है। संविधान ने

एक संघीय कार्यपालिका की स्थापना की है—नाममात्र के लिए तो सपरिषद् गवर्नर-जनरल परन्तु जो वास्तव में सिनेट तथा प्रतिनिधि-सभा से युक्त द्विसदनी संघीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। सिनेट में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है—प्रत्येक राज्य के छह सदस्य होते हैं। प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) में राज्यों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर है। प्रारम्भ में संविधान ने राज्यों को संसद् के निर्वाचन के लिए अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दे दी थी, परन्तु ये उपबंध उन अनेक उपबंधों में से थे जिन्हें संघीय विधानमंडल किसी भी सांविधानिक परिवर्तन के बिना बदल सकता था। संघीय विधि के अनुसार आज की व्यवस्था यह है कि सम्पूर्ण कॉमनवेल्थ में प्रतिनिधि-सभा के लिए निर्वाचन एकलसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र से, परन्तु सिनेटरों का निर्वाचन प्रत्येक राज्य से उसे एक ही निर्वाचन-क्षेत्र मानकर होगा। परन्तु ये दोनों निर्वाचन अधिमानीय (Preferential) मतदान-प्रणाली के अनुसार होंगे। इस प्रणाली की विवेचना बाद में की जाएगी।

इसके साथ ही, संविधान सर्वोच्च न्यायालय से युक्त एक संघीय न्यायपालिका की भी स्थापना करता है। संयुक्तराज्य अमरीका के सदृश ही, यहां के सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा राज्यों के बीच के अथवा किसी राज्यविशेष और संघीय सत्ता के बीच के विवाद के मामलों को निपटाने की शक्ति प्राप्त है। आस्ट्रेलिया का सर्वोच्च न्यायालय संयुक्तराज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय से इस बात में भिन्न है कि जहां विशुद्ध राज्यीय विधियों के आधार पर होनेवाली राज्यों की अपीलों को अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय ग्रहण नहीं कर सकता, वहां आस्ट्रलिया का सर्वोच्च न्यायालय ऐसी अपीलों को ग्रहण कर सकता है और करता भी है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ राज्यमंडल के वास्तविक रूप से संघीय होने केकारण वहां राज्यों का अपना स्वयं का वास्तविक अस्तित्व है। जैसा कि हम कह चुके हैं, उन्हें सिनेट में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है और उनमें से प्रत्येक राज्य में एक गवर्नर भी है, जिसकी नियुक्ति कनाडा के सदृश संघीय सत्ता के द्वारा नही होती और न वह संयुक्त-राज्य अमरीका की भांति जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है; बल्कि उसकी नियुक्ति प्रत्यक्षरूपेण 'मुकुट' के द्वारा होती है, अर्थात् व्यावहारिक रूप में राज्य की विद्यमान सरकार की सहमति से (ब्रिटेन की) गृह-सरकार के द्वारा होती है। संविधान से राज्यों को यह भी अनुमति प्राप्त है कि वे, यदि चाहें तो, राज्यसम्बन्धी विशुद्ध मामलों के बारे में विधान बनाने के लिए संघीय संसद् की सहायता ले लें। आगे चलकर सन् १९२९ में, कॉमनवेल्थ ने समस्त राज्यीय ऋणों का भार ग्रहण कर लिया और वह स्वयं ही एकमात्र ऋण लेनेवाली सत्ता बन गई। इन उपबंधों में संघीय तथा राज्यसत्ता के बीच संयुक्तराज्य अमरीका की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध उपलक्षित हैं।

अंत में इस संविधान में संघीय सरकार को किसी भी राज्य से स्वतन्त्र रूप में

आगे चलकर अपनी राजधानी स्थापित कर सकने के लिए एक संघीय जिले (प्रदेश) की भी व्यवस्था की गई है। यह क्षेत्र 'केनबेरा' नाम से पुकारा जाता है। इसका क्षेत्रफल ९०० वर्गमील के लगभग है और न्यू साउथ वेल्स ने इसे कॉमनवेल्थ को सौंप दिया है। यह सिडनी और मेलबोर्न के बीचोबीच स्थित है। यही सन् १९२८ में संघीय सरकार की स्थापना हुई।

अभी हाल ही के वर्षों में अमरीका की भांति ही आस्ट्रेलिया मे भी संघीय सत्ता और राज्यों के कार्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो गया है। विशेष रूप से संघीय सरकार को सार्वजनिक स्वास्थ्य, व्यापारिक कम्पनियों के संचालन, औद्योगिक विवाद, बेकारी, कृषि तथा मत्स्योद्योग और उड्डयन के नियंत्रण जैसे जनसाधारण से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयों के बारे में समस्त कॉमनवेल्थ के आधार पर कार्यवाही करने में सांविधानिक रूप से असमर्थता का अनुभव हुआ है। २२ नवंबर सन् १९३८ को प्रतिनिधि-सभा में सरकार ने संविधान में संशोधन करने के लिए सन् १९३९ में एक विशेष अधिवेशन करने के अपने अभिप्राय की घोषणा की। सदन के दोनों ही पक्षों ने इस घोषणा का स्वागत किया। विरोधी दल का नेता तो पहले ही यह कह चुका था कि आस्ट्रेलिया का शासन निर्वाचकों के बहुमत से न होकर हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के बहुमत से होता है जो कि "विधियो को उनके गुण-दोषों के आधार पर नही बल्कि इस आधार पर अमान्य करते है कि यह लिखित संविधान के अनुसार अधिकार से परे हैं।" उसने कहा कि "प्रत्येक राष्ट्रीय संकट में आस्ट्रेलिया के हाथ सांविधानिक हथकड़ियों से जकड़े हुए रहते है. जिसका परिणाम होता है निष्क्रियता, विलम्ब और संसदीय प्रणाली का उपहास।" उसने कहा कि "कोई भी प्रभुसत्तात्मक एकता ऐसी स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकती जिसमें सात प्रभुसत्तात्मक संसदें हों जो व्यावहारिक रूप से समान पदवी की हों जिनमें ६०० से अधिक सदस्य और ७० मंत्री हों, और जिसमें समुद्रपार के पृथक् प्रतिनिधि और पृथक् सेवाएं हों।"

ऐसी परिस्थिति में, जब कि राज्यीय विधानमंडल अपने मौजूदा अधिकारों का त्याग करने को तैयार नहीं थे, यह निश्चित किया गया कि इस मामले को निपटाने के लिए जनता से निर्णय लिया जाए। परन्तु इस प्रश्न का लोकमत-निर्देशन के द्वारा समाधान करने से पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध आ धमका। सन् १९४४ में संघीय तथा राज्यीय प्रतिनिधियों के सम्मेलन में फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। परन्तु उसके बाद के लोकमत-निर्देशन में राज्यीय शक्तियों को क्रांतिकारी रूप से कम कर देने वाली योजना विफल हो गई। फिर भी सन् १९४७ में स्पष्ट रूप से निश्चित कतिपय सामाजिक सेवाओं को संघीय आधार पर व्यवस्थित करनेवाली योजना का जनता ने उत्साह के साथ समर्थन किया। किन्तु सन् १९५१ में कॉमनवेल्थ संसद् को ऐसी साम्यवादविरोधी विधियों को बनाने का, जिन्हें वह अभीष्ट समझे, अधिकार देने के प्रस्ताव पर लोकमत-निर्देशन में सरकार की हार हो गई। इससे यह प्रतीत होता है कि जनता ऐसे किसी संशोधन को मान्यता देने की इच्छुक नहीं है

कि जो स्पष्ट शब्दों में प्रकट न किया गया हो तथा जो मुख्य राजनीतिक दलों द्वारा अनुमोदित न हो।

६. कनाडा की डॉमिनियन का रूपांतरित संघवाद

कनाडा की डॉमिनियन उन तीन देशो की अपेक्षा, जिनकी हमने अभी तक परीक्षा की है, कम संघीय है; क्योंकि संयुक्तराज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया में तो 'रक्षित शक्तियां' राज्यों के पास रहती हैं; किन्तु कनाडा में वे संघ के पास हैं। इसी कारण हमने कनाडा को संघराज्य का रूपांतरित नमूना कहा है। वास्तव में कनाडा की संघनिर्माणकर्त्री इकाइयां सच्चे रूप में राज्य नहीं हैं। वे प्रांत कहलाती है हालांकि वे इंगलैण्ड की स्थानीय सत्ताओं अथवा दक्षिणी अफ्रीका के संघ (यूनियन) के चारों प्रांतों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। यद्यपि कनाडा पूर्णरूपेण संघीकृत राज्य नहीं है, तथापि वह ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस या न्यूजीलैंड जैसे एकात्मक राज्य से बहुत भिन्न है। किन्तु कनाडा के तथा इस अध्याय में वर्णित अन्य राज्यों के संघवाद में बड़े महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं।

यद्यपि कनाडा आंग्ल उपनिवेशों में प्राचीनतम नही है—यह सम्मान न्यू फ़ाउंड-लैंड को प्राप्त है—फिर भी वह ब्रिटेन के स्व-शासित डॉमिनियनों में सबसे पुराना है; क्योंकि वह डॉमिनियन-पद अर्थात् उत्तरदायी स्वायत्त शासन प्राप्त करनेवालों में सर्व-प्रथम है, और वहां उसके सफल प्रयोग के कारण ही बाद के वर्षो में इसका सामान्य-तया अंगीकरण किया गया है। हम उत्तरदायी शासन के प्रश्न पर बाद में विचार करेंगे। यहां पर हमें कनाडा की संघीय प्रणाली का अवलोकन करना है जो उत्तरदायी शासन के सिद्धांत से बिलकुल विभिन्न है। किन्तु इस बात में भी कनाडा आस्ट्रेलिया से बहुत आगे रहा है, क्योंकि उसकी संघीय प्रणाली की स्थापना सन् १८६७ के ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम के द्वारा हुई। प्रारम्भ में इसमें ऑंटेरियो, क्यूबेक, नोवास्कोशिया और न्यू ब्रंसविक नामक चार प्रात थे। किन्तु बाद में शीघ्र ही इस संघ में सात प्रांत हो गए और अब दस हैं।[1] कनाडा-संघ की पृष्ठभूमि आस्ट्रेलिया की अपेक्षा भिन्न है। वहां प्रेरणा बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक थी।

---

[1] न्यू फाउंडलैंड इस डॉमिनियन में अपने प्रारम्भिक दिनों में ही सम्मिलित हो सकता था परन्तु उसने पृथक् डॉमिनियन के रूप में अपने भविष्य के निर्माण का निश्चय किया। परन्तु सन् १९३३ में वित्तीय कठिनाइयों के कारण न्यू फाउंडलैंड ने ब्रिटेन की सहायता चाही। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके उत्तरदायी स्वायत्त शासन की योजना निलम्बित कर दी गई और वहां कार्य-प्रशासन उस समय तक के लिए जब तक कि वह फिर स्वावलम्बी न बन जाए, एक विशेष आयोग को सौंप दिया गया। सन् १९४८ में इस समस्या पर लोकमत-निर्देशन हुआ कि न्यू फाउंडलैंड आयोग के अधीन रहे या उत्तर-

परन्तु उस विशिष्ट रूप के लिए जिसे कनाडा के संघ ने ग्रहण किया, आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के कारण थे। आस्ट्रेलिया के विपरीत परन्तु दक्षिणी अफ्रीका के समान, कनाडा, फ्रेंच तथा ब्रिटिश राष्ट्रिकों के संघर्ष से छिन्न-भिन्न हो रहा था जिसके कारण बहुत दिनों से चले आ रहे थे।

वहां एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की बड़ी आवश्यकता थी किन्तु सन् १८४० के अधिनियम के बाद एकात्मक राज्य की प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न भी किया गया था, जो सफल नहीं हुआ। एक और कठिनाई यह हुई कि यह अधिनियम केवल क्यूबेक और औंटेरियो को लागू था, जब कि दो या तीन अन्य राज्यों ने भी उन दोनों राज्यों के साथ मिलकर शासन की सामान्य योजना में भाग लेने की इच्छा प्रकट की। इन प्रांतों के बीच का शिथिल संयोग—एक कानफेडरेशन मात्र का निर्माण—निरर्थक से भी बुरा होता, उससे कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती थी। इसके विपरीत एकात्मक राज्य व्यवहार्य रूप में सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा था। इसके साथ ही एक अन्य बात के कारण भी कि कनाडा का एक बड़ा विस्तृत भाग अब भी अविकसित दशा में पड़ा था, इस परिस्थिति में न तो पहली और न दूसरी प्रणाली ही ठीक बैठ रही थी। एक ओर शिथिल कानफेडरेशन के कारण बाद में संघर्षो का होना अनिवार्य था; दूसरी ओर एकात्मक प्रणाली—भले ही वह उस समय विद्यमान राजनीतिक इकाइयों को लागू कर दी जाती, हालांकि ऐसा हो नही सकता था—पूर्णरूपेण विकसित राजनीतिक निकायों के हेतु उपयुक्त होते हुए भी ऐसे निकायों के लिए, जो तब तक अस्तित्व में नही आए थे, अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती थी।

तो फिर कनाडा ने संयुक्तराज्य अमरीका की भांति का संघ (फेडरेशन) क्यों नही बनाया? इसका उत्तर सन् १८६४-६७ का समय था जब कनाडा में संघनिर्माण के सम्बन्ध में गम्भीर चर्चा चल रही थी। अमरीका के गृहयुद्ध ने, जो सन् १८६१-६५ तक चला, बहुतों को और विशेष कर कनाडा-निवासियों को, जो कि इसके इतने समीप थे, संघवाद के उस रूप से जो कि संयुक्तराज्य में तब तक क्रियान्वित हो चुका था, निराश कर दिया था। प्रत्यक्ष रूप से संघवाद टूट चुका था। इसी विश्वास में कनाडा के प्रमुख राजनीतिज्ञों ने एक समाधान निकाला जो कि वास्तविक संघीय प्रणाली में, जो बदनाम हो चुकी थी, और एकात्मक प्रणाली के बीच जो कनाडा के निवासियों की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थी, एक समझौता था। यह समझौता एक संघीय संयोग (Federal Union) था, जिससे गम्भीर संघर्ष की सम्भावनाएं कम-से-कम हो सकती थीं।[1]

दायी शासन को पुनर्ग्रहण करले, अथवा कनाडा के डॉमिनियन में सम्मिलित हो जाए, और छोटे-से बहुमत से यह निर्णय हुआ कि वह कनाडा से मिल जाए। इस भांति सन् १९४९ में न्यूफ़ाउंडलैंड अंत में कनाडा डॉमिनियन का दसवां प्रांत बन गया।

[1] शक्तियों के सम्भाव्य पुनर्वितरण के सम्बन्ध में पृष्ठ १४३ की पाद-टिप्पणी देखिए।

इस भांति कनाडा-पद्धति के अधीन शक्तियों के वितरण का सिद्धात, सामान्य रूप में, उस सिद्धांत का उलटा था जिसका संयुक्तराज्य में प्रयोग हुआ है । कनाडा में प्रांतों की शक्तियां परिगणित की गई है और 'रक्षित शक्तियां' संघीय सत्ता के लिए छोड़ दी गई है। संघीय सत्ता की शक्तियो की सूची सन् १८६७ के मूल अधिनियम में वास्तव मे दी तो गई हैं, किन्तु इसका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक स्पष्टता करना था, न कि संघीय शक्ति को कम करना । प्रांतों को प्रदान की गई शक्तियां पर्याप्त है, और इनमें ऐसे विषय भी सम्मिलित है जो साधारणत: स्थानीय सरकारों के पास नहीं होते, जैसे उनके स्वय के संविधानों का संशोधन (लेफ्टिनेंट गवर्नर के पद की समाप्ति को छोड़कर), प्रांत के भीतर प्रत्यक्ष कराधान, दण्ड तथा व्यवहार सम्बन्धी न्याय-व्यवस्था तथा प्रांत के भीतर नगरपालिका-शासन का नियंत्रण ।

आस्ट्रेलिया के समान ही कनाडा में गवर्नर-जनरल की नियुक्ति नाममात्र में मुकुट के द्वारा परन्तु वास्तविक रूप में डॉमिनियन की सरकार की सहमति से ब्रिटिश सरकार द्वारा होती है। परन्तु आस्ट्रेलिया के विपरीत, वहां संघनिर्मात्री इकाइयों में से प्रत्येक में राज्य-सरकार के द्वारा नियुक्त गवर्नर न होकर डॉमिनियन सरकार के द्वारा नियुक्त लेफ्टिनेंट गवर्नर होता है । जब हम आस्ट्रेलिया के राज्यों से कनाडा के प्रांतों की तुलना करते हैं तो कनाडा में राज्यों के वैयक्तिक महत्त्व का एक और अभाव सिनेट में दिखाई देता है जिसके सदस्य निर्वाचित नहीं किए जाते बल्कि जीवन भर के लिए मनोनीत किए जाते हैं और यह मनोनयन भी प्रांत के द्वारा न होकर, जैसे-जैसे स्थान रिक्त होते जाते हैं, डॉमिनियन सरकार के द्वारा किया जाता है । इसके अतिरिक्त कनाडा का गवर्नर-जनरल डॉमिनियन सरकार के परामर्श से प्रांतीय संसद् के अधिनियम का निषेध कर सकता हैं। यह एक ऐसी शक्ति है जो आस्ट्रेलिया के गवर्नर-जनरल के हाथों में वहां के राज्यों की संसदों के अधिनियमो के विषय में नहीं है ।

न्यायपालिका के सम्बन्ध में कनाडा में एक सर्वोच्च न्यायालय है, परन्तु उसे संविधान की व्याख्या करने की शक्ति नही के बराबर है । ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता जिससे कनाडा में ऐसी शक्ति हो; क्योंकि (१) 'रक्षित शक्तियां' संघीय सत्ता के पास हैं, और (२) संघीय सत्ता के पास, संविधान के अधीन, प्रान्तीय विधियों को निषिद्ध करने का अधिकार है ।

आस्ट्रेलिया और कनाडा के संघवाद के अन्तरों को इस भांति संक्षेप मे प्रकट किया जा सकता है कि : (१) आस्ट्रेलिया के संविधान में संघीय सत्ता की शक्तियों का निरूपण किया गया है और 'रक्षित शक्तियां' राज्यों के पास छोड़ दी गई है। इसके विपरीत, कनाडा के संविधान में राज्यों की शक्तियों को परिगणित किया गया है और शेष संघीय सत्ता के पास छोड़ दी गई है । (२) आस्ट्रेलिया में राज्यों के गवर्नरों की नियुक्ति के प्रश्न को संघीय हस्तक्षेप से पृथक् छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत कनाडा में प्रांतों के लेफ्टिनेण्ट

गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार डॉमिनियन की सरकार को सौंप दिया गया है। (३) आस्ट्रेलिया में कॉमनवेल्थ शासन को राज्य के विधि-निर्माण में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है, जब कि कनाडा में डॉमिनियन शासन को प्रांतीय विधियों पर निषेधाधिकार प्राप्त है। (४) आस्ट्रेलिया का सर्वोच्च न्यायालय संविधान की व्याख्या कर सकता है, परन्तु कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय के पास ऐसी शक्ति अत्यन्त अल्प मात्रा में है। (५) आस्ट्रेलिया की सिनेट में राज्यों से सदस्य समान संख्या में निर्वाचित होते हैं, जब कि कनाडा की सिनेट के सदस्य आजीवन डॉमिनियन शासन के द्वारा मनोनीत होते हैं। अतएव, सामान्यतया आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ कनाडा की डॉमिनियन की अपेक्षा अधिक संघीय है। अथवा अन्य रीति से यह कहा जा सकता है कि आस्ट्रेलिया की अपेक्षा कनाडा एकात्मक कहे जानेवाले प्रकार के राज्य के बहुत अधिक समीप है। इस भांति यद्यपि कनाडा संयुक्तराज्य अमरीका के समीप और आस्ट्रेलिया बहुत दूर है, फिर भी कनाडा की अपेक्षा आस्ट्रेलिया के संघवाद में संयुक्तराज्य अमरीका के संघवाद से प्रत्येक बात में बहुत अधिक सादृश्य है।

७. जर्मन संघवाद

जर्मनी में संघवाद का बड़ा पुराना इतिहास है। सन् ८१४ में महान् चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए और जब उसके जर्मन भाग का पुनरुद्धार हुआ तो वह कभी भी उस भांति केन्द्रित न हो सका जैसा कि वह पहले था। सामन्तवाद ने जर्मनी में बड़ा उत्पात मचाया। पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास, विघटन अथवा कम-से-कम विकेन्द्रीकरण के तथ्यों को निर्वाचित साम्राज्यशाही के आवरण से ढकने के प्रयत्न की एक लम्बी कहानी है। संघीय साम्राज्य प्रतीत होनेवाले प्रदेश की सीमा के अन्दर वास्तव में दो बड़े प्रतिस्पर्द्धी राज्य—आस्ट्रिया और प्रशा—उठ खड़े हुए, यहां तक कि मध्ययूरोप के विघटन की प्रक्रिया को आगे बढ़ानेवाले नेपोलियन के पतन के पश्चात् भी वे अपने मतभेद दूर न कर सके और उस समय स्थापित जर्मन कॉनफ़ेडरेशन कहलानेवाला समझौता उनके बीच में होनेवाले अन्तिम संघर्ष के लिए केवल प्रस्तावना मात्र ही सिद्ध हुआ। सन् १८६७ में आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध में अपनी सफलता के पश्चात् बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को निकालकर बाहर किया और उत्तरी जर्मन कानफेडरेशन की स्थापना की, जिसमें फ्रांस-प्रशा युद्ध के दौरान में दक्षिणी जर्मनी के राज्य भी सम्मिलित हो गए और इस युद्ध के अंत के साथ ही सन् १८७१ में जर्मन साम्राज्य की जयख्यापक उद्घोषणा भी हुई। यह साम्राज्य प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों तक कायम रहा।

यहां पर हम बिस्मार्क के जर्मन साम्राज्य के अथवा वेमर गणतंत्र (सन् १९१९) के, जिसे हिटलर ने समाप्त कर दिया, संविधान पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं करेंगे। परन्तु हमें समानता तथा विभिन्नता की कुछ सामान्य बातों को समझ लेना है। सन् १८७१ में स्थापित साम्राज्य का संघवाद एक अनोखे प्रकार का संघवाद था। यह

संघनिर्मात्री इकाइयों की स्वच्छन्द इच्छा के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि वास्तव में यह इच्छा भी अप्रत्यक्ष रूप से बिस्मार्क की शक्ति के मद से जागृत हुई थी। यह नहीं कहा जा सकता कि जर्मनी के राजनीतिक निकाय एकता अथवा संयोग के इच्छुक थे। वे कुछ भी नहीं चाहते थे, और इस भांति वे सरलतापूर्वक बिस्मार्क के प्राधान्य और अन्ततः प्रशा के नेतृत्व के अधीन हो गए। साम्राज्य के संविधान के अधीन वंशानुगत जर्मन सम्राट् प्रशा का भी वंशानुगत राजा था। इस बात का कोई अधिक महत्त्व नहीं होता किन्तु असल में सम्राट् की शक्ति नाममात्र की न होकर वास्तविक थी और जब तक यह बात थी तब तक प्रशा सर्वोच्च था और यह सर्वोच्चता केवल साम्राज्यिक विधानमंडल के दोनों सदनों में सदस्यों की संख्या की दृष्टि से ही नहीं थी। इसके अलावा राइखस्टाग (Reichstag) के पास भी, जो कि जनता के प्रतिनिधियों का सदन था, वास्तविक शक्ति नहीं थी। वास्तविक विधायिनी शक्ति तो 'बंडेस्राट' (Bundesrat) नामक सदन के पास थी जिसमें राज्यों के दूत भाग लेते थे और इसमें प्रशा का प्रबल प्रभाव था। इस भांति प्राचीन जर्मन साम्राज्य न तो वास्तविक रूप से संघीय ही था और न लोकतंत्रीय ही; क्योंकि किसी भी वास्तविक संघीय प्रणाली में एक राज्य की प्रबलता नहीं होती और किसी भी वास्तविक लोकतंत्रीय राज्य में विधान-निर्माण का कार्य जनता का प्रतिनिधित्व न करने-वाले सदन के हाथ में नहीं होता। परन्तु फिर भी यह साम्राज्य एक वास्तविक यूनियन था। संघीय सत्ता की शक्तियां निरूपित थीं और राज्यों की अ-निरूपित। किन्तु संघीय सत्ता की वर्णित शक्तियां बड़ी विस्तृत थीं और संविधान को, जब तक कि चौदह निषेधात्मक मत न हों, साधारण विधायिनी प्रक्रिया से बदला जा सकता था। एक सर्वोच्च न्यायालय भी था जो संघीय शक्ति और राज्यों के बीच अथवा दो राज्यों के बीच के विवादों को निपटाता था। परन्तु बंडेस्राट (Bundesrat) अथवा राज्यों की समिति ही यह सर्वोच्च न्यायालय थी और चूंकि इसमें प्रशा की प्रमुखता थी और सम्राट् प्रशा का प्रायः निरंकुश राजा भी था अतः यह समझना कठिन न होगा कि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व जर्मन साम्राज्य में सच्चा संघवाद कितना प्रभावहीन था।

प्रथम विश्वयुद्ध ने प्रशा की शक्ति को ही नहीं बल्कि जर्मन साम्राज्य में संघबद्ध समस्त राज्यों के राजवंशों को भी नष्ट कर दिया। अतएव, जर्मन राज्य के सम्पूर्ण आधार के पुनर्निर्माण के लिए परिस्थिति दुगनी अनुकूल बन गई। चूंकि अब प्रशिया से डरने की बात तो रही नहीं थी; अतएव, एकात्मक राज्य के निर्माण के लिए सशक्त प्रयत्न किया गया परन्तु पर्याप्त वाद-विवाद तथा लेख-विलेख के पश्चात् एक ऐसे नए संघ की स्थापना का निश्चय किया गया जिसकी संघीय सत्ता सबल हो और एक निर्वाचित राष्ट्रपति हो जिसका पद किसी भी जर्मन नागरिक के लिए खुला हो। कुछ सीमासम्बन्धी पुनर्गठन भी हुआ और प्रत्येक नए राज्य (Lander) को लोकतंत्रात्मक संविधान का निर्माण करने को विवश होना पड़ा।

वेमर गणतंत्र के संविधान में संघीय सरकार की शक्तियां परिगणित की गई थीं; किन्तु दो सूचियों में। प्रथम सूची (अनुच्छेद ६) एकमात्र रूप में संघीय सत्ता की शक्तियों की सूची थी। दूसरी सूची (अनुच्छेद ७) ऐसी शक्तियों की सूची थी जिनका संघीय सरकार राज्यों के साथ-साथ प्रयोग करती थी। अनुच्छेद १२ में यह उल्लेख किया गया था कि "जब तक और जहां तक संघीय सरकार अपनी विधायिनी शक्ति का प्रयोग नहीं करती, वह शक्ति राज्यों के पास रहेगी।" यह बात संघीय सत्ता की अनन्य विधायिनी (अर्थात् अनुच्छेद ६ में परिगणित) शक्तियों को लागू नहीं होती थी। संघीय विधि राज्यविधि से अधिक मान्य थी। ऐसे मतभेदों की अवस्था में कि क्या राज्यविधि संघीय विधि से अविरुद्ध है, संघीय विधि की अधिक यथार्थ व्याख्या के लिए सर्वोच्च न्यायालय में अपील करनी होती थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्वोच्च न्यायालय अब उच्च सदन नहीं बल्कि एक वास्तविक न्यायालय था।

राइखस्टाग वास्तविक विधान-निर्मात्री सभा बन गई। उच्च सदन (राइखस्टाट) के सदस्य अब भी राज्य-सरकारों के दूत होते थे, परन्तु उसकी शक्ति का अधिक ह्रास हो चुका था। वह संयुक्तराज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया की सिनेट से, जहां यद्यपि सदस्य राज्यों से आते हैं परन्तु उनका लोकतंत्रीय रूप से निर्वाचन होता है और जहां समस्त राज्यों को समान रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त है, विभिन्न थी। गणतंत्रीय शासनपद्धति ने अन्य राज्यों के ऊपर प्रशा के संख्यासम्बन्धी प्राधान्य पर कोई प्रभाव नहीं डाला, क्योंकि राइखस्टाग में किसी भी राज्य के प्रत्येक दस लाख निवासियों के लिए एक सदस्य होना था। चूंकि इसकी शक्तियां अत्यन्त सीमित थीं और चूंकि प्रशा तथा साम्राज्य इन दोनों का कार्यपालिका में तादात्म्य लुप्त हो चुका था, इस कारण वेमर गणतंत्र के अधीन और पुराने साम्राज्य के अधीन प्रशा की शक्ति मं पर्याप्त रूप में वास्तविक अन्तर था। संविधान के आंशिक व्याख्याकार के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की रचना से संघवाद के असली तत्त्व का समावेश हो गया। इससे भी आगे बढ़कर लोकमत-निर्देशन के सिद्धांत को संविधान में अबाध रूप से स्थान दिया गया जिसकी मांग शासन अथवा स्वयं जनता दोनों ही के द्वारा की जा सकती थी और साधारण विधि-निर्माण के साथ ही संविधान में प्रस्तावित संशोधनों के प्रश्नों के सम्बन्ध में भी की जा सकती थी।

इस प्रकार वेमर गणतंत्र के जर्मनी में संघवाद की ये तीनों आवश्यक विशेषताएं—संविधान की सर्वोच्चता, शक्तियों का वितरण, और शक्तियों को विभाजित करनेवाली सत्ताओं के बीच विवाद की अवस्था में इसकी व्याख्या करने के लिए न्यायालय—मौजूद थीं। परन्तु फिर भी एक संघीय राज्य के रूप में जर्मनी में कुछ अद्वितीय विशेषताएं भी थीं। प्रथम, शक्तियों के पूर्ण विभाजन के बजाय जिसमें या तो संघीय सत्ता की शक्तियां अथवा संघ-निर्मात्री इकाइयों की शक्तियां निरूपित की जाती हैं, उसमें शक्तियां तीन रूपों में विभाजित की गई थीं। प्रथम, वे शक्तियां अनन्य रूप से संघीय सत्ता के पास थीं; द्वितीय, वे शक्तियां

जिनका प्रयोग संघीय सत्ता राज्यों के साथ-साथ कर सकती थी; और तृतीय, वे शक्तियां जिनका उल्लेख नहीं है (परन्तु यहां भी संघीय विधि राज्यविधि को रद्द कर सकती थी)। दूसरी विशेषता यह थी कि उच्च सदन को, जो कि संपूर्ण रूप से जनता के हितों से पृथक् राज्यों के हितों का प्रतिनिधि होता है, समस्त राज्यों का समान रूप से प्रतिनिधि होने के बजाय, जैसा कि आज के समस्त अन्य महत्त्वपूर्ण राज्यों में होता है, जनसंख्या के आधार पर संगठित किया गया, जिसके कारण प्रशा को दूसरे नम्बर के बृहत्तम राज्य (बवेरिया) के सदस्यों की संख्या के दुगने से भी अधिक सदस्य प्राप्त हुए। तीसरी विशेषता यह थी कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जनमत से होता था (इस विषय में भी गणतंत्रीय जर्मनी संयुक्त-राज्य अमरीका के समान किन्तु स्विट्जरलैंड से भिन्न था); परन्तु उसे विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् के माध्यम से कार्य करना होता था (और इस विषय में जर्मनी कनाडा और आस्ट्रेलिया के समान किन्तु संयुक्तराज्य अमरीका से भिन्न था)।

हमने यहां वेमर गणतंत्र के संविधान के संघीय रूप पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है, क्योंकि यही वह संविधान था जिसे हिटलर ने समाप्त कर दिया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त की आधिपत्यकर्त्ता शक्तियों ने इसी संविधान को अनिवार्य रूप से यह विचार करने के लिए आधार बनाया कि जर्मनों को क्रमिक रूप में उनके देश का राजनीतिक नियंत्रण सबसे अच्छी तरह किस भांति पुनः दिया जा सकता है। उस प्रकार की एकात्मक प्रणाली, जिसे हिटलर ने संघवाद के प्रत्येक अवशेष को नष्ट करने के पश्चात् आरोपित किया था, स्पष्टतः ऐसी सरकार नहीं थी जिसे जर्मनी का उदार तत्त्व पुनः प्राप्त करना चाहता अथवा जिसे आधिपत्यकर्त्ता शक्तियां सहन कर सकती थीं। निस्संदेह, सन् १९४७ के प्रारम्भिक महीनों में मास्को में पर-राष्ट्र मंत्रियों के सम्मेलन में जो विचार-विमर्श हुआ उससे यह स्पष्ट था कि चारों शक्तियों (ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमरीका, सोवियत् रूस और फ्रांस) ने अंततः एक संघीय समाधान को पसन्द किया था, यद्यपि पश्चिमी शक्तियों ने रूस की अपेक्षा एक अधिक शिथिल संघ का सुझाव दिया था। रूसियों को डर था कि केन्द्र में सबल संघीय शासन के अभाव से किसी ऐसे भावी बिस्मार्क या हिटलर के उदय के लिए मार्ग खुला रह जाएगा जो राष्ट्रीय एकता को अपना नारा बना सके।

परन्तु किसी भी अनावश्यक विलंब के बिना जर्मन शासन की पुनःस्थापना की इच्छा से प्रेरित होकर तीनों पश्चिमी लोकतंत्रीय राष्ट्रों को सोवियत् रूस से स्वतन्त्र रूप में कार्य करना पड़ा और सितंबर सन् १९४८ में, जर्मनी के राज्यों के संघ के लिए संविधान का प्रथम मसौदा, जिसे विशेषज्ञों की एक समिति ने तैयार किया था, बॉन-स्थित जर्मन संविधान-सभा में प्रस्तुत किया गया। यद्यपि इस संघीय योजना की रचना ऐसी की गई थी कि वह अन्ततः समस्त जर्मनी को लागू हो सके परन्तु प्रारम्भ में वह ग्यारह पश्चिमी राज्यों तक ही सीमित रहा जिनकी जनसंख्या सम्पूर्ण जर्मन जनसंख्या की तीन-चौथाई के लगभग थी। इस नवीन गणतंत्र में जिसका आरम्भ सितंबर सन् १९४९ में हुआ, दो सदनों का विधान-

मंडल है : संघीय सभा (Bundestag) जो निम्न सदन है और संघीय परिषद् (Bundesrat) जो उच्च सदन है। राष्ट्रपति का निर्वाचन दोनों सदनों के स्पष्ट बहुमत के द्वारा होता है और वह उनके प्रति मंत्रिमंडल के माध्यम से उत्तरदायी है।

८. सोवियत् रूस और युगोस्लाविया में संघवाद

यद्यपि, जैसा कि हम ऐतिहासिक अध्याय में देख चुके हैं, सोवियत् रूस न अपनी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना में पश्चिमी संविधानवाद की पद्धतियों को अस्वीकार किया है फिर भी सोवियत् रूस एक संघराज्य है और सन् १९३६ के स्टालिन-संविधान के संघीय स्वरूपों में, कम-से-कम लिखित रूप में, उन राज्यों में से, जिनका हम इस अध्याय में परीक्षण कर चुके हैं, कुछ के साथ मार्के का सादृश्य है। यही बात सन् १९४६ के युगोस्लाविया के संघीय जनतंत्रीय गणतंत्र के संविधान के सम्बन्ध में भी सही है जिसका निर्माण मोटे रूप से सोवियत् रूस के संविधान के नमूने पर हुआ है। इस भांति इन नए और अधिक क्रांतिकारी संविधानों के नमूनों की, जो एक अत्यन्त विभिन्न पृष्ठभूमि से प्रादुर्भूत हुए हैं, पुराने संघों के संविधानों से तुलना करना लाभकारी होगा।

सन् १९१८ का लेनिन का मूल सोवियत् संविधान केवल यूरोप मे स्थित मुख्य रूस को लागू था, जो उस समय तक रूसी सोवियत्-संघीकृत समाजवादी गणतंत्र (Russian Soviet Federated Socialist Republic)—संक्षेप में आर०एस०एफ० एस० आर०—के नाम से ज्ञात था। सन् १९२३ में पहले यूक्रेन के सहित तीन अन्य क्षेत्रो के, जिन्होंने सोवियत् क्रान्ति करली थी, रूसी सोवियत् संघीकृत समाजवादी गणतंत्र में स्वेच्छा से सम्मिलित होने से सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ (Union of Soviet Socialist Republics) की स्थापना हुई और इसके पश्चात् ऐसे अन्य सोवियत् गणतंत्रों के, जो यूरोप और एशिया दोनों ही में प्राचीन रूसी साम्राज्य के विभिन्न भागों मे स्थापित हो चुके थे, सम्मिलित होने से इसका धीरे-धीरे विस्तार हुआ। उक्त संविधान मे संघीय सत्ता की शक्तियों का विशिष्ट रूप से निरूपण किया गया था और अवशिष्ट शक्तियो को संघनिर्माता गणतंत्रों के पास छोड़ दिया गया था। लेनिन के संविधान का स्थान स्टालिन द्वारा तैयार किए गए संविधान ने लिया जिसे मास्को में हुई सोवियतों की अखिल-संघीय कांग्रेस ने सन् १९३६ में अंगीकृत किया।

सन् १९३६ के संविधान के दूसरे अध्याय में राज्यसंगठन का वर्णन है। इसके अनुच्छेद १३ में यह कहा गया है कि सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ (यू० एस० एस० आर०) एक संघीय राज्य है, जिसका निर्माण ग्यारह सोवियत् समाजवादी गणतंत्रों (रूसी सोवियत्-संघीकृत समाजवादी गणतंत्र, यूक्रेन, श्वेत रूस, जार्जिया, आर्मीनिया आदि) के स्वेच्छा से सम्मिलित हो जाने के आधार पर हुआ है, जिनमें से कुछ में मुख्य राज्य के अतिरिक्त स्वायत्तशासी गणतंत्र तथा स्वायत्तशासी प्रान्त भी हैं। संघीय सत्ता की

शक्तियों का अनुच्छेद १४ में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। अनुच्छेद १५ में प्रकट किया गया है कि "इन परिसीमाओं से बाहर संघ का प्रत्येक गणतंत्र अपनी राज्यशक्ति का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करता है।" इससे आगे के अनुच्छेदों में कहा गया है कि "संघ के प्रत्येक गणतंत्र का अपना संविधान है" (अनुच्छेद १६); "संघ के प्रत्येक गणतंत्र को सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ से स्वतंत्रतापूर्वक पृथक् हो जाने का अधिकार है।" (अनुच्छेद १७); और "संघ के गणतंत्रों की सीमाएं उनकी सम्मति के बिना परिवर्तित नहीं की जा सकेंगी।" (अनुच्छेद १८)

अनुच्छेद ४७, सदनो के बीच मतभेद की अवस्था में, सर्वोच्च न्यायालय अथवा समझौता-आयोग (Conciliation Commission) की स्थापना करता है; यदि इस व्यवस्था से समझौता न हो सके और सदनों के बीच भी कोई समझौता न हो तो नए निर्वाचन किए जाते हैं।

इस समय संघीकृत सोवियत् गणतंत्रों की संख्या सोलह है। इनके सिवाय बाईस स्वायत्तशासी गणतंत्र भी हैं। इन सोलह गणतंत्रों में इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के गणतंत्र भी हैं जो सन् १९४० में शामिल किए गए थे। ये बाल्टिक राज्य प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र राज्यों के रूप में स्थापित किए गए थे, परन्तु दो बलवान् पड़ोसी राज्यों के बीच उनका अस्तित्व सदा ही अस्थिर रहा। किन्तु सन् १९३९ के रूस-जर्मन शान्ति समझौते में इन पर रूसियों का नियंत्रण मान्य किया गया था; यद्यपि रूस के जर्मनी के साथ हुए युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में जर्मनी ने इन पर कब्जा कर लिया था। बाद में रूसी पश्चिमी अभियान में वे एक बार फिर रूसी प्रभुत्व में आ गए। परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद मे सोवियत् रूस ने उन्हें संघ (यूनियन) से पृथक् होने की इजाजत देने के लिए कोई भी इरादा प्रकट नहीं किया। यहां महत्त्वपूर्ण तथ्य सोवियत्-संघ की संघीय नमनशीलता है, जिसके कारण शायद किसी भी पड़ोसी राज्य को अपने संघीय स्वरूप में गड़बड़ डाले बिना वह अपने अन्दर विलीन कर सकता है। सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ का सांविधानिक सिद्धान्त ऐसा ही है जो कि उसके सत्तावादी आचरण से भिन्न है।

युद्धोत्तर युगोस्लाविया इस भांति सम्मिलित नहीं किया गया, परन्तु उसके नए संविधान में सोवियत् रूस का प्रभाव स्पष्ट है। युगोस्लाविया प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् स्थापित हुए नए राज्यों में से था। उसकी स्थापना सर्बिया के मूल राज्य के साथ कुछ आस-पास के क्षेत्रों को, जो कि अधिकांश में प्राचीन आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के पूर्ववर्त्ती प्रान्त थे, मिलाकर की गई थी। उक्त राज्य, अत्यधिक विभिन्नवर्गीय जनता से बना था जिनमें से अधिकांश सर्ब, क्रोट और स्लोवीन थे, परन्तु जिनका अनुपात अत्यन्त विषम था। इस राज्य में सर्बिया और मोंटीनीग्रो के पिछले राज्य तथा आस्ट्रिया-हंगरी के पूर्ववर्त्ती जिले बोसनिया, हर्जीगोविना, क्रोशिया, डेलमेशिया, स्लावोनिया तथा युद्धपूर्व बलगारिया के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे। ऐसे अव्यवस्थित क्षेत्रों और लोगों के एकीकरण से एक

सशक्त एकात्मक राज्य बनाने की आशा व्यर्थ ही थी, तो भी इसी के लिए प्रयत्न किया गया। यदि कभी भी एक नए राज्य की स्थापना के पूर्व की किसी परिस्थिति में संघीय प्रयोग का परीक्षण आवश्यक था तो वह यही परिस्थिति थी। तो भी उसके लिए एकात्मक प्रणाली का ही निश्चय किया गया।

द्वितीय महायुद्ध के अंत के साथ, यह संघीय राज्य जो पहले की परिस्थितियों में वाछनीय था, अस्तित्व में आया। सन् १९४५ के अंत में एक संविधान-निर्मात्री सभा ने एकतंत्र को समाप्त करने तथा संघीय जनगणतंत्र की स्थापना करने का निश्चय किया। यह संविधान ३१ जनवरी सन् १९४६ को कार्यान्वित हुआ। उसके अनुच्छेद १ में यह प्रकट किया गया है कि युगोस्लाविया गणतंत्री रूप का संघीय जनराज्य है, यह ऐसे लोगों का समुदाय है जिन्होंने एक संघीय राज्य में साथ-साथ रहने की इच्छा प्रकट की है। अनुच्छेद २ में कहा गया है :—

"युगोस्लाविया का संघीय जनगणतत्र, सर्बिया के जनगणतंत्र, क्रोशिया के जनगणतंत्र, स्लोवानिया के जनगणतंत्र, बोसनिया-हर्जीगोविना के जनगणतंत्र, मेसीडोनिया के जनगणतंत्र, तथा मोंटीनीग्रो के जनगणतंत्र से मिलकर बना है।" इस भांति, समस्त स्लाव-जन जो प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के दिनों में सर्बिया के साथ मिल जाने की आशा करते थ, अब सबके साथ मिलकर एक संघ का निर्माण कर चुके हैं जिसमें समस्त अंगीभूत राज्य समान हैं। अनुच्छेद ४४ की लम्बी सूची में संघीय सत्ता की शक्तियां परिगणित है। इन शक्तियों में रक्षा तथा कूटनीति से संबद्ध सामान्य कृत्यों के अलावा श्रम, सामाजिक बीमा और सहकारिता, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित मौलिक कानून भी सम्मिलित हैं। रक्षित शक्तियां संघनिर्माता राज्यों के पास है। सोवियत् रूस के समान ही युगोस्लाविया भी वास्तव में एक समाजवादी राज्य है। परन्तु इसके संविधान का संघीय स्वरूप इसे इस बात का सुन्दर उदाहरण बना देता है कि आधुनिक राजनीतिक संगठन के नए प्रयोजनों के लिए पुरानी पद्धतियों को किस प्रकार अनुकूल बनाया जा सकता है।

९. लैटिन-अमरीका में संघीय संविधान

लैटिन-अमरीका एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सभ्यता की शक्तियां अब भी अत्यंत आंशिक रूप में प्रवेश कर सकी हैं और शासन की कला में वह जो भी कुछ हमें शिक्षा दे सकता है, वह वर्त्तमान तथा भूत की अपेक्षा भविष्य की बात हो सकती है। कोई भी व्यक्ति दक्षिणी अमरीका के राज्यों को लोकतंत्र के लाभप्रद संचालन के अथवा दस्तावेजी संविधानों से प्राप्त किए जानेवाले लाभों के उदाहरणों के रूप में नहीं लेगा। अधिकतम प्रेक्षकों ने तो इन्हें उस दुर्भाग्य का भयंकर उदाहरण माना है जो स्वायत्त शासन की कला के अनुभव से रहित होते हुए भी अपने प्राचीन रक्षकों से नाता तोड़नेवालों का हो सकता है; और

निश्चित रूप से दक्षिणी अमरीका में राजनीतिक संस्थाओं की अस्थिरता इन चेतावनियों की सत्यता को सिद्ध कर रही है। तो भी, जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है, दक्षिणी और मध्य अमरीका के राज्यों की उलट-फेर और उनके अनुभवों ने, उस काल के बाद की जब से उन्होंने स्पेन (और पुर्तगाल) की अधीनता के जुए को उतार फेंका, एक शताब्दी के विकास में "राजनीति के क्षेत्र में मानव-स्वभाव के कतिपय पहलुओं" पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हमारी दिलचस्पी तो उस रीति में है जिसमें वे उन क्षेत्रों में भी, जो कि उचित रूप से परिपक्व नहीं हुए है, पाश्चात्य संविधानवाद और विशेषकर संयुक्तराज्य अमरीका के प्रभाव को प्रकट करते हैं। इन राज्यों द्वारा यूरोपीय स्वामियों से अपने-आपको स्वतंत्र घोषित कर दिए जाने के बाद इस प्रश्न का कि इनके लिए किस प्रकार का शासन सर्वोत्तम होता, हल करना आसान नहीं है। इन क्षेत्रों में राजनीतिक स्थायित्व की अत्यावश्यकता है और निश्चय ही यह नहीं कहा जा सकता कि संघीय संविधानवाद ने इसे पूरा किया है।

मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के बीस गणतंत्रों में तीन—अर्जेंटाइना, ब्रेजील और मेक्सिको—संघीय राज्यों के दिलचस्प उदाहरण हैं। इन तीन राज्यों ने स्पेन तथा पुर्तगाल के विरुद्ध विद्रोह के महान् युग (सन् १८१०—३०) के दौरान में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी। सन् १८२५ में अर्जेण्टाइना ने संयुक्तराज्य अमरीका के नमूने पर एक संविधान प्रख्यापित किया और इसका नाम 'रायोडी ला प्लेटा के संयुक्तप्रांत' भी था। इन राज्यों अथवा प्रांतों के हाथों में रक्षित शक्तियां हैं, परंतु केन्द्र के अधिनायकों ने राजनीतिक वाक्छल द्वारा उनके अधिकारों का सामान्यतया दुरुपयोग किया है। यद्यपि अर्जेंटाइना लैटिन-अमरीका के अत्यन्त सम्पन्न राज्यों में से एक है, तथापि वहां के लोग अब भी अधिनायक के अधीन है। ब्रेजील ने सन् १८२२ में अपने-आपको पुर्तगाल से स्वतंत्र घोषित कर लिया था, परंतु वह सन् १८८९ तक द्वितीय डॉम पेड्रो नामक सम्राट् के द्वारा शासित होता रहा। मरने से दो वर्ष पूर्व जब कि उसने राजपद को त्यागा था, ब्रेजील एक संघीय गणराज्य घोषित किया गया। इसमें राज्य-सरकारों के पास बड़ी मात्रा में रक्षित शक्तियां हैं, जिन्हें वे उस लम्बी दूरी के कारण भोगती हैं जो इस राज्य के घने बसे हुए क्षेत्रों को पृथक् करती हैं। केन्द्र की संविधान में ऐसी सत्ता है, जो अधिकांश में सैद्धांतिक है। मेक्सिको ने संयुक्तराज्य अमरीका के नमूने पर शासन की एक संघीय योजना को एक शताब्दी पूर्व अपनाया था। यह एक या दो संशोधनों के साथ तभी से नाममात्र के लिए प्रभावकारी रही है। परंतु मेक्सिको के संयुक्त राज्य की संघनिर्मात्री इकाइयों में स्वायत्त शासन का कोई आधार नहीं है और यह नहीं कहा जा सकता कि वहां संविधान पर कभी भी उचित रूप से कार्य हुआ है।

इन सब बातों से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि संघवाद एक ऐसा आदर्श है जिसको तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके निमित्त इच्छा को

उसे प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प का सहारा न मिले। इसका तात्पर्य यह है कि यदि आवश्यक हो तो उस बल का भी प्रयोग किया जाए जिसे संघनिर्मात्री इकाइयां मिलकर प्रदान करती हैं। किसी भी अन्य सांविधानिक रूप की अपेक्षा संघवाद के लिए जनमत के बल की अधिक स्पष्ट और अविलंब आवश्यकता है, और जहां कहीं भी राजनीतिक अनुभव का अभाव है,—और यह उक्ति दक्षिण-अमरीकियों की विस्तृत बहुसंख्या में किसी भी भांति की शिक्षा के अथाह अभाव को वर्णन करने का विनम्र तरीका है—संघवाद कदापि सफल नही हो सकता। निस्संदेह सभी दक्षिण-अमरीकी राज्यों में बल का कभी अभाव नहीं रहा है, परंतु इसका प्रयोग कलहपूर्ण, पक्षपातयुक्त और निरंकुश रहा है। जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है, निष्कर्ष यह है कि "इस कोरे विश्वास के बल पर कि जब साधन प्राप्त होंगे तो वे उनके प्रयोक्ता को कुशल भी बना देंगे, जनता को वे संस्थाएं मत दो जिनके कि वे अयोग्य हैं।" फिर भी अधिक समुन्नत राज्यों में से एक या दो में वास्तविक प्रगति दिखाई देने लगी है और यदि यही क्रम जारी रहा तो भी संविधानवाद कुछ सफलता प्राप्त कर लेगा। अब भी संघवाद ही ऐसा रास्ता हो सकता है जिसके सहारे जब लोग यह अनुभव करने लगेंगे कि स्थिरता के बिना लैटिन-अमरीका के विस्तृत आर्थिक साधनों की कभी भी पूर्णरूपेण उन्नति नहीं की जा सकती, राजनीतिक स्थिरता कायम रखी जा सकेगी।

प्रश्न

१. कानफ़ेडरेशन और संघीय राज्य में क्या भेद है ?
२. "संघीय राज्य, राज्यों के अधिकारों का राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति के साथ समन्वय करनेवाला एक राजनीतिक उपाय है।" इस परिभाषा की विवेचना कीजिए।
३. यह कहना किस अर्थ में सत्य है कि सच्चे संघीय राज्य में प्रभुत्व का निवास संविधान में होता है ?
४. 'अवशिष्ट शक्तियों' से क्या तात्पर्य है ? एक संघीय राज्य में संघीय तथा राज्यीय सरकारों के बीच शक्ति-वितरण किस-किस प्रकार हो सकता है ?
५. अमरीका के संयुक्तराज्य की संघीय व्यवस्था समझाइए।
६. स्विट्जरलैंड में संघवाद के इतिहास पर प्रकाश डालिए और उसके वर्त्तमान रूप की संयुक्तराज्य के रूप से तुलना कीजिए।
७. आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ तथा कनाडा की डॉमिनियन की संघीय व्यवस्थाओं की समानताएं तथा उनके भेद समझाइए।
८. जर्मनी में संघवाद के इतिहास का वर्णन कीजिए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के जर्मनी का पुनर्निर्माण वेमर गणतंत्र के संघीय संगठन के आधार पर कहां तक हो सकता है ?
९. सन् १९४६ के संविधान के अधीन युगोस्लाविया के जनगणतंत्र के संविधान के संघीय तत्त्वों की सन् १९३६ के संविधान के अधीन रूस के संविधान के संघीय तत्त्वों से तुलना कीजिए।
१०. लैटिन-अमरीका के कुछ राज्यों में संघवाद के अस्तित्व के क्या कारण हैं ? वहां वह राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न करने में कहां तक सफल हुआ है ?

अध्याय ६

नमनीय संविधान

१. साधारण विवेचन

पहले अध्याय में हमने संविधान की जो सर्वोत्तम परिभाषा दी थी, वह स्वर्गीय लॉर्ड ब्राइस की है जिसमें उन्होंने कहा है कि संविधान "विधि से और उसके द्वारा संगठित राजनीतिक समाज का एक ढांचा है, अर्थात् ऐसा जिसमें विधि ने निश्चित अधिकारों और स्वीकृत कृत्यों वाली स्थायी संस्थाओं की स्थापना की है।" जब हम यह देखते हैं कि संविधानों के दो बड़े वर्गों के बीच के अन्तर को व्यक्त करने के लिए 'नमनीय' (Flexible) और 'अनमनीय' (Reigid) ये दो शब्द भी हमें उसी लेखक से मिले हैं, तब हम इस बात पर और जोर देते हैं कि लिखित और अलिखित, अथवा, जैसा कि हमने कहा है, दस्तावेजी और गैर-दस्तावेजी संविधानों के बीच कभी-कभी जो अन्तर प्रकट किया जाता है वह मिथ्या है, क्योंकि भले ही किसी संविधान को दस्तावेज रूप में प्रस्तुत न किया जाए, तो भी वह संविधान ही है। इसे अस्वीकार करना अमरीकी लोकतंत्र के महान् फ्रांसीसी भाष्यकार डी० टोकविल की गलती दुहराना होगा, जिन्होंने इस कारण से कि वह ब्रिटेन का कोई सांविधानिक दस्तावेज न प्राप्त कर सके, यह कहा कि अंगरेजी संविधान का अस्तित्व ही नहीं है।

दस्तावेजी संविधान उस समुन्नत राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति है जो शासन की विद्यमान पद्धतियों की अपर्याप्तता के प्रति सजग है। यदि हम ब्राइस के कथन का विवेचन करें, तो हम कह सकते हैं कि ऐसे संविधान के प्रख्यापन की इच्छा के कारण निम्नलिखित उद्देश्यों में से एक या अधिक हो सकते हैं :—

(१) खतरे की अवस्था में नागरिकों की अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने और शासक के कार्यों पर प्रतिबंध लगाने की इच्छा।

(२) शासितों की अथवा अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के हेतु शासक की यह इच्छा कि शासन की विद्यमान व्यवस्था को, जो कि तब तक अनिश्चित रूप में हो, ठोस रूप दे दिया जाए जिससे भविष्य में मनमानी कार्यवाहियों की सम्भावना न रहे।

(३) नया राज्य स्थापित करनेवालों की यह इच्छा कि शासन के ढांचे का रूप स्थायी और प्रजा को बोधगम्य हो।

(४) अब तक पृथक् रहनेवाले समुदायों की, जो अब भी कुछ अधिकारों और हितों को पृथक् रूप से अपने पास रखना चाहते हैं, प्रभावपूर्ण संयुक्त कार्यवाही सुनिश्चित करने की इच्छा।

उसी विद्वान् का फिर अनुसरण करते हुए, हम यह भी कह सकते है कि दस्तावेजी संविधानों का निम्नलिखित चार सम्भव तरीकों में से किसी एक से उद्भव हो सकता है:—

(१) "कोई राजा अपनी प्रजा को स्वयं तथा अपन उत्तराधिकारियों की ओर से नियमित तथा सांविधानिक रीति से शासन करने की, तथा पूव के दुरुपयोगों के वजन की प्रतिज्ञा करने के लिए संविधान प्रदान कर सकता है।" इसका उदाहरण सन् १८१४ में फ्रांस में लुई अठारहवें द्वारा जारी किया गया फ्रांसीसी चार्टर है, जो सन् १८३० में लुई फिलिप द्वारा कुछ परिवर्तनों के साथ पुनर्नवीन किया गया था। सन् १८४८ का सार्डीनिया का संविधान और सन् १८५० का प्रशा का संविधान भी ऐसे ही उदाहरण है।

(२) ऐसे संविधान एक ऐसे राष्ट्र द्वारा भी अस्तित्व में लाए जा सकते है जो शासन के पुराने रूप को नष्ट कर एक नए रूप का सृजन करता है, जैसा सन् १७९० से आगे फ्रांसीसी गणतंत्रों ने तथा संयुक्तराज्य अमरीका के प्रारम्भिक तेरह राज्यों ने किया।

(३) ऐसे संविधान एक नए समुदाय द्वारा, जो कि अब तक राष्ट्रीय राज्य नहीं रहा है, ऐसे समय में सृजित किए जा सकते हैं, जब कि वह औपचारिक रूप में स्व-शासित राज्य का रूप धारण करता है। इसके उदाहरण स्पष्ट रूप से वे राज्य हैं जो कि यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अस्तित्व मे आए, जैसे पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया।

(४) अंत में ऐसे संविधानों की उत्पत्ति शिथिल रूप से गठित स्व-शासित समुदायों को मजबूती के साथ संगठित करनेवाले बंधन के द्वारा भी होती है। ऐसी प्रक्रिया के द्वारा राज्यों का एक संयोग मात्र संघराज्य बन जाता है और उस संविधान का, जिसके आधार पर ऐसा परिवर्तन होता है, अनमनीय होना अनिवार्य ही है। ऐसी प्रक्रिया से उत्तरी अमरीका का शिथिल कॉनफेडरेशन, जैसा कि वह सन् १७८३ में ब्रिटेन से पृथक् होने के समय विद्यमान था, बदलकर सन् १७८९ में संघराज्य बन गया, जैसा कि वह आज है। विद्यमान स्विट्जरलैंड गणतंत्र इसका दूसरा उदाहरण है। इसी भांति आधुनिक जर्मन साम्राज्य भी इसका एक उदाहरण है, जिसकी सन् १८१५ के जर्मनी के महासंघ कॉन-फेडरेशन से क्रमिक रूप से सन् १८७१ में सृष्टि हुई।

आजकल केवल एक अर्थात् ब्रिटेन के संविधान के सिवाय प्रत्येक महत्त्वपूर्ण संविधान इसी कोटि का है। परन्तु कई संविधान इस अर्थ में ब्रिटिश संविधान के समान है कि उनमें संशोधन के लिए निर्धारित विशेष प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना साधारण विधायिनी पद्धति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। इस भांति लिखित और अलिखित संविधानों के बीच में बताया गया अन्तर तीन तरह से भ्रम में डालनेवाला है। प्रथमत: वह हमें यह सुझाव देकर गुमराह करता है कि अलिखित संविधान में विकास का एकमात्र आधार रूढ़ि तथा पूर्वदृष्टांत का बल है, किन्तु लिखित संविधान अलिखित प्रथाओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता। परन्तु, जैसा हम कह चुके हैं, पूरे रूप में कोई

भी संविधान न तो लिखित ही है और न अलिखित। यदि हम 'नमनीय संविधान' पद का प्रयोग करें और यदि उस समय हमारा तात्पर्य ऐसे संविधान से हो जिसमें उसे स्थायी रखने के लिए किसी भी लिखित विधि का अस्तित्व न हो तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आज संसार में ऐसे नमनीय संविधान का एक भी उदाहरण मौजूद नहीं है। जब भी हम, उदाहरण के लिए ब्रिटेन के संविधान की उसे अलिखित संविधान कहकर चर्चा करते हैं तो हमारा एक क्षण के लिए भी यह मतलब नहीं होता कि उसकी रचना में किसी संविधि का समावेश ही नहीं है; क्योंकि जैसा हम बताएंगे ऐसी बहुत-सी संविधियां है। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश संविधान के विषय में जो कुछ भी हम कह सकते है वह यही है कि दूसरों की अपेक्षा उसमें रूढ़ियां और परम्पराएं अधिक है, और समस्त अन्य संविधानों के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि उनमें से कोई भी रूढ़ियों तथा परम्पराओं से अप्रभावित नही रहा है।

द्वितीय, लिखित तथा अलिखित संविधान में अन्तर इस कारण भी भ्रामक है कि उससे यह उपलक्षित होता है कि सिवाय उन विधियों के, जो कि संविधान कहे जानेवाले एक दस्तावेज में एक साथ समाविष्ट कर दी जाती है, संविधान की अन्य कोई भी विधियां नहीं हो सकतीं। यदि ऐसा कोई दस्तावेज विद्यमान नहीं है तो इस तर्क का आशय यही है कि संविधान की कोई विधि नही है। टोकविल ने यही उपलक्षित किया था। उसने सन् १८३४ में, लिखा था, परन्तु यदि वह बीसवी शताब्दी में लिखता तो भी वह सम्भवत: यही कहता, क्योंकि इस मध्यवर्त्ती काल में उसके तर्क में परिवर्तन लानेवाली कोई भी बात नही हुई; ब्रिटिश संविधान कहलानेवाला आज भी कोई दस्तावेज नहीं है। यह सच है कि टोकविल के काल से आज तक ब्रिटेन में संविधान का रूपभेदन करनेवाली अनेक विधियां पारित हुई है; परन्तु, जैसा एक अर्वाचीन लेखक ने कहा है, यह कहना कि सन् १९११ के संसदीय अधिनियम के पारित हो जाने के समय से ब्रिटिश संविधान आंशिक रूप से लिखित संविधान है, उन बहुसंख्यक विधियों की उपेक्षा करना है जिनसे उस समय से पूर्व संविधान के निर्माण में सहायता प्राप्त हुई थी। यदि वह सन् १९११ से आज तक अंशत: लिखित है तो वह उस समय से पूर्व भी अंशत: लिखित था।

तृतीय, यह अंतर इसलिए भी गुमराह करनवाला है कि इसके द्वारा हमें यह विश्वास करने का लोभ होता है कि विधि अनिवार्यत: लिखित रूप में होनी चाहिए। परन्तु यह बात निश्चय ही असत्य है। यदि हम ऐसे किसी संविधान को बता भी सकें, जो पूर्णरूप से रूढ़ि के आधार पर ही विकसित हुआ था, तो भी हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि उसमें विधि भी थी, क्योंकि रूढ़ि में भी विधि का बल विद्यमान हो सकता है, और इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि विधि किसी विधायिनी प्रक्रिया से गुजरे बिना भी लिखी हुई हो सकती है।

२. विधि का स्वरूप

अपने विषय-प्रवेशसम्बन्धी अध्याय में हमने विधि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रथम, सामाजिक आचारों का वह निकाव है, जिसे हम रूढ़ि कहते हैं और जो किसी भी औपचारिक विधिसम्बन्धी प्रक्रिया से अछूती है। इनमें से बहुत-सी, आधुनिक परिस्थितियों में, प्राचीन काल की वसीयत के रूप में विद्यमान हैं, परंतु वे आधुनिक पश्चिमीय राज्यों जैसे अतिसभ्य समाजों में नैतिकता तथा सदाचार के नियम मात्र हैं। द्वितीय, विधियों की ऐसी औपचारिक कोटि है, जो संविधि-रूप में लिखी तो नहीं गई है, परन्तु उचित रूप से गठित न्यायालयों में विधि के रूप में पूर्णरूप से प्रवर्त्तित होती है। यह वादजन्य विधि या न्यायाधीश निर्मित विधि है और इंगलैंड में वह विधि का वह बड़ा पुंज है जिसे हम सामान्य-विधि के रूप में जानते हैं। तृतीय, संविधि कहलानेवाली वे लिखित विधियां हैं जो कि विधानमंडल अथवा संसद् द्वारा उचित रूप से पारित होती हैं।

विधि की इन तीनों शाखाओं का अन्तिम बल शांति और उन्नति के लिए समाज की इच्छा है, क्योंकि, जैसा कि हम पहले भी जोर दे चुके हैं, राज्य केवल राजनीतिक रूप मे संगठित समाज है, और समाज को अपने राजनीतिक अस्तित्व की जितनी अधिक चेतना होती है, वह अपने उद्देश्यों के संरक्षण तथा उन्नति के लिए शासन के उपकरण का उतना ही अधिक जान-बूझकर प्रयोग करता है, और उन उपकरणों की ओर से शक्ति के किसी भी दुरुपयोग को भी अधिक रोकता है। विधि के निमित्त संगठित समुदाय को (यह याद रखना चाहिए कि हमारी राज्य की परिभाषाओं में से एक यह थी) आगे बढ़ना चाहिए, परन्तु वह यह भी जानता है कि उसे ऐसा अधिक शीघ्रता से नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि समाज के दो पहलू होते हैं: निश्चल अथवा स्थिर और गतिशील। यह एक ऐसा सत्य है जिस पर ऑगस्ट कॉम्ट के इस सिद्धांत में जोर दिया गया है कि "उन्नति व्यवस्था का विकास है।" शासन की प्रधान समस्या यही है कि व्यवस्था को चोट पहुंचाए बिना प्रगति कैसे की जाए। इस भांति तीनों प्रकार की विधियां परस्पर एक-दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। उदाहरण के लिए, यदि रूढ़ि अत्यन्त शीघ्रता से विकसित होती दिखाई देती है तो न्यायाधीश-निर्मित विधि या संविधि इसके प्रवाह को रोक सकती है; यदि न्याय-पालिका का कोई निर्णय लोकमत के विरुद्ध दिखाई देता है तो उस निर्णय को पलटने के लिए विधानमंडल का आह्वान किया जा सकता है; यदि विधानमंडल के विधान समाज के मत का निरादर करते हैं तो लोकमत विधानमंडल को उसे बदलने या निरस्त करने को विवश कर सकता है या उसे मानने से इनकार करके ऐसी विधि को निर्जीव बना सकता है।

यही बात विधि की उस शाखा पर भी लागू होती है जो राज्य के गठन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, जिससे हमारा यहां विशेष रूप से सम्बन्ध है और जो सामान्य नया सांविधानिक विधि कहलाती है। समस्त राज्यों में विधि की यह शाखा विद्यमान है

और विधि-निर्माण की तीनों पद्धतियों का—समाज की रूढ़ियों अथवा रिवाजों, न्यायाधीशों के निर्णयों, विधानमंडल के अधिनियमों का—न्यूनाधिक अंशो में ही सही, उसकी रचना मे उपयोग किया जाता है। जहां तक प्रथम दो पद्धतियो का सम्बन्ध है, विभिन्न सविधानों मे केवल मात्रा का ही अन्तर है, क्योंकि ऐसा कोई संविधान नहीं है जिसमें ऐसे रिवाज न हों जिनकी स्थापना विधि के आधार पर न होकर रूढ़ि के आधार पर होती है, और न ऐसा ही कोई संविधान है जिसके साविधानिक विकास मे न्यायालयों के निर्णयों ने कुछ-न-कुछ भाग न लिया हो। यह बात संयुक्तराज्य अमरीका या फ्रांस के संविधान में कम और ब्रिटेन के संविधान में अधिक लागू होती है। जहा तक कि तीसरे प्रकार अर्थात् वास्तविक संविधि का सम्बन्ध है, संविधानों में केवल मात्रा का ही नहीं, बल्कि प्रकार का भी भेद है। यहां हमें 'सांविधानिक विधि' शब्द के दो अर्थों के बीच भेद कर लेना चाहिए। अपने विस्तृत अर्थ मे इसका तात्पर्य ऐसी किसी भी संविधि या वादजन्य विधि से है जो कि संविधान को प्रभावित करती है। सीमित अर्थ में इससे तात्पर्य केवल उस विधि से है जो कि संविधान कहलानेवाले दस्तावेज में, और संविधान में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए किसी विशेष प्रक्रिया से, जिसका ब्यौरा मूल संविधान में निर्धारित किया गया है, पारित विधियों में समाविष्ट है।

अब यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन के सविधान के समान गैर-दस्तावेजी संविधान सीमित अर्थ में सांविधानिक विधि नही है। यह भी प्रत्यक्ष ही है कि ऐसे किसी भी दस्तावेजी संविधान में, जो अपने संशोधन के सम्बन्ध में कोई भी विशेष शर्त निर्धारित नहीं करता—और जिसका उदाहरण मुसोलिनी द्वारा निर्जीव बना दिए जाने से पूर्व का मूल इटालियन संविधान है—इस अर्थ में कोई भी संशोधक सांविधानिक विधि नही होती। अतः मुख्य अन्तर तो उनमें परिवर्तन करने की पद्धतियो के बीच है। कोई भी प्रेक्षक किसी ऐसे संविधान के सम्बन्ध में जिसकी जडे ब्रिटेन के संविधान के सदृश पुरानी हों, यह आशा नही करेगा कि वह दस्तावेजी रूप का हो। क्योंकि शासन के पुराने रूप अनिवार्यतः अस्थिर तथा अनिश्चित प्रकार के होते थे, रूढि की सरिता पर समय-समय पर विधि का बांध बाध दिया जाता था। कोई यह आशा नही कर सकता कि ऐसा समाज जो अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अंधे की तरह भटक रहा हो, दस्तावेजी संविधान के सदृश अत्यन्त परिष्कृत उपकरण की रचना कर सकता है। ऐसा उपकरण बहुत आगे चलकर विकसित हुआ, और, जैसा कि हम कह चुके हैं, वह उन्नत राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसे किसी क्रान्ति अथवा उपद्रव के द्वारा आकस्मिक तथा पूर्णरूप में प्रकट होने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु यदि ब्रिटेन के समान कोई राजनीतिक समाज एक ही समय तथा एक ही दस्तावेज में इस प्रकार की आकस्मिक और पूर्ण अभिव्यक्ति को आवश्यक नहीं समझता तो उससे उसके शासन का उपकरण किसी भी भांति कम प्रामाणिक नही होता और साधारण विधियों के रूप में पारित उसके सांविधानिक परिवर्तन बिलकुल वैसे ही स्थायी होते हैं, मानो वे दस्तावेज में उल्लिखित प्रक्रियाविशेष के द्वारा पारित किए गए हों।

यही बात ऐसे संविधान के बारे में भी सत्य है जो दस्तावेज के रूप में होता हुआ भी विधि-निर्माण की साधारण प्रक्रिया के द्वारा अपने में परिवर्तन होने देता है और इस प्रयोजन के लिए किसी साधनविशेष का सहारा नहीं लेता। यह, जैसा कि हम लिख चुके हैं, उन पद्धतियों के अनुसार जिनके द्वारा सांविधानिक विधि का अधिनियमन होता है, संविधानों के वर्गीकरण का एक साधन है। कतिपय संविधान यह प्रतिपादित करते हैं कि विधि की यह शाखा विधि-निर्माण के साधारण कार्य में प्रयुक्त पद्धति से भिन्न पद्धति के द्वारा निर्मित होनी चाहिए। ऐसे संविधान अनमनीय होते हैं। दूसरे संविधान ऐसा कोई भेद नहीं करते। उन संविधानों के अधीन किसी भी भांति के विधि-निर्माण के लिए उत्तरदायी निकाय ही समस्त भांति की विधि के निर्माण के लिए, चाहे वह सांविधानिक हो अथवा नहीं, उत्तरदायी होती है। ये संविधान नमनीय होते हैं और जो बात उस राज्य की, जिसका ऐसा संविधान होता है, विशिष्टता प्रकट करती है, वह उसकी संसद् की असीमित सत्ता है।

३. नमनीय संविधान का वास्तविक स्वरूप

इस भांति नमनीय संविधान की कसौटी संशोधन की पद्धति से सम्बद्ध है। यदि सांविधानिक विधियों के पारित करने की पद्धति ऐसी साधारण विधियों को, जो कि सांविधानिक स्वरूप की न हों, पारित करने की पद्धति के समान हो तो संविधान नमनीय है। प्रत्येक आधुनिक सांविधानिक राज्य में, जैसा कि हम कह चुके हैं, ब्रिटिश संसद् के अनुरूप ही, उचित रूप से गठित विधानमंडल होता है। और 'संसद् की असीमित सत्ता' से तात्पर्य यही है कि राज्य में ऐसी और कोई शक्ति नहीं है, जो संसद् के अधिकार-क्षेत्र को सीमित कर सके अथवा उसके निर्णयों का अतिक्रमण कर सके। सभी संसदों को यह असीमित सत्ता प्राप्त नहीं होती। यह एक ऐसा तथ्य है जिस पर हम संघीय राज्यों के सम्बन्ध में जोर दे चुके हैं। परन्तु प्रातिनिधिक विधानसभाओं पर इस भांति का निर्बन्धन केवल संघीय राज्यों में ही नहीं दिखाई देता। बहुत-से एकात्मक राज्यों में भी संविधान को विशिष्ट गरिमा वाला दस्तावेज समझा जाता है जिसमें किसी विशेष साधन के द्वारा ही, जो कि साधारण विधान-निर्माण प्रक्रिया से बहुत अधिक जटिल होता है, परिवर्तन हो सकता है; अथवा उसे उच्चतर दायित्व वाली विधि माना जाता है जिसमें परिवर्तन करने के लिए विधानमंडल के कार्य पर वैध निर्बन्धन आरोपित रहते हैं।

अनमनीय संविधानों वाले राज्यों में सांविधानिक संशोधन की मुख्य रूप से चार पद्धतियां प्रचलित हैं। प्रथम, विशिष्ट निर्बन्धनों के अधीन विधानमंडल के द्वारा; दूसरे, लोकमत-निर्देशन के माध्यम से जनता के द्वारा, तीसरे, संघीय राज्यों की विशिष्ट पद्धति के द्वारा जिसके अनुसार कि संघनिर्मात्री इकाइयों में से समस्त या उनका कोई अनुपात परिवर्तन से सहमत होना चाहिए; और चौथे, इस प्रयोजन के लिए आमंत्रित किसी

विशेष सम्मेलन के द्वारा । हम इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक उल्लेख अगले अध्याय में करेंगे। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि नमनीय संविधान वाले राज्य में इस भांति के कोई भी निर्बन्धन नहीं होते। अपनी आकर्षक पुस्तक **'दी गवर्नमेंट ऑफ इंग्लैंड'** की भूमिका में महान् अमरीकी लेखक ए० लॉरेंस लॉवेल ने कहा है कि नमनीय और अ-नमनीय संविधान में बहुत अल्प अन्तर हो सकता है, और यह भेद समय के प्रवाह के साथ धुधला होता जाता है। उसका कथन है कि उन देशों से जो अपने आधारभूत संविधानों को साधारण विधायिनी प्रक्रिया से बदल सकते हैं, हम धीरे-धीरे अनजाने ही उन देशों तक जा पहुंचते हैं जहां सांविधानिक और विधिनिर्मात्री शक्तियां वास्तविक रूप म विभिन्न हाथों में हैं।

इससे लेखक यह तर्क प्रस्तुत करता है कि संविधानों का नमनीय और अनमनीय संविधानों में वर्गीकरण किंचित् भी वास्तविक नहीं है। फिर भी वर्गीकरण तो यह है ही। यदि हम एक ओर यूनाइटेड किंगडम के पूर्णतया नमनीय संविधान और दूसरी ओर संयुक्त-राज्य के अत्यन्त अनमनीय संविधान को लेकर आधुनिक जगत् में संविधानों के परिवर्तन की बढ़ती हुई कठिनाइयों के विषय में चिंतन करें तो क्या यह कह सकना ठीक होगा कि हम विभाजनकारी रेखा को नही पा सकते ? निश्चय ही यह रेखा वहां स्थित है जहां विधान-मंडल को, सांविधानिक विधि के सम्बन्ध में कार्य करते समय, रुकावटों का सामना करना पड़ता है। इस रेखा के एक ओर ऐसे राज्य हैं जिनकी संसदें, यद्यपि वे दस्तावेजी संविधान के आधार पर स्थापित होती हैं, इस विषय में अनिर्बन्धित है। दूसरी ओर वे राज्य हैं जिनकी संसदें असीमित नही हैं। दूसरे प्रकार के राज्यों की सूची बेलजियम और रूमानिया जैसे[1] राज्यों से प्रारंभ होती है जहां सांविधानिक प्रस्थापनाओं पर विचार करते समय सदस्यों की एक विशेष गणपूर्त्ति की उपस्थिति आवश्यक होती है और उनके विधि-रूप में पारित किए जाने के लिए एक विशेष बहुमत की अपेक्षा की जाती है। यह अवस्था आगे बढ़कर उस स्थिति तक पहुंच जाती है जब कि साधारण विधानमंडल को स्वतः ही सांविधानिक अधिनियम पारित करने का अधिकार नहीं होता। इसका उदाहरण संयुक्तराज्य अमरीका है।

अतः, नमनीय संविधान का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट है। नमनीयता और अनमनीयता वर्गीकरण का पूर्णतया वैध आधार है, यद्यपि वास्तव में संख्या अनमनीय संविधानों की ही अधिक है। वास्तव में आधुनिक राज्यों में केवल दो राज्य ही ऐसे है, जहां सांविधानिक

---

[1] बेलजियम का संविधान, जो द्वितीय महायुद्ध में जर्मन-अधिकार के काल में निष्क्रिय हो गया था, जर्मनों को वहां से निकाल दिए जाने के बाद पुनः प्रचलन में आ गया। रूमानिया के संविधान का रूप महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व ही नाजी-प्रभाव के कारण अत्यधिक विकृत हो गया था और युद्ध के समाप्त होने के बाद से वह रूसी अधीनता में है।

प्रयोजनों के लिए कोई भी विशेष प्रक्रिया निर्धारित नहीं है । य ग्रट-ब्रिटेन और न्यूजीलैंड के राज्य हैं । अतः, उन दोनों में नमनीय संविधान हैं । उनकी संसदें अपनी इच्छानुसार जो भी चाहें, किसी वैधानिक अड़चन के बिना, कर सकती हैं । यूनाइटेड किंगडम के समान जिन देशों में कोई भी दस्तावेजी संविधान नहीं होता वहां संसद् अपनी पृथक् विधियों में से किसी को या सबको ही निरस्त कर सकती है, किसी भी प्रथागत रूढ़ि मात्र को समाप्त करने के लिए विधि-निर्माण कर सकती है और यदि वह चाहे तो शासन का बिलकुल ही नया तथा पूर्ण उपकरण स्थापित कर सकती है । यह ठीक ह कि ऐसी अनेक गम्भीर बातें हैं जिनके कारण वह ऐसे विषयों में बहुत आगे नहीं बढ़ना चाहती, परन्तु ऐसे कार्य के लिए कोई प्राविधिक निषेध नहीं है । परन्तु जहां दस्तावेजी संविधान प्रचलित है, जैसा कि अब विचाराधीन अन्य राज्यों में हैं, वहां या तो संविधान में संशोधन की विधि स्पष्ट रूप से साधारण विधानमंडल को जैसा वह चाहे वैसा करने को स्वतन्त्र छोड़ देती है जैसे न्यूजीलैंड में, अथवा संविधान को बदलने के लिए क्या किया जाए इसके विषय में उसमें कोई शर्त ही नहीं होती जैसा पहले इटली में होता था ।[१] अतः, ब्रिटेन की भांति ही न्यूजीलैंड में इस विषय में विधानमंडल ही सर्वोच्च है । अब हम ब्रिटेन और न्यूजीलैंड के नमनीय संविधानों का सूक्ष्म परीक्षण करेंगे और अगले अध्याय में कुछ महत्त्वपूर्ण अनमनीय संविधानों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे ।

४. ग्रेट ब्रिटेन के नमनीय संविधान का विकास

ब्रिटिश संविधान बहुत पुराना है, परन्तु उसकी आयु के सम्बन्ध में कभी-कभी अतिशयोक्ति की जाती है । उदाहरणार्थ, आज ग्रेट ब्रिटेन में उस शासन का प्रायः कोई अंश नहीं रह गया है जो अल्फ्रेड महान् के समय में प्रचलित था और यदि मेग्नाकार्टा ही 'ब्रिटिश स्वाधीनता का कवच' माना जाए तो इस देश में शासन के प्रचलित सिद्धांतों में से बहुत थोड़े ही ऐसे होंगे जिनका उद्गम उससे हुआ है । निस्संदेह, ब्रिटिश संविधान की पुरातनता पर बल देना शायद एक अनुपयुक्त स्थल पर जोर देना है, क्योंकि उस संविधान की विशिष्ट शक्ति उसकी पुरातनता में उतनी नहीं है जितनी कि उसकी नमनीयता में है जिसके बिना प्राचीन संविधान नाम में भी बहुत पहले उसी तरह लुप्त हो जाता जैसे वह बहुत-कुछ अंशों में तथ्य-रूप में लुप्त हो गया है । इंगलैंड के राजा के प्रारम्भिक विशेषाधिकार शताब्दियों के दौरान में व्यावहारिक रूप में लुप्त हो गए हैं और वे आज केवल शब्दों के रूप में ही विद्यमान रह गए हैं । इस भांति यूनाइटड किंगडम नाममात्र में एक नृपतंत्र है और इस नामात्मकता (Nominalism) का प्रयोग अत्यन्त नवीनतम

---

[१] अर्थात् इटली के एकीकरण के समय से मुसोलिनी के अधिनायकतंत्र के उपरान्त तक; देखिए पृष्ठ १४१-१४२ ।

संविधियों के शब्दों में भी किया जाता है, जो यदि हम उनका शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें, तो बिलकुल निरर्थक और आज की अवस्थाओं के बिलकुल ही असंगत होगा। ब्रिटिश संविधान की कोई और ऐसी विशिष्टता नही है जैसी कि यह शब्द और भाव की असंगति है, क्योंकि इस विशिष्टता के कारण ही किसी महान् संकट के बिना परिवर्तन और हिंसा के बिना विकास सम्भव हो सका है और इससे ही यहा का संविधान समाज के स्थायित्व को अभिव्यक्त करनेवाली रूढ़िवादी भावना को कुंठित किए बिना अपने को आज के समाज की गत्यात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल सका है।

ब्रिटिश संविधान के विकास की कहानी परिवर्तित होनेवाली आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक अविरल अनुकूलनों की गाथा है। यह दो प्रकार से, रूढि तथा विधि के द्वारा, हुआ है। इन दोनों तत्त्वों में सावधानी के साथ भेद करना चाहिए, हालांकि इन दोनों को बहुधा 'सांविधानिक विधि' शीर्षक के अन्तर्गत साथ-साथ रखा जाता है। इनमें प्रथम तत्त्व पारिभाषिक दृष्टि से विधि नहीं है, क्योंकि यह उन नियमों और आचारों से बना है, जो हमारे सांविधानिक जीवन में मजबूती के साथ जम तो गए है, परन्तु जिन्हें न्यायालय सामने आने पर मान्य नहीं करेंगे। दूसरा तत्त्व वास्तविक विधि है, जो कि लिखित अथवा अ-लिखित रूप में न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित किया जाएगा। विधि का यह निकाय तीन तत्त्वों का बना हुआ है, यथा (१) लिखित अथवा सामान्य-विधि (Common Law); (२) संविधि (Statutes); (३) संधियां (Treaties)। हमने इस विकास के विषय पर अध्याय २ में कुछ प्रकाश डाला है। हम यहां पर महान् सांविधानिक इतिहासकार मेटलैंड के द्वारा सुझाए हुए पांच युगों में नमनीय संविधान के विकास का संक्षिप्त रूप में वर्णन करेंगे। ये युग निम्नलिखित है: (१) प्राचीनतम काल से प्रथम एडवर्ड की मृत्यु (सन् १३०७) तक; (२) एलिजाबेथ की मृत्यु तक (सन् १३०७-१६०३); (३) तृतीय विलियम की मृत्यु तक (सन् १६०३–१७०२); (४) ग्लेड्स्टन के सुधार अधिनियमों के पास होने तक (सन् १८८४–८५); और (५) आज तक।

(१) नार्मनों की विजय (सन् १०६६) के पश्चात् प्रथम विलियम और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन सामंतवाद के (जो कि उक्त घटना मे पूर्व ही विद्यमान था) व्यवस्थित होने के कारण शासन की आंग्ल-सेक्सनीय पद्धतियों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। नार्मन-फ्रेंच लोगों के तत्कालीन प्राधान्य के अनुकूल बहुत-सी पुरानी संस्थाएं कायम रहीं, हालांकि उनके नाम बदल गए। इस युग की सबसे अधिक विशिष्टता राजाओं के हाथ में शासन का केन्द्रीयकरण थी, जिससे विघटन की ओर कार्य करनेवाली सामंतवादी प्रवृत्ति आनुपातिक रूप में निर्बल हो गई। सन् १०६६ से इस सम्पूर्ण युग के दौरान में राजा और सामंतों के बीच में एक संघर्ष चलता रहा। एक निर्बल राजा के द्वारा धारित मुकुट के विरुद्ध पहले इन सामंतों के विरोध ने, जैसा कि स्टीफेन्सन के शासनकाल में हुआ, बिलकुल अव्यवस्था उत्पन्न कर दी, परन्तु बाद में उस विरोध ने अधिक नियमित रूप धारण

किया जैसा कि जॉन के समय के मेग्नाकार्टा कहे जानेवाले लेखपत्र से प्रकट होता है। सन् १२९५ में प्रथम एडवर्ड द्वारा संसद् की स्थापना, जो कि तीस वर्ष पहले सायमन डी मॉण्टफोर्ड के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के अनुसरण में हुई, राजा और सामंतों के पारस्परिक संघर्ष की एक आगे की मंजिल थी, क्योंकि इस घटना ने राजा के सलाहकारों में सामान्य जनों का सम्मिलित किया जाना प्रारम्भ कर दिया। इसका असर यह हुआ कि संसद् में अब तक जो धार्मिक एवं लौकिक सामंतों का सर्वव्यापी प्रभाव था उसको संतुलित करने के लिए एक दूसरा प्रभाव आ गया, हालांकि लोक-सदन की स्थापना का मूल उद्देश्य यह नही बल्कि अतिरिक्त धनराशि का अनुदान प्राप्त करना ही था।

(२) अगले काल (सन् १३०७-१६०३) के प्रथम भाग में ससदीय प्रयोग भंग हो गया। लंकास्टरवंशीय नृपतंत्र को (सन्१३९९-१४६१), जिसका कोई रक्तसम्बन्धी अधिकार नहीं था, अपने चिरस्थायित्व के लिए इस संस्था पर ही अवलम्बित रहना पड़ा। यह संस्था पष्ठ हेनरी के शासनकाल में अनेक भांति की कठिनाइयों के बीच में बुरी तरह से कुख्यात हो गई। इस शासनकाल मे सामंतवाद पुनः बगावत कर उठा और उसने गुलाबों के युद्ध में अराजकता का अपना अंतिम खेल खुलकर खेला। ट्यूडरों (सन् १४८५-१६०३) के अधीन फिर व्यवस्था कायम हुई। यद्यपि उनका नृपतंत्र निरंकुशतावादी था, परन्तु वह सांविधानिक आवरण में छिपा हुआ था। ट्यूडर काल की मूल सांविधानिक विशिष्टता थी—न्यूनाधिक रूप में संसद् का अविरल अस्तित्व। यह जानना आवश्यक नहीं है कि इस समय में संसद् ने क्या किया, केवल इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कायम रही। इससे ही इंगलैंड में संसदीय शासन के रिवाज का वास्तविक प्रारम्भ हुआ। संसद् के प्रयोग के द्वारा ट्यूडरों ने स्टुअर्ट काल के दौरान में राजा और संसद् के बीच होनेवाले संघर्ष का अनजाने ही शिलारोपण कर दिया। ट्यूडर काल के अंत तक निरंकुशतावादी नृपतंत्र की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी और उस युग में संसद् का न्यूनाधिक अविच्छिन्न अस्तित्व आगामी युग के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(३) स्टुअर्ट काल में राजा और संसद् का विवाद युद्ध के द्वारा निर्णीत हुआ। प्रथम जेम्स के शासनकाल के संघर्षों और उसके पुत्र के अधीन गृहयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश राज्य ने कुछ समय तक (कॉमनवेल्थ सन् १६४९–१६६०) ऐसी बात देखी जैसी कि इससे पूर्व उसने कभी नही देखी थी और जो उसे फिर कभी नहीं देखनी थी। यह बात थी दस्तावेजी संविधानों का एक सिलसिला। पुनःस्थापन (Restoration) से पुराने संसदीय रूपों का पुनरागमन हुआ, परन्तु अब संसद् उन अधिकारों के लिए दावे कर रही थी जो उसे सन् १६८८–८९ की क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त होने थे। इस क्रांति का फल द्वितीय जेम्स के राज्यच्युत होने के बाद अधिकारों का विधेयक (Bill of Rights) था, जिसने वास्तव में राजा के ऊपर संसद् की सर्वोच्चता कायम की, हालांकि औपचारिक रूप में राज्य की प्रभुता संसद् सहित राजा के हाथों में ही बनी रही। अधिकारों का विधेयक

उन संविधियों की लम्बी शृंखलाओं में से प्रथम था जिनसे आज संविधान की लिखित विधि निर्मित हुई है। उस समय से किसी भी राजा के लिए उस भांति कार्य करना जैसा कि स्टुअर्टो ने किया, केवल रिवाजी तौर से ही अ-सांविधानिक नही, वरंच संविधीय रूप से भी अवैध है। अधिकारों के विधेयक के पश्चात् निर्णय अधिनियम (Act of Settlement) आया, जिसने राजा पर संसद् की विजय को दृढ़ता प्रदान की।

(४) अगले युग (सन् १७०२-१८८५) में सांविधानिक रिवाजो का अत्यंत असाधारण विकास हुआ। ये रिवाज इस काल में लिखित रूप में तो नहीं मिलते, परंतु वे वर्त्तमान शासन-व्यवस्था के आधार-स्तंभ बने हुए हैं। यहीं से मंत्रिमंडल-प्रणाली (जिसके विषय मे हम आगे आनेवाले अध्याय में विचार करेंगे) और आधुनिक संसदीय प्रक्रिया की पूर्णरूपेण स्थापना हुई। इसमें से कुछ संविधान सम्बन्धी रिवाजों, कुछ अलिखित विधियों, और कुछ संविधीय विधियों से सम्बद्ध है। संविधान की विधि को संशोधित करनेवाली संविधियों में से, जो कि इस काल में पारित हुई, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सन् १७१६ का सप्तवर्षीय अधिनियम, और उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार अधिनियम (सन् १८३२, १८६७, १८७२, १८८४, १८८५) थे, जिनका मताधिकार, मतपत्र, और स्थानों के वितरण पर प्रभाव पड़ा। अन्त में, इस काल में उन संविधियों के भी कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें हमने स्कॉटलैंड, आयरलैंड और अन्य उपनिवेशों (जिनके विषय में हम एकात्मक राज्य के अध्याय में प्रकाश डाल चुके है) के साथ की हुई संधियां कहा है।

(५) अंतिम युग हमारे समय का ही है। इस काल का महान् सांविधानिक अधिनियम सन् १९११ का संसद् अधिनियम (Parliament Act) है, जिसका सृजन लॉयड जॉर्ज के सन् १९०९ के बजट के लॉर्ड-सभा द्वारा अस्वीकृत किए जाने पर संसद् के दोनो सदनों के बीच हुए विवाद के कारण हुआ। ब्रिटेन के संविधान की नमनीयता और ब्रिटिश संसद् की असीमित सत्ता को इस विवाद की गाथा और उसके उपरांत निर्मित संविधि से अधिक अच्छी प्रकार और कोई बात प्रकट नहीं करती। संसद् के एक अधिनियम मात्र से ही दोनों सदनों के बीच के सम्बन्धों में पर्याप्त परिवर्तन हो गया। लॉर्ड-सभा अपने अधिकारों के गंभीर परिसीमन से सहमत हो गई, और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विधि-निर्माण की परम्परागत प्रक्रिया का अनुकरण किया गया। इससे भी अधिक, इस घटना से "परम्पराओं का अन्ततः संविधान की विधि पर अवलम्बन" स्पष्ट होता है। सन् १९०९ के पूर्व यह रिवाज सदा ही संविधान की एक परम्परा के रूप में माना जाता रहा कि लॉर्ड धन विधेयक में संशोधन नहीं करेंगे और न उसे अस्वीकृत ही करेंगे। जब उन्होंने ऐसा किया तो इस भय के विरुद्ध परम्परा को शक्तिशाली बनाने के लिए संविधि की आवश्यकता हुई। इसी काल का सन् १९४९ का संसद् अधिनियम भी है जिसने मूल अधिनियम द्वारा स्थापित प्रक्रिया की सहायता से सन् १९११ के अधिनियम में संशोधन किया। इस काल की अन्य बड़ी संविधियां सन १९१८ का जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the

People Act), जिसने स्त्रियों को बहुत बड़ी संख्या में मतदान का अधिकार दिया, और सन् १९२८ का अधिनियम है, जिसने स्त्रियों को उन्हीं शर्तो पर मतदान का अधिकार दिया जो कि पुरुषों को प्राप्त हैं। इनके विषय में हम बाद में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

५. व्यवहार-रूप में ब्रिटिश संविधान

युगों के इस लम्बे विकास से उस संविधान का जन्म हुआ है जिसके अधीन आज ब्रिटेन शासित हो रहा है। अब भी राजा नाम के लिए सर्वोच्च है। वह नाममात्र के लिए विधिप्रदाता, न्यायाधीश, तथा सशस्त्र सेना का महाबलाधिकृत है। परन्तु वास्तव में उसकी शक्ति पर इतनी अधिक मर्यादाएं आरोपित हैं कि एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उसका बिलकुल भी अस्तित्व नहीं रहा है। इस मूल नृपतंत्र को परम्पराओं, अलिखित विधियों और संविधियों ने इतना प्रभावित किया है कि उसके फलस्वरूप वह ऐसी अवस्था में परिवर्तित हो गया है जो शायद व्यावहारिक रूप में विश्व में सबसे वास्तविक राजनीतिक लोकतंत्र है। संविधान की परम्पराओं की पूर्ण सूची बनाना असम्भव है क्योंकि अपने स्वरूप से ही वे वृद्धि और ह्रास की प्रक्रियाओं के द्वारा बराबर बदलते रहते हैं; परन्तु संविधान की अलिखित विधियों से उनका भेद यह देखने से मालूम हो सकेगा कि कोई भी न्यायालय उनके उल्लंघन पर विचार करता है अथवा नहीं। परम्पराएं नीति-ाक्य हैं न कि विधियां और, जैसा कि डायसी का कथन है, एक न ् और दस्तावेजी संविधान में उनमें से कुछ सम्भवतया विधि का रूप ग्रहण करेंगी और अन्य लुप्त हो जाएगी।

संविधान की मुख्य परम्पराओं में कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) "राजा को संसद् के दोनों सदनों के द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक पर अपनी अनुमति अवश्य देनी चाहिए।"

इसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है कि यदि राजा अपनी अनुमति नही दे तो क्या होगा। क्योंकि ऐसा होता ही नहीं। अनुमानतः, यदि कोई राजा विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इनकार करता है, तो एक ऐसी संविधि पारित की जाएगी कि उसको अनुमति देनी ही चाहिए। जब तक इस परम्परा का उल्लंघन नहीं किया जाता तब तक वह वैसी ही प्रभावकारी है जैसी कि संविधि-संहिता की कोई विधि।

(२) "लोक-सदन का विश्वास खो देने पर मंत्रियों को तुरन्त त्यागपत्र दे देना चाहिए।"

यह आवश्यक नही है कि विश्वास किसी एक सुदृढ़ दल के बहुमत का हो। यह बात सन् १९२४ और १९२९ के रेमजे मेक्डॉनेल्ड के श्रमिक शासनकाल में स्पष्ट रूप से चरितार्थ हो चुकी है। बहुमत का विश्वास खो देने पर भी मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देने को विवश करने के लिए कोई विधि नहीं है। परन्तु यदि पराजित मंत्रिमंडल त्यागपत्र नहीं देता है तो धन की मांग स्वीकार नहीं की जाएगी। इससे शासन ठप्प हो जाएगा और अंत में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी।

(३) "पारित किए जाने और राजा की अनुमति प्राप्त करने से पूर्व विधेयक प्रत्येक सदन में तीन बार अवश्य पढ़ा जाना चाहिए।"

यह परम्परा संसद् अधिनियम के द्वारा प्रभावित हुई है, जैसा नीचे स्पष्ट किया गया है।

संविधान की अलिखित विधियां निम्नलिखित है :—

(१) "राजा कोई त्रुटि नही कर सकता।"

इसका तात्पर्य यह है कि राजा अपने नाम से किए गए किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। अन्ततः, इस कथन को उसके बिलकुल शाब्दिक अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि यदि राजा कोई अपराध करता है (डायसी प्रधान मंत्री को गोली से मार देने का उदाहरण प्रस्तुत करता है) तो विधि मे ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा उस पर मुकदमा चलाया जा सके। इस कथन का यह भी तात्पर्य है कि कोई भी किसी दोषपूर्ण कार्य के समर्थन में राजा के आदेश का आश्रय नहीं ले सकता। यह विधि है, परन्तु लिखित नही है।

(२) "मुकुट के द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य के लिए कोई-न-कोई व्यक्ति विधि की दृष्टि से उत्तरदायी है।"

मंत्रियों का उत्तरदायित्व इन तथ्यों से प्रकट होता है कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, न्यायालय किसी भी कार्य को मुकुट के द्वारा किए गए कार्य के रूप में मान्य नहीं करेगा, और किसी भी कार्य को मुद्रांकित करनेवाला मंत्री ही उसके लिए जवाबदार होता है।

संविधीय विधि पर अवलम्बित नियमों में निम्नलिखित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) "मुकुट मे ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह विधि के पालन के कर्त्तव्य की उपेक्षा कर सके।"

यह अधिकारों के विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) में निश्चित रूप से उल्लिखित किया गया है। व्यवहार में इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी सरकार जो संविधि-संहिता में लिखित विधि की मान्यता को मानने से इनकार करती है, अवैध रूप से कार्य करती है।

(२) लोक-सदन द्वारा दो क्रमिक सत्रों में पारित और हर बार लॉर्ड-सदन द्वारा अस्वीकृत विधेयक (बशर्ते कि इस क्रिया में एक वर्ष पूरा हो गया हो और बावजूद इसके कि उस कालावधि में साधारण निर्वाचन हो चुका हो) राजा के पास हस्ताक्षर के लिए सीधा भेज दिया जाता है। लोक-सदन द्वारा एक बार पारित और लॉर्ड-सदन द्वारा अस्वीकृत धन-विधेयक एक महीने के व्यतीत होने के पश्चात् विधि बन जाता है (लोक-सदन का अध्यक्ष यह निश्चित करता है कि कौन-सा विधेयक धन विधेयक है)। सन् १९४९ के संसद् अधि-नियम में प्रलम्बन निषेधाधिकार के काल को निर्धारित किया गया है। इस अधिनियम ने, जैसा कि हम पहले ही देख चके हैं, सन् १९११ के संसद् अधिनियम में संशोधन किया

है, जिसमें तीन क्रमिक सत्रों तथा दो वर्षों के अल्पतम काल की आवश्यकता रखी गई थी। सन् १९११ के अधिनियम द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार वेल्स चर्च को सन् १९२० में अवस्थापित किया गया और सन् १९४९ के संसद् अधिनियम के अधीन लोहा तथा इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण सन् १९५१ में कर लिया गया।

(३) संसद् को पांच वर्ष तक कार्य कर चुकने के पश्चात् अनिवार्य रूप से भंग किया जाना चाहिए।

यह सन् १९११ के संसद् अधिनियम का एक खंड था।

इन बातों से हम यह देखते हैं कि ब्रिटिश संविधान कितना नमनीय है। इन रूढ़ियों, इन अलिखित विधियों और इन संविधियों में से कोई भी ऐसी नहीं है जो कि संसद् के अधिनियम के द्वारा उन्मूलित या निरसित न की जा सकती हो। यद्यपि रूढ़िगत विकास शाश्वत रूप से होता आ रहा है तो भी यह सत्य है कि संसद् सर्वोच्च है और कोई भी न्यायाधीश अथवा विधि-संहिता किसी भी वस्तु को उसकी संविधियों से उच्चतर करार नहीं दे सकती। ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्चता का इससे बड़ा कोई भी दृष्टांत नहीं हो सकता कि जब इससे पहली बार सन् १९११ के अधिनियम के अधीन—अर्थात् सन् १९१५ में (अंतिम संसद् सन् १९१० में निर्वाचित हुई थी)—अपने-आपको भंग करने को कहा गया तो इसने अपना कार्यकाल बढ़ाने के लिए एक अधिनियम पारित कर दिया। यही बात सन् १९४० में भी हुई। ये वृद्धियां, निस्संदेह, युद्धों के कारण हुई। परन्तु उन्हें करने के लिए संसद् को किन्हीं विशेष शक्तियों की आवश्यकता नही हुई, और न उसने अपने से परे किसी न्यायाधिकरण से याचना ही की। इसी भांति की एक वृद्धि सन् १७१५ में हुए जेकोबाइट विद्रोहसम्बन्धी संकट के समय में हुई थी। ऐसा सन् १७१६ में हुआ था जब कि तत्कालीन विद्यमान संसद् के, जो कि सन् १६९४ के त्रि-वर्षीय अधिनियम के उपबन्धों के अधीन निर्वाचित की गई थी, कार्यकाल को बढ़ाने के लिए सप्त-वर्षीय अधिनियम पारित किया गया था।

फिर भी, ब्रिटिश संविधान नमनीय होते हुए भी, एक ऐसे आदर्श के रूप में ग्रहण किया जाता है जिस पर अनेक अनमनीय संविधानों की स्थापना हुई है। ब्रिटेन में राजनीतिक संस्थाएं प्रयोगात्मक आधार पर अस्तित्व में आईं और उनका विशिष्ट स्थायित्व इसी कारण है कि उनका विकास सूक्ष्म सिद्धान्तों की अपेक्षा अनुभव के आधार पर हुआ है। उन राज्यों की संस्थाओं के अध्ययन से ही, जिन्होंने अपनी संस्थाओं को ब्रिटेन के संविधान के आदर्श पर आधारित किया है, इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि क्या उस प्रकार की सरकार को जिसका कि वर्षों के अनुभव से विकास हुआ है ऐसे समुदाय की नई आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सकता है जिसकी अप्रत्याशितरूपेण उदित स्वतंत्रता अकस्मात् ही एक पूर्णरूपेण विकसित राजनीतिक संविधान की अपेक्षा करती है।

६. न्यूजीलैंड का नमनीय संविधान

ब्रिटिश मुकुट के अधीन स्व-शासी डॉमिनियनों में, जिनमें पाकिस्तान और लंका स्व-शासी डॉमिनियनों के रूप में सन् १९४७[1] में शामिल हुए, केवल न्यूजीलैण्ड ही एक ऐसी डॉमिनियन है, जिसका संविधान नमनीय है। शेष मुख्य स्व-शासी डॉमिनियनों—कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया—में विभिन्न मात्राओं में अ-नमनीय संविधान हैं, और इनके विषय में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे। वास्तव में एक अर्थ में कुछ वर्ष पहले तक ब्रिटिश स्व-शासी डॉमिनियनों के संविधान, बिना किसी अपवाद के, अनमनीय थे। चूंकि इनमें से प्रत्येक को संविधान मूल रूप में वेस्टमिंस्टर म स्थित साम्राज्यिक संसद् के द्वारा अर्थात् यूनाइटेड किंगडम की संसद् के द्वारा प्रदान किया गया था; अतः, उस संविधान में ब्रिटिश संसद् की अनुमति के बिना कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परन्तु सन् १९३१[2] के कुछ समय पूर्व से यह निषेधाधिकार व्यवहार में प्रभावशील नहीं था, और न्यूजीलैंड के लिए तो सन् १९४७ में इसे उस वर्ष के संविधान (संशोधन) अधिनियम के द्वारा विशिष्ट रूप से हटा दिया गया था।

यह हम देख ही चुके है कि न्यूजीलैंड का विद्यमान संविधान किस प्रकार अस्तित्व में आया और किस प्रकार संघीय आधार पर प्रारम्भ होकर सन् १८७६ में प्रांतीय सरकारों को समाप्त करके वह निश्चित रूप से एकात्मक राज्य बन गया। न्यूजीलैंड का संविधान दस्तावेज के रूप में सन् १८५२ के अधिनियम में, जिसका शीर्षक 'न्यूजीलैंड उपनिवेश को प्रातिनिधिक संविधान प्रदान करने के लिए अधिनियम' है, मिलता है। इस अधिनियम के अनुच्छेद ६८ में यह कहा गया है :—

"उक्त सामान्य सभा (अर्थात् इस अधिनियम के द्वारा स्थापित न्यूजीलैंड के विधानमंडल) के लिए यह विधिसंगत होगा कि वह किसी भी अधिनियम या अधिनियमों द्वारा समय-समय पर इस अधिनियम के किन्हीं भी उपबन्धों को बदल दे।"

इसमें "हर मेजस्टी (सम्राज्ञी) के प्रसाद" के सम्बन्ध में भी एक परन्तुक (Proviso) जोड़ा गया है, जो आज प्रभावशील नही है, जैसा कि हम देख ही चुके हैं।

मूल अधिनियम में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है, परन्तु यह विधि-निर्माण की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा ही हुआ है, यहां तक कि सन् १८७६ का अधिनियम, जिसने प्रांतीय सरकारों को समाप्त किया और न्यूजीलैंड को एकात्मक राज्य बनाया, इस दिशा में संविधान में संशोधन करने के लिए न्यूजीलैंड की संसद् के द्वारा पारित एक साधारण संविधि ही था। इसी भांति वह अधिनियम भी एक साधारण संविधि ही था जिसने सन् १९५१ में द्वितीय सदन को समाप्त किया। तभी से मूल अधिनियम को एक विवेकपूर्ण और उदार

---

[1] तब से भारत एक गणराज्य बन चुका है। अध्याय १४ देखिए।

[2] वेस्टमिंस्टर की संविधि का वर्ष।

विधान समझा जाता रहा है जिसन राष्ट्रीयता की बलवती मांग के उत्तर में केवल स्वतंत्रता ही प्रदान नहीं की, बल्कि अपनी भाषा के द्वारा संविधान के संशोधन के लिए प्रगतिशील समाज की आवश्यकताओं के उपयुक्त पद्धति की अनुमति भी दी।

इस भांति न्यूजीलैंड का संविधान नमनीय संविधानों में एक अनुपम संविधान है। जब कि यूनाइटेड किंगडम का संविधान, जैसा कि हम देख चुके हैं, गैर-दस्तावेजी है, जिसका किसी विशेष प्रक्रिया के बिना ही संशोधन किया जा सकता है। न्यूजीलैंड का संविधान एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें संशोधन के साधनों के विषय में उल्लेख है किन्तु जो इस सम्बन्ध में सामान्य विधानमंडल को स्पष्टतः सर्वोच्च रहने देता है। यही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें ऐसी सर्वोच्चता को इस प्रकार शब्दों में प्रकट किया गया है। इसके अतिरिक्त स्व-शासी डॉमिनियनों में, सांविधानिक दृष्टिकोण से, न्यूजीलैंड बिलकुल अकेला ही है। दक्षिणी अफ्रीका और आयर के सदृश, परन्तु कनाडा और आस्ट्रेलिया से भिन्न रूप में, न्यूजीलैंड एकात्मक राज्य है। इन पांचों में से कनाडा के अतिरिक्त सबके संविधानों में संशोधन की पद्धति को विस्तार के साथ दिया गया है। कनाडा के संविधान में, सिवाय इसके कि उसमें लंदन-स्थित प्रिवी कौन्सिल के समक्ष अपील का निर्देश है, ऐसा नहीं है। फिर भी कनाडा का संविधान उसके संघीय ढांचे के कारण अनमनीय है। उन राज्यों में से जो कि संशोधन की पद्धति को उल्लिखित करते हैं, केवल न्यूजीलैंड ही सामान्य विधानमंडल को बिना किसी निर्बन्धन के संविधान में परिवर्तन करने की अनुज्ञा देता है। अन्य तीन राज्य इस विषय में निश्चित शर्तें आरोपित करते हैं, और इसीलिए हम उनके विषय में कनाडा के संविधान के साथ अनमनीय संविधानों वाले अगले अध्याय में विचार करेंगे।

प्रश्न

१. दस्तावेजी संविधान से क्या आशय है? ऐसे संविधान का निर्माण करने का क्या प्रयोजन होता है? किस-किस ढंग से उसका निर्माण हो सकता है?
२. डी० टोकविल के इस कथन की कि "ब्रिटिश संविधान का कोई अस्तित्व नहीं है" समीक्षा कीजिए।
३. समाज में विधि का विकास किस प्रकार होता है? उसकी शक्ति की रिवाजों की शक्ति से तुलना कीजिए।
४. 'सांविधानिक विधि' की परिभाषा कीजिए। वह दूसरे प्रकार की विधियों से किस प्रकार भिन्न होती है?
५. नमनीय संविधान के मुख्य लक्षण समझाइए और बताइए कि वे आधुनिक संसार में इस प्रकार के किसी एक संविधान में किस प्रकार प्रकट हैं?
६. ब्रिटिश संविधान के विकास पर प्रकाश डालिए और उसके इतिहास के आधार पर समझाइए कि उसे नमनीय कहना कहां तक उचित है?

७. "सन् १९११ के संसद् अधिनियम के फलस्वरूप ब्रिटिश संविधान अंशतः लिखित संविधान बन गया है।" इसकी समीक्षा कीजिए।

८. यूनाइटेड किंगडम के वर्तमान संविधान की विधियों तथा उसकी प्रथाओं में भेद समझाइए।

९. ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए:—"उनका विशिष्ट स्थायित्व इस कारण है कि उनका विकास सूक्ष्म सिद्धान्तों की अपेक्षा अनुभव के आधार पर हुआ है।"

अध्याय ७

अनमनीय संविधान

१. सांविधानिक विधि-निर्माण के लिए विशेष यंत्र

जहां एक ओर नमनीय संविधान का विशिष्ट लक्षण उस राज्य की, जिसे कि वह लागू होता है, संसद् की असीमित सत्ता है, वहां दूसरी ओर अनमनीय संविधान का विशिष्ट लक्षण विधानमंडल की शक्ति पर उसके क्षेत्र से बाहर की शक्ति के द्वारा आरोपित मर्यादा है। जब कुछ ऐसी विधियां भी होती हैं, जिन्हें विधानमंडल सामान्य पद्धति से अधिनियमित नहीं कर सकता तो यह स्पष्ट है कि वह विधानमंडल प्रभुत्वपूर्ण नहीं है। ऐसी अवस्था में साधारण विधानमंडल की विधि से भी बड़ी एक विधि होती है और यही संविधान की विधि है, जो, जैसा हम कह चुके है, उच्चतर दायित्व की ऐसी विधि है जिसका नमनीय संविधान में कोई स्थान नहीं है। इन दो प्रकारों की विधियों के बीच के भेद को समझने का सबसे सरल तरीका यह समझना है कि अनमनीय संविधान सामान्यतया किस भांति अस्तित्व में आए हैं। अधिकांश अवस्थाओं में वे **संविधान-निर्मात्री सभा** कही जानेवाली एक विशेष सभा के निश्चयों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इस सभा का कार्य साधारण विधि का निर्माण करना न होकर शासन की एक ऐसी व्यवस्था करना होता है जिसकी सीमा के भीतर साधारण विधि-निर्माण का कार्य हो।

संविधान-निर्मात्री सभा, यह जानते हुए कि उसका विसर्जन हो जाएगा और वह विधि-निर्माण का वास्तविक कार्य अन्य किसी सभा के लिए छोड़ देगी, उस विधान में, जिसका वह प्रख्यापन करती है, भावी कार्य के सम्बन्ध में यथासंभव अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शक उपायों का समावेश करने की चेष्टा करती है। यदि वह संविधान को अपने ही अधिनियम द्वारा परिवर्तित करने की शक्ति को साधारण विधानमंडल के क्षेत्राधिकार से अलग रखना चाहती है, और ऐसा वह वास्तव में चाहती भी है, और क्योंकि वह समस्त भावी आकस्मिकताओं का पूर्वानुमान नहीं कर सकती, इसलिए उसे संशोधन की किसी विशेष पद्धति की व्यवस्था करनी होती है। संक्षेप में, वह भविष्य में विचार करने के लिए ऐसे विषयों के उपस्थित होने की अवस्था में, संविधान-निर्मात्री सभा के पुनर्निर्माण की व्यवस्था करने का प्रयत्न करती है, चाहे वह सभा कुछ निर्बन्धनों के अधीन कार्य करते हुए साधारण विधानमंडल से अधिक कुछ न हो। इसके अतिरिक्त संविधान के ऐसे भी कुछ तत्व हो सकते है, जिनमें संविधान-निर्मात्री सभा किसी भी अन्य सत्ता के, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, कार्य से बिलकुल परिवर्तन नहीं होने देना चाहती हो। इन तत्वों और शेष बातों के बीच अन्तर स्पष्ट करना होगा और हम उन्हें आधारभूत विधि कह सकते हैं। इस भांति,

उदाहरण के रूप में अमरीकी संविधान में, जो कि मौजूदा अनमनीय संविधानों में प्राचीनतम है, उल्लेख है कि संशोधन की किसी भी प्रक्रिया के द्वारा किसी भी राज्य को स्वयं उसकी सम्मति के बिना "सिनेट में समान मताधिकार से वंचित नही किया जा सकता" और दो नवीनतम अनमनीय संविधानों—चतुर्थ फ्रांसीसी गणतंत्र के संविधान (सन् १९४६) और इटली के गणतंत्रीय संविधान (सन् १९४७)—में ऐसी धारा है कि शासन का गणतंत्रीय रूप किसी भी संशोधनकारी प्रस्ताव का विषय नहीं हो सकता।

हम देख चुके है कि 'अनमनीय संविधान' पद का 'दस्तावेजी संविधान' पद से किस प्रकार भेद किया जाना चाहिए। हम फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यदि संविधान दस्तावेजी है, तो इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि वह अनमनीय भी है। अनमनीय संविधान की एकमात्र कसौटी यह है कि क्या उस संविधान-निर्मात्री सभा ने, जिसने संविधान का निर्माण किया, इस विषय में कुछ विशेष निर्देश छोड़ा है कि उसमें परिवर्तन कैसे किया जा सकेगा। यदि संविधान में ऐसे कोई निर्देश नहीं हैं, अथवा निर्देश ऐसे हैं कि वे विधानमंडल को स्पष्ट रूप से इस विषय में स्वतंत्र छोड़ देते हैं, तो संविधान नमनीय है। यदि कोई निर्बन्धन है, भले ही वे कितने ही कम क्यों न हों, तो संविधान अनमनीय है। हम आधुनिक सांविधानिक संशोधन की मुख्य पद्धतियों का संक्षेप में उल्लेख कर ही चुके हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) साधारण विधानमंडल के द्वारा, परन्तु कुछ निर्बन्धनों के साथ;
(२) लोकमत-निर्देशन के माध्यम से जनता के द्वारा;
(३) संघराज्य की समस्त इकाइयों के बहुमत के द्वारा; एवं
(४) विशेष सम्मेलन के द्वारा।

इन पर विस्तृत रूप से विचार करने से पूर्व यह प्रकट करना आवश्यक है कि एक तो उन्हें पद्धति के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अनमनीयता के अनुसार क्रमबद्ध किया गया है और दूसरे यह कि कुछ अवस्थाओं में संशोधन की प्रणाली इन पद्धतियों में से दो या तीन से मिलकर निर्मित होती है।

(१) विधि-निर्माण के साधारण क्रम में संशोधन करने के तरीके के अतिरिक्त ऐसे तीन सम्भव तरीके हैं, जिनसे विधानमंडल संविधान में संशोधन कर सकता है। सबसे सरल निर्बन्ध वह है जिसमें प्रस्तावित संशोधन पर विचार के लिए सदस्यों की एक निश्चित संख्या और उसके पारित होने के लिए एक विशेष बहुमत की अपेक्षा होती है। यह शर्त बेलजियम और रूमानिया के संविधानों में निर्धारित की गई है। निर्बन्धन का दूसरा प्रकार वह है जिसमें विधानमंडल को भंग किए जाने और उस विशिष्ट प्रश्न पर साधारण निर्वाचन की आवश्यकता होती है, जिससे नया विधानमंडल उस प्रस्ताव के पक्ष में जनता से आदेश प्राप्त होने के कारण, सार रूप में जहां तक कि उस प्रस्ताव का सम्बन्ध है, एक संविधान-निर्मात्री सभा ही बन जाता है। यह योजना पहले तरीके के साथ सम्बद्ध

जब कि विधानमंडल किसी विशष निर्बन्धन के अधीन संविधान में संशोधन करते हैं, और अधिक स्पष्टतया तब जब कि दोनों सदनों का संयुक्त सत्र होता है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में यह सम्मेलन किसी भी अन्य निकाय से बिलकुल विभिन्न होता है। उदाहरण के लिए अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में राज्य के संविधान के सम्बन्ध में यह पद्धति उपयोग में आती है, और ऐसी पद्धति की संघ के संविधान में—इस मामले में अनुज्ञात्मक, न कि अनिवार्य—अनुमति है। यह पद्धति बलगेरिया के और लैटिन-अमरीका के कतिपय राज्यों के संविधानों में भी है।

इस तरह मोटे तौर से सांविधानिक संशोधनों की दो पद्धतियां हैं जो अधिकांश में अनमनीय संविधानों वाले राज्यों मे प्रयुक्त होती है। पहली, विशेष निर्बन्धनों के अधीन विधानमंडल द्वारा संशोधन-पद्धति है, और दूसरी लोकमत-निर्देशन द्वारा। अन्य दो पद्धतियों में से एक संघीय राज्यों की विशिष्ट पद्धति है, परन्तु फिर भी वह सर्वव्यापक नहीं है, और दूसरी पद्धति साधारणतया अनुज्ञात्मक है। भौगोलिक दृष्टि से विधानमंडल द्वारा संशोधन की पद्धति (स्विट्जरलैंड के महत्त्वपूर्ण अपवाद के साथ) यूरोप की विशिष्ट पद्धति है जब कि बृहत्तर वैध नियंत्रणों वाली पद्धति मुख्यतया संयुक्तराज्य अमरीका और ब्रिटिश राज्य के स्व-शासी डॉमिनियनों में से कुछ तक सीमित है। अब हम अनमनीय संविधानों वाले अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों में से कुछ की सांविधानिक संशोधन-पद्धति का अधिक विस्तार के साथ विश्लेषण करेंगे।

२. फ्रांसीसी गणतंत्र का अनमनीय संविधान

चतुर्थ फ्रांसीसी गणतंत्र का संविधान, जिसे सन् १९४६ में हुए लोकमत-निर्देशन में लघु-बहुमत का अनुमोदन प्राप्त हुआ था, एक पूर्ण दस्तावेज है। इस सम्बन्ध में यह नया संविधान अपने बहुत-से पूर्ववर्त्ती संविधानों के समान है; इसका महत्त्वपूर्ण अपवाद तृतीय गणतंत्र का ही संविधान है जो कि एक तरह से खंडात्मक था। फ्रांसीसियों ने १८७५ में तृतीय गणतंत्र की स्थापना से पूर्व के अस्सी वर्षों के दौरान में संविधान-निर्माण में अद्भुत प्रयोग किए थे। संविधान-निर्माण व्यावहारिक राजनीति की एक शाखा है जिसमें संसार ने फ्रांसीसियों को सर्वोत्तम कलाकार के रूप में देखा था जो कि अपने ही अधिकारियों में से एक के शब्दों में संविधान की कल्पना एक ऐसी दार्शनिक कृति के रूप में करने के अभ्यस्त थे जिसमे प्रत्येक बात को एक सिद्धांत से निकाला जाता है; उनके लिए संविधान कला की एक ऐसी कृति थी जिसका क्रम तथा जिसकी समरूपता पूर्ण होनी चाहिए; यह एक ऐसा वैज्ञानिक उपकरण था जिसकी योजना इतनी यथार्थ हो, जिसका इस्पात इतना उत्तम और मजबूत हो कि उसमें साधारण से साधारण अवरोध भी असम्भव हो जाए। इस राजनीतिक कल्पनाशक्ति के प्रयोग में फ्रांसीसियों ने एक शताब्दी से भी कम समय में एक दर्जन से अधिक संविधान बना डाले थे। परन्तु वे परिस्थितियां, जिनमें फ्रांसीसी-जर्मन युद्ध में फ्रांसीसी पराजय के पश्चात् तृतीय गणतंत्र गठित हुआ था,

ऐसी थीं जिनमें फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ पूर्ण दस्तावेज की इस परम्परा से विचलित हो गए और नए शासन की स्थापना जुलाई सन् १८७५ में पारित तीन पृथक् विधियों के आधार पर हुई।

उस समय संविधान-निर्माताओं की वास्तविक आशा यह थी कि नया संविधान अधिक नहीं चलेगा, क्योंकि उनमें से अधिकांश जरा भी गणतंत्रवादी नहीं वरंच नृपतंत्र-वादी थे। यद्यपि गणतंत्र की निश्चित रूप से स्थापना सन् १८७५ तक नही हुई थी, तथापि उसका जन्म वास्तव में तृतीय नेपोलियन और उसकी सेना के सेडान में बन्दी बनाए जान के पश्चात् सितंबर सन् १८७० में ही हो चुका था। पांच महीनों तक जर्मनों का जी तोड़कर मुकाबला करने के पश्चात् पेरिस का पतन हो गया और एक संधि हुई, और फर्वरी सन् १८७१ में यह निश्चित करने के लिए कि क्या युद्ध जारी रखा जाए, सार्वजनिक पुरुष-मताधिकार के द्वारा एक राष्ट्रीय सभा का निर्वाचन हुआ। परन्तु उसने इससे भी अधिक कार्य किया और शाति स्थापना करते हुए फ्रांस पर अगले चार वर्षो तक राज्य किया तथा भंग होने से पूर्व गणतंत्रीय संविधान पास कर दिया। यह सभा संविधान-निर्मात्री सभा बन गई; क्योंकि उसमें विभिन्न भांति के नृपतंत्रवादियों की संख्या गणतंत्रवादियों से कहीं अधिक थी और उन्हें दूसरे निर्वाचन में अपनी शक्ति के छीने जाने का डर था। परन्तु, जैसा कि दियर (Thiers) ने, जो इस सभा का प्रमुख व्यक्ति था और जो गणतंत्र का प्रथम राष्ट्र-पति निश्चय रूप से बननवाला था, कहा था, सिहासन एक था, परन्तु उस एक पद के तीन दावेदार थे। इन तीनों दावेदारों (अर्थात् बूरबों और औरलिएं राजवंशों तथा कुख्यात बोनापार्ट परिवार के वंशजों) के समर्थकों ने एकता के अभाव में अपने-आपको नष्ट होने से बचाने के लिए अपने मतभेदों को भुलाकर एक समझौता कर लिया और 'रूढ़िवादी गणतंत्र' की स्थापना के लिए राजी हो गए। उन्होंने आशा की कि उससे भविष्य पूर्णरूप से सुरक्षित हो जाएगा। अधिक उग्र गणतंत्रवादी इस गणतंत्र से राजी हो गए क्योंकि उन्हें आशा थी कि इसे एक क्रांतिकारी दिशा में ले जाया जा सकेगा। नृपतंत्रवादी गणतंत्र कहलानेवाले इस राष्ट्रपति-शासन से इस वास्ते सहमत हो गए कि उन्हें उपरांत में राष्ट्र-पति को ही राजा या सम्राट् में बदल देने की आशा थी।

सन् १८७५ की इन तीन विधियों का, जो कि उक्त संविधान का आधार थीं, सामान्य प्रभाव दो सदनों—सिनेट और प्रतिनिधि-सभा—के एक विधानमंडल की स्थापना था, और संशोधन इन दोनों सदनों के संयुक्त सत्र के द्वारा, जो इस सम्मिलित अवस्था में 'राष्ट्रीय सभा" (National Assembly) कहलाते थे, हो सकता था। ऐसा संयुक्त सत्र दोनों सदनों में से किसी के भी द्वारा निरपेक्ष बहुमत की मांग पर बुलाया जा सकता था। इस भाति गठित होने पर राष्ट्रीय सभा को अपनी इच्छा के अनुसार संविधान को बदलने की पूरी शक्तियां होती थी, सिवाय इसके कि सन् १८८४ की एक विधि के फलस्वरूप यह स्थिति हो गई कि गणतंत्र का उन्मूलन संशोधन के प्रस्ताव का विषय

नहीं बन सकता था। फिर भी वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय सभा ने अपने अस्तित्व के पैंसठ वर्षों में संविधान में बहुत कम परिवर्तन किए।

वह परिस्थिति जिसमें फ्रांसीसियों ने चतुर्थ गणतंत्र का संगठन किया, उस स्थिति से बहुत भिन्न थी जिसमें तृतीय गणतंत्र का जन्म हुआ था। यह सच है कि दोनों ही गणतंत्रों का सूत्रपात आक्रमण और शत्रु के अधिकार-काल के पश्चात् हुआ था; परन्तु फ्रांसीसी लोग सन् १९४६ में ऐसे युद्ध अथवा दो युद्धों के परिणामों का मुकाबला कर रहे थे जो कि सन् १८७०-७१ के युद्ध के प्रभावों से कहीं अधिक व्यापक और विनाशकारी थे। जो भी हो, सन् १९४६ में, इस बात पर तो किसी को संदेह नही था कि गणतंत्र ही शासन का एकमात्र रूप है जिसे स्वीकार किया जा सकता है। जैसा कि हम आगे[1] देखेंगे, विचारणीय विषय कार्यपालिका के स्वरूप और राष्ट्रपति की शक्तियों के परिसीमन से सम्बद्ध था। यहां पर हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि सन् १९४६ में, जब कि ऐसे कोई नृपतंत्रवादी नही थे जिनसे समझौता करना पड़ता, फ्रांसीसी पूर्णतया दस्तावेजी संविधान की पुरानी परम्परा की ओर लौट पड़े, और इसके फलस्वरूप नया संविधान पुराने की बजाय कहीं अधिक अनमनीय है। तृतीय संविधान की अधिकांश संस्थाओं की, चाहे नाम बदलकर ही सही, पुनरावृत्ति की गई। इस भांति नया संविधान संसद् का उल्लेख करता है और कहता है कि इसकी रचना राष्ट्रीय सभा (पहले की प्रतिनिधि-सभा न कि पूर्व की भांति दोनों सदनों का संयुक्त सत्र) और गणतंत्र परिषद् (पहले की सिनेट) से मिलकर होती है।

संशोधन की पद्धति का वर्णन एक लम्बे अध्याय में जिसमें छह अनुच्छेद (८२-८७) हैं, किया गया है। इस विषय में प्रवर्त्तन का अधिकार राष्ट्रीय सभा के हाथों में है; परन्तु संशोधन के किसी भी प्रस्ताव का परीक्षण एक ऐसी छोटी स्थायी सांविधानिक समिति के द्वारा आवश्यक है जिसमें प्रत्येक सदन के अध्यक्ष और निर्वाचित सदस्य होते हैं और जिसका प्रधान गणतंत्र का राष्ट्रपति होता है। इसका कार्य प्रस्ताव की सांविधानिकता का परीक्षण करना और गणतंत्र की परिषद् की सहमति प्राप्त करना होता है। यदि प्रस्तावित संशोधन द्वितीय वाचन पर राष्ट्रीय सभा के दो-तिहाई बहुमत से अथवा दोनों सदनों में से प्रत्येक के तीन-बटे पांचवें बहुमत से पारित हो जाता है तो संसद् द्वारा उसकी स्वीकृति के आठ दिनों के भीतर गणतंत्र के राष्ट्रपति को उसे प्रख्यापित करना पड़ता है। परन्तु यदि वह प्रत्येक सदन में केवल निरपेक्ष बहुमत (अर्थात् उपर्युक्त अनुपात से कम) से ही अंगीकार किया जाता है तो उसे लोकमत-निर्देशन के लिए प्रस्तुत करना आवश्यक है और तब उसके अंगीकरण के लिए मतदान करनेवाले लोगों का उसके पक्ष में बहुमत अपेक्षित है।

इन मर्यादाओं के अतिरिक्त कुछ निर्बन्धन और भी हैं। उदाहरण के लिए, गणतंत्र-परिषद् के अस्तित्व को प्रभावित करनेवाला कोई भी प्रस्तावित संशोधन स्वयं परिषद्

---

[1] पृष्ठ २१०-२१५ देखिए।

की सम्मति के बिना सम्पादित नहीं किया जा सकता; अथवा वह लोकमत-निर्देशन के द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है। संविधान के संशोधन के विषय से संबंधित खंड के अंतिम अनुच्छेद में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि सरकार का गणतंत्रीय स्वरूप संशोधन के प्रस्ताव का विषय नहीं हो सकता। फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र के संविधान की अनमनीयता का यही रूप है और राजनीति के समस्त विद्यार्थी व्यवहार में उसके प्रवर्त्तन का बड़ी दिलचस्पी के साथ अध्ययन करेंगे।

३. इटली के गणतंत्र का अनमनीय संविधान

सन् १९४७ में प्रख्यापित इटालियन गणतंत्र का संविधान पूर्ववर्त्ती नृपतंत्र के संविधान के सदृश ही है; क्योंकि यह भी दस्तावेज के रूप में है परन्तु अपनी अनमनीयता के विषय में उससे बिलकुल भिन्न है। इसमें कोई सन्देह नही प्रतीत होता कि सन् १८४८ के मूल सार्डीनियन संविधान के निर्माताओं का आशय उसे अंतिम संविधान बनाना था और इसी कारण उसमें उसके संशोधन की पद्धतियों के विषय में कोई भी निर्देश नहीं था। चूंकि वह सम्पूर्ण इटली में लागू हुआ और द्रुत विकास एवं परिवर्तन के काल में क्रियान्वित हुआ, इसलिए उसे नई परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए कुछ साधन प्राप्त करना स्पष्टतः आवश्यक हो गया था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संशोधन के विषय में मूल संविधान-निर्माताओं के मौन का यह अर्थ माना गया कि साधारण विधायिनी प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन किए जा सकते है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के जिम्मेदार इटालियन राज-नीतिज्ञों का यही मत था। उदाहरणस्वरूप, उदारदलीय प्रधान मंत्री क्रिस्पी ने 'संविधि की अस्पृश्यता' को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और सन् १८८१ में कहा कि इटली की संसद् 'सदा संविधान-निर्मात्री' है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त की ओर एक अन्य अधि-कारी ने लिखा कि "इटली में आज संसद् की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धांत ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा किसी तरह से भी कम सुदृढ़ नहीं है।"

दूसरे शब्दों में फासिस्ट-पूर्व इटली में साधारण और सांविधानिक अधिनियमन में ब्रिटेन के समान कोई अंतर नहीं था। संविधान के मूल पाठ के परिवर्तन पर बहुधा वाद-विवाद तो होता, परन्तु कोई परिवर्तन वास्तव में किया नहीं गया। संसदें प्रभाव-पूर्ण सांविधानिक परिवर्तन करनेवाली संविधियां पारित करती रहीं, परन्तु उन्होंने संवि-धान के मजमून में कोई परिवर्तन नहीं किया यहां तक कि उसमें कोई खंड भी नहीं जोड़े। ऐसे अधिनियमों के उदाहरण न्यायपालिका के संगठन को विनियमित करनेवाली विधि, पोप को गारंटी देनेवाली विधि और मताधिकार तथा निर्वाचन-क्षेत्रों के स्वरूप और आकार में समय-समय पर परिवर्तन करनेवाली अनेक विधियां हैं। निस्संदेह, इटली का पुराना संविधान इतना नमनीय था कि मुसोलिनी अपने अधिनायकतंत्र के प्रारम्भिक वर्षों में उसे तोड़े बिना अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ने

में समर्थ हो सका, यद्यपि बाद में जब उसने निगम-राज्य[1] का अंतिम रूप से संगठन किया तो निश्चित रूप से उसने उसे तोड़-मरोड़कर ऐसा बना दिया कि वह पहचाना भी नहीं जा सकता था ।

इसके विपरीत नए इटालियन गणतंत्र का संविधान स्पष्ट शब्दों में संशोधन की पद्धति को निर्धारित करता है, और यद्यपि संशोधन के विषय का निरूपण करनेवाली संविधान की धारा उतनी पूर्ण नही है जितनी कि चतुर्थ फ्रांसीसी गणतंत्र के संविधान की धारा है, तथापि संशोधन-सम्बन्धी इटली की पद्धति भी फ्रांस की पद्धति से बिलकुल मिलती-जुलती ही है । इस अनुच्छेद में कहा गया है कि सांविधानिक संशोधन के लिए प्रवर्त्तन-अधिकार सरकार और संसद् (प्रतिनिधि-सदन और सिनेटर-सदन) के हाथों में है । सांविधानिक संशोधन की विधि प्रत्येक सदन में दो वाचनों में पारित होनी चाहिए, उन दोनों के बीच में तीन महीने से कम का अंतर न हो और द्वितीय वाचन पर सदन के सदस्यों का निरपेक्ष बहुमत उसके पक्ष में होना चाहिए । इस विधि को लोकमत-निर्देशन के लिए पेश करना पड़ता है; यदि इसके प्रकाशन के तीन महीनों के अन्दर उक्त आशय की कोई मांग दोनों में से किसी भी सदन के पंचमांश सदस्यों के द्वारा, अथवा ५००,००० मतदाताओं के द्वारा अथवा छह प्रादेशिक परिषदों के द्वारा की जाती है, परन्तु यदि विधि के द्वितीय वाचन पर प्रत्येक सदन के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत का उसे अनुमोदन प्राप्त हो जाता है तो यह शर्त लागू नहीं होती ।

४. ब्रिटिश मुकुट के अधीन अनमनीय संविधान

ब्रिटेन के उन तीन डॉमिनियनों में, जिनसे हमारा यहां सम्बन्ध है, विभिन्न कोटियों की अनमनीयता वाले संविधान हैं । अनमनीयता की वृद्धि के अनुसार हम कह सकते हैं कि कनाडा डॉमिनियन के संविधान की अनमनीयता मुख्यतया उसके संघीय स्वरूप पर अवलम्बित है । दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन एकात्मक राज्य है; अतः, वहां अनमनीयता का यह पहलू उत्पन्न ही नही होता । आस्ट्रेलिया के संविधान की अनमनीयता कुछ ही सीमा तक अपने संघीय स्वरूप पर अवलम्बित है । इन संविधानों के साथ हम आयर के संविधान का भी सुविधापूर्वक परीक्षण कर सकते है, हालांकि अब यह डॉमिनियन नहीं रहा है ।

(१) **कनाडा डॉमिनियन**—कनाडा डॉमिनियन की स्थापना, जैसा कि हम कह चुके हैं, ब्रिटेन की संसद् के 'ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम' नामक सन् १८६७ के अधिनियम के द्वारा हुई थी । इस अधिनियम ने चार प्रांतों का एक संघ बनाया था परन्तु अब उसके प्रांतों की संख्या बढ़कर दस हो गई है । इस संविधान में प्रांतों को प्रदान की गई शासन की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और शेष शक्तियां डॉमिनियन सरकार के पास छोड़ दी गई हैं (यद्यपि इन शक्तियों में से मुख्य शक्तियां उल्लिखित हैं)। अतः, कनाडा में साधारण

[1] उपरान्त में पृष्ठ २९७–३०१ देखिए ।

विधि और सांविधानिक विधि में केवल यही अन्तर रह जाता है कि साधारण विधि का उन समस्त विषयों से सम्बन्ध है, जिन्हें प्रांतीय अधिनियमन के क्षेत्र के अन्दर विशेष रूप से उल्लिखित नहीं किया गया है, जब कि सांविधानिक विधि का सम्बन्ध अधिकारों के इस विभाजन में प्रत्येक आधारभूत परिवर्तन से रहता है। स्पष्ट है कि सांविधानिक परिवर्तन के विषय में डॉमिनियन संसद् पर निर्बन्ध उन शक्तियों से मापा जाता है जो प्रांतों को स्पष्ट रूप से प्रदान की गई हैं और जिन्हें संघीय सत्ता उनकी सम्मति के बिना छू नहीं सकती।

यह सच है कि सन् १८६७ का अधिनियम उस बात को स्पष्टतया प्रकट करता है जो अन्य उपनिवेशों को डॉमिनियनपद प्रदान करनेवाले अधिनियमों में केवल उपलक्षित है—अर्थात् यह परिवर्तन केवल साम्राज्यिक संसद् की सम्मति से ही किया जा सकता है—परन्तु इसका कारण यह है कि कनाडा अधिनियम बहुत पहले उस समय पारित हुआ था जब कि मूल राज्य ब्रिटेन का रुख उपनिवेशों के प्रति उस भावना से बिलकुल भिन्न था, जिसने ब्रिटिश संसद् को सन् १९३१[1] के वेस्टमिंस्टर की संविधि को पारित करने को प्रेरित किया था। यहां समझने की खास बात यह है कि यदि एक बार कनाडा के प्रांत डॉमिनियन-सत्ता से अपने सम्बन्धों के विषय में किसी परिवर्तन से सहमत हो जाते हैं, तो ऐसे परिवर्तन को वैध बनाने के लिए साधारण अधिनियमन की प्रक्रिया से भिन्न अन्य किसी प्रक्रिया का प्रयोग आवश्यक नही होगा। इस भांति कनाडा डॉमिनियन का संविधान ब्रिटिश राष्ट्रमंडल मे न्यूनतम अनमनीय है। अपने संघीय तत्त्वों के कारण यह निश्चय ही नमनीय संविधान नहीं है। परन्तु डॉमिनियन संविधान द्वारा प्रदत्त प्रातों के अधिकारों में किसी भी प्रकार की कमी के विषय में प्रांतों की सम्मति मिलने पर कोई भी परिवर्तन डॉमिनियन संसद् के सामान्य अधिनियम के द्वारा किया जा सकता है।

(२) **दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन**—दक्षिणी अफ्रीका का संविधान कनाडा के संविधान से कुछ अधिक और आयर तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों से कम अनमनीय है। दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन चार प्रांतों का बना हुआ है जिनमें दो ब्रिटिश और दो डच प्रांत हैं। विगत शताब्दी के अन्त में दो दक्षिणी-अफ्रीकी युद्धों में प्रकट ब्रिटिश-डच शत्रुता से पैदा होनेवाली समस्याओं और उनके बाद इस शताब्दी के प्रारम्भ में होनेवाली पारस्परिक

---

[1] सन् १८६७ के अधिनियम में कहा गया है कि संविधान में केवल तभी परिवर्तन किया जा सकता है जब कि ब्रिटेन में स्थित राजा से डॉमिनियन-संसद् के दोनों सदन निवेदन करें, परन्तु सन् १९४९ में वेस्टमिंस्टर से पूछे बिना ऐसे अधिनियम को पारित करने की शक्ति अंतिम रूप से ओटावा की संसद् को हस्तांतरित कर दी गई और सन् १९५० में संघीय तथा प्रांतीय सरकारों में आपस में शक्तियों के सम्भाव्य पुनर्वितरण के विषय में विचारविमर्श हुआ, यद्यपि अगस्त सन् १९५१ तक कोई भी निर्णय न किया जा सका।

कटुता का हल सन् १९०९ के अधिनियम द्वारा यूनियन की स्थापना में मिला। यह, जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, केवल देखने में ही एक संघ है, तथ्य-रूप में बिलकुल नही, क्योंकि प्रांतों की शक्तियों का उल्लेख तो निस्संदेह किया गया है; फिर भी ये उन शक्तियों से किंचित् भी भिन्न नहीं मालूम होतीं जिन्हें हम ब्रिटेन में स्थानीय सत्ताओं की शक्ति मानते हैं, और प्रांतों को ये शक्तियां अधिकारवत् प्राप्त नहीं हैं, वरन् यूनियन-संसद् की इच्छा के अधीन ही है। अतएव दक्षिणी अफ्रीका के संविधान की अनमनीयता इस बात में नहीं है।

संशोधन की प्रक्रिया दक्षिणी अफ्रीका अधिनियम की धारा १५२ में निश्चित रूप से निर्धारित है। उसमें कहा गया है कि यूनियन संसद् अधिनियम के किन्हीं भी उपबन्धों को, निम्नलिखित को छोड़, निरसित या परिवर्तित कर सकती है :—(क) वह उपबन्ध जिसका सम्बन्ध यूनियन के भीतर मूल निवासियों के अधिकारों से है; (ख) डच और अंगरेजी भाषा की समानता को स्थापित करनेवाला उपबन्ध; (ग) वे उपबन्ध जो उक्त धारा से संलग्न अनुसूची में निर्धारित हैं, जिसका विषय मूल-निवासी-प्रदेशों (बसूटोलैंड, बेचुआनालैंड और स्वाजीलैंड) से है और जो मुकुट द्वारा नियुक्त उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) के अधीन संरक्षित प्रदेश हैं; इनमें से किसी में भी परिवर्तन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि यूनियन-संसद् के दोनों सदन साथ-साथ बैठकर एक विधेयक पारित न करें और तीसरे वाचन में दोनों सदनों के सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई सदस्य उससे सहमत न हों। दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन के संविधान की अनमनीयता इस भांति की है।

(३) **आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ**—जैसा कि हम देख चुके हैं, आस्ट्रेलिया का संविधान पूर्णरूप से संघीकृत राज्य का संविधान है। इसकी स्थापना सन् १९०० के संसद् अधिनियम के द्वारा हुई जो सन् १९०१ में प्रवर्त्तित हुआ। यह संघ छह राज्यों (आस्ट्रेलिया द्वीप के पांच खंडों, और टसमानिया) से बना है, जिनमें से प्रत्येक का सजीव वैयक्तिक अस्तित्व है। उनके अधिकारों की बड़ी सुनिश्चितता से सुरक्षा की गई है, क्योंकि संविधान में संघीय सत्ता की शक्तियों की सूची दी गई है। संघीय सत्ता में दो सदनों का विधानमंडल और उसके प्रति उत्तरदायी एक कार्यपालिका है और वह नाममात्र के लिए मुकुट द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल के अधीन है। संविधान में अवशिष्ट शक्तियां राज्यों के पास छोड़ दी गई है, जिनमें से प्रत्येक नाममात्र के लिए गवर्नर के अधीन है, जिसकी नियुक्ति कॉमनवेल्थ सरकार के द्वारा न होकर मुकुट द्वारा होती है।

संविधान के अंतिम अध्याय (८) में संशोधन के साधन बताए गए हैं। संशोधन प्रस्तावित करनेवाली प्रत्येक विधि दोनों सदनों के द्वारा पारित होने पर प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि-सदन के निर्वाचकों के समक्ष उनके मत के लिए प्रस्तुत की जानी चाहिए। अथवा यदि ऐसी कोई विधि एक सदन के द्वारा पारित की गई हो और दूसरे के द्वारा अस्वीकृत की गई हो और पुनः उसी सदन के द्वारा तीन महीनों के अवसान के पश्चात् अथवा अगले सत्र में पारित

की गई हो तो गवर्नर-जनरल उस सदन के, जो इस पर आपत्ति करता है, संशोधन के सहित या उसके बिना ही उसे लोकमत-निर्देशन के लिए प्रस्तुत कर सकता है। यदि तब वह अधिकांश राज्यों में निर्वाचकों के बहुमत से और मतदान करनेवाले समस्त निर्वाचकों के बहुमत के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह विधि बन जाता है। परन्तु यदि संशोधन में किसी राज्य की सीमाओं के परिवर्तन का या प्रत्येक सदन के सदस्यों के अनुपात में कमी करने का या संविधान के अधीन उसके पृथक् अधिकारों में किसी किस्म का परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया जाता है तो प्रस्तावित संशोधन को उल्लिखित शर्तों के अलावा, उस विशिष्ट राज्य में मतदान करनेवाले निर्वाचकों के बहुमत का अनुमोदन भी अनिवार्यत: प्राप्त होना चाहिए।

जैसा कि हम देख चुके हैं, राज्यों को हानि पहुंचाकर संघीय सत्ता की शक्तियों को क्रांतिकारी रूप में बढ़ाने के हाल ही के प्रयत्न असफल हो गए हैं। यदि भविष्य में वे सफल भी हों, तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं है कि संशोधक यंत्र बदल जाएगा, और कदाचित् आस्ट्रेलिया का संविधान ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में अनमनीयतम संविधान बना रहेगा, क्योंकि वह संघीय राज्य की मर्यादाओं के भीतर ही सीमित नहीं है वरन् उसका संशोधन लोकमत-निर्देशन की अत्यधिक विस्तृत प्रक्रिया के द्वारा सुरक्षित है।

(४) **आयर**—आयर, जैसा कि दक्षिणी आयरलैंड सन् १९३७ से कहा जाता है, सन् १९२२ में आयरिश फ्री स्टेट नाम से उस संधि के फलस्वरूप स्थापित हुआ जो दमन और गृहयुद्धजन्य विनाश के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड के संबंधित भाग के बीच हुई थी। इस संधि के फलस्वरूप दक्षिणी आयरलैण्ड को स्व-शासी डॉमिनियन का पद मिला, दो सदनों (डेल आयरीन और सिनेट) के विधानमंडल की तथा उसके प्रति उत्तरदायी एक कार्यपालिका की स्थापना हुई। यह नाममात्र को मुकुट द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल के हाथों में थी, हालांकि, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, सन् १९३७ के संविधान ने गवर्नर-जनरल के पद को समाप्त कर दिया, और बाद में सन् १९४८ के अधिनियम से आयर एक स्वतन्त्र गणतंत्र बन गया। मूल संविधान के अनुच्छेद ५० में संशोधन की पद्धति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, परन्तु उसमें यह भी कहा गया है कि निर्धारित व्यवस्थाएं प्रख्यापन की तारीख से आठ वर्षों तक प्रभावशील नहीं होंगी। उसमें लिखित संशोधन की पद्धति सार-रूप में सन् १९३७ के संविधान की पद्धति के सदृश ही है और अब यह प्रवर्त्तनीय है। नए संविधान के अनुच्छेद ४६ (२) में यह प्रकट किया गया है कि : "इस संविधान के संशोधन के लिए प्रत्येक प्रस्ताव का सूत्रपात प्रतिनिधि-सभा (डेल आयरीन) में विधेयक के रूप में होगा और ओरियेक्टास (संसद्) के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने या पारित हुआ समझा जाने पर जनता के निर्णय के लिए लोकमत-निर्देशन के सम्बन्ध में तत्समय प्रभावशीलविधि के अनुसार लोकमत-निर्देशन के लिए प्रस्तुत किया जाएगा।" साथ ही अनुच्छेद ४७ (१) में यह कहा गया है कि जनता

के समक्ष इस भांति प्रस्तुत किया गया प्रत्येक प्रस्ताव जनता द्वारा अनुमोदित समझा जाएगा यदि लोकमत-निर्देशन में बहुमत प्रस्ताव के पक्ष में हो।

५. स्विट्जरलैंड के संविधान की अनमनीयता

स्विट्जरलैंड का वर्त्तमान संविधान, जैसा कि हम कह चुके हैं, सन १८७४ में अस्तित्व में आया था। इसके संघीय स्वरूप की हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं। यहां पर हमें उसके संशोधन की पद्धति का ही अवलोकन करना है। स्विट्जरलैंड-संघ बाईस केण्टनों (राज्यों) का बना हुआ है, जिनमें से तीन राजनीतिक प्रयोजनों के लिए दो-दो खंडों में बंटे हुए हैं, और इस प्रकार संघ के विधायक राज्यों की संख्या २५ है। राष्ट्रीय सभा कहा जानेवाला संघीय विधानमंडल दो सदनों का बना हुआ है जो राष्ट्रीय परिषद् और राज्य-परिषद् हैं। संघीय सत्ता की शक्तियों का संविधान में वर्णन किया गया है, शेष शक्तियां केण्टनों (राज्यों) के पास हैं। संशोधन की पद्धतियों को संविधान के अध्याय ३ में यथार्थ रूप में प्रकट किया गया है, और उनमें केवल लोकमत-निर्देशन (Referendum) ही नहीं; वरंच लोक-प्रवर्त्तन (Initiative) भी शामिल हैं, जिनके द्वारा लोग स्वयं ही संशोधनों का प्रस्ताव कर सकते हैं। (क) यदि किसी संशोधन पर दोनों सदन, अधि-नियमन की साधारण प्रक्रिया के द्वारा, सहमत हो जाएं तो वह जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और उसे मतदान करनेवाले नागरिकों का सांख्यिक बहुमत ही नहीं, बल्कि राज्यों के बहुमत का भी अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए। (ख) यदि ५०,००० नागरिक निश्चित करते हैं कि कोई संशोधन वांछनीय है, तो वे या तो (१) उसे विशिष्ट संशोधन के रूप में ऊपर भेज सकते हैं, और उस अवस्था में संघीय सत्ता को चाहिए कि वह उसे उपर्युक्त रीति से अनुमोदन के लिए जनता के समक्ष प्रस्तुत करे, अथवा (२) यह मांग कर सकते हैं कि राष्ट्रीय सभा उस सिद्धांत को अंगीभूत करते हुए जो कि वे इसके सामने प्रस्तुत करते हैं, एक संशोधन तैयार करे। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय सभा को चाहिए कि वह इस प्रश्न को जनमत के लिए प्रस्तुत करे कि क्या ऐसा संशोधन तैयार किया जाए, और यदि उत्तर (दोनों कथित बहुमतों के द्वारा) स्वीकारात्मक हो तो राष्ट्रीय सभा ऐसे संशोधन को तैयार करती है और फिर उसे जनता के अंतिम अनुमोदन के लिए प्रस्तुत करती है।

इस भांति स्विट्जरलैंड-संघ का संविधान संशोधन की दोनों, विधायक और लोकमत की, पद्धतियों को अपनाता है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में वह जनता की अंतिम मंजूरी को ही प्रस्तावित संशोधन के अंगीकरण के तथा संविधान में उसे सम्मिलित करने के लिए अनिवार्य शर्त मानता है।

६. संयुक्तराज्य अमरीका का अनमनीय संविधान

संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान संसार भर में सबसे अधिक अनमनीय है।

इसकी अनमनीयता का मुख्य कारण इसका संघीय स्वरूप है। इस विषय के संबंध में हम पांचवें अध्याय में विचार कर चुके हैं। यहां जिस बात पर हमें विचार करना है वह संविधान में परिवर्तन करने की रीति है। अपने प्रारम्भ से ही संविधान के इतिहास में संशोधन करने की कठिनाई पर्याप्त रूप से प्रकट होती है। संविधान सन् १७८९ में प्रभावशील हुआ। उसके प्रथम दस संशोधन सन् १७९१ में अंगीकृत किए गए, ग्यारहवें और बारहवें संशोधन क्रमशः सन् १७९८ और १८०४ में अंगीकृत हुए। इन संशोधनों और उनके उपरांत क्रमशः सन् १८६५, १८६८ और १८७० में हबशियों के उद्धारविषयक तीन संशोधनों के अंगीकरण के पूर्व तक इकसठ वर्ष बिना संशोधन के व्यतीत हो गए। तब से केवल छह संशोधन हुए हैं जिनमें पहला सन् १९१३ में और अंतिम सन् १९३३ में हुआ। इन वर्षो में से प्रत्येक में दो-दो संशोधन हुए; इस भांति डेढ़-सौ वर्षो से अधिक के काल में केवल इक्कीस सांविधानिक संशोधन पास हुए और उनमें से एक (सन् १९३३, इक्कीसवें) ने वास्तव में एक पूर्वतर संशोधन (सन् १९१८, अठारहवें) को, जिसने मद्यनिषेध स्थापित किया था, निरसित किया। ये तथ्य सिद्ध करते है कि इस संविधान ने जो विद्यमान दस्तावेजी संविधानों में प्राचीनतम है, अपनी समस्त अनमनीयता को स्थिर रखते हुए भी उल्लेखनीय लचीलेपन का परिचय दिया है, और यह सब मुख्य रूप से सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के कारण हुआ है, जो कि संविधान का भाष्यकार है। साथ ही यह भी हुआ है कि इस लम्बी अवधि के दौरान में रिवाजों के विकास के द्वारा भी व्यवहार में कुछ मात्रा में उस सीमा तक परिवर्तन हुआ है, जहां तक कि यह संविधान की भाषा से असंगति उत्पन्न किए बिना सम्भव हो सका है। वह बात जिस पर हम यहां जोर देना चाहते हैं, यह है कि संयुक्त-राज्य के विधानमंडल (कांग्रेस) के पास सांविधानिक संशोधनों को अपनी ओर से पारित करने की शक्ति नहीं है, वह केवल संविधान में निर्धारित संशोधन-यंत्र को चालित करने के एक तरीके के रूप में संशोधनों का केवल प्रस्ताव कर सकता है।

इस अतिशय अनमनीयता के लिए संविधान की स्थापना का इतिहास उत्तरदायी है। सन् १७७५ तक आज के संयुक्तराज्य के पूर्वी समुद्री तट पर बहुत-से पृथक् ब्रिटिश उपनिवेश थे जिनमें से प्राचीनतम उपनिवेश भी १७० वर्ष से अधिक पुराना नहीं था। उन सबकी राजनीतिक संस्थाओं में न्यूनाधिक मात्रा में अपने मूल प्रदेश से, जो उन्हें ऐसे बन्धन में जकड़े हुए था जिसे वे अन्त में असहनीय आर्थिक बन्धन समझने लगे थे, सम्बन्धविच्छेद करने की प्रवृत्ति थी। इन १३ उपनिवेशों के कोई एक-से राजनीतिक हित नहीं थे। उन्होंने पृथक् रहकर ही अपनी-अपनी संस्थाओं का विकास किया था, हालांकि उनमें आर्थिक एकता की ओर एक अस्पष्ट प्रगति विद्यमान थी। ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध हथियार उठाने में मैत्री करने के लिए जिस बात ने उन्हें प्रेरित किया वह एकता के लिए कोई निश्चयात्मक प्रवृत्ति नहीं थी बल्कि एक असहनीय बाह्य आधिपत्य से मुक्ति प्राप्त करने की निषेधात्मक प्रेरणा थी। युद्ध छिड़ने के उपरान्त के वर्ष में स्वाधीनता की घोषणा में यह बात बड़ी स्पष्टता के

साथ प्रकट होती है। इस घोषणा में कहा गया है, "ये संयुक्त उपनिवेश स्वतन्त्र और स्वाधीन राज्य हैं, और अधिकारस्वरूप उन्हें ऐसा ही होना चाहिए।" यहां पर सामान्य सरकार से सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी शब्द नहीं है; और जब सन् १७८१ में युद्ध वास्तविक रूप में समाप्त हो गया, तब एक लम्बा आन्तरिक संघर्ष इस विषय पर छिड़ गया कि संयुक्त-राज्य के संविधान का कौन-सा रूप होना चाहिए। यह एक ऐसा संघर्ष था जो सन् १७८३ की संधि के पश्चात् भी, जिसके द्वारा अमरीकियों को उनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता औपचारिक रूप से प्राप्त हुई, जारी रहा।

सन् १७८१ के कानफेडरेशन के अनुच्छेद, जिनके अधीन संयुक्तराज्य अगले आठ वर्ष तक शासित रहे, सार-रूप में "अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय से शायद ही अधिक" थे और केन्द्रीय सत्ता की अपनी खुद की कोई प्रभावकारी इच्छा नहीं थी। अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति राज्यों के मोह के कारण वे किसी भी केन्द्रीय सत्ता को ऐसी कार्यपालिका-शक्ति प्रदान करने से डरते थे जो उन्हें अन्ततः अपने समस्त अधिकारों से वंचित कर देती। अन्त में, मई सन् १७८७ में, फिलाडेल्फिया में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसने एक ऐसे संविधान की रूपरेखा खींची जो "सृजन की अपेक्षा चयन का परिणाम था।" यह बात प्रस्तावना में पर्याप्त रूप से स्पष्ट है, इसमें कहा गया है :—

"हम संयुक्तराज्य के लोग अधिक पूर्ण संघ बनाने, न्याय की स्थापना करने, आंतरिक शांति सुनिश्चित करने, सामान्य रक्षा की व्यवस्था करने, सामान्य कल्याण का वर्द्धन करने और अपने तथा अपनी भावी पीढ़ियों के लिए स्वतन्त्रता का वरदान प्राप्त करने के निमित्त, संयुक्तराज्य अमरीका के लिए इस संविधान को आदिष्ट तथा स्थापित करते हैं।"

इसका प्राथमिक उद्देश्य राज्यों के अधिकारों की सुरक्षा और इसके साथ ही संयुक्त कार्यवाही के लाभ प्राप्त करना था। इस हेतु यह संविधान, जो सन् १७८९ में प्रभावशील हुआ, सावधानी के साथ उन शक्तियों को परिगणित करता है जिनका प्रयोग सामान्य अर्थात् संघीय सत्ता द्वारा किया जा सकता है। जिन शक्तियों का वर्णन नहीं है, वे राज्यों के पास रह जाती हैं। यह शासन के तीन प्रमुख विभागों की स्थापना करता है, जो ये हैं:—

(१) **कार्यपालिका**—राष्ट्रपति, जिसका निर्वाचन निश्चित रूप से निर्धारित नियमों के अनुसार चार वर्षों के लिए होता है।

(२) **विधानमंडल**—सिनेट और प्रतिनिधि-सदन नाम के दो सदनों से निर्मित कांग्रेस (महासभा)।

(३) **न्यायपालिका**—न्यायाधीशों का एक सर्वोच्च न्यायालय जिसे शासन के इस उपकरण (संविधान) के निर्वाचन की शक्ति दी गई है।

यह एक समझौता था जिसे राज्यों ने इस कारण स्वीकार कर लिया कि इसके द्वारा समस्त राज्यों को, उनके क्षेत्रफल तथा जनसंख्या का लिहाज किए बिना, सिनेट

में समान प्रतिनिधित्व अर्थात् प्रत्येक राज्य के लिए दो प्रतिनिधियों की गारंटी प्राप्त है, जब कि प्रतिनिधि-सदन में विभिन्न राज्यों के सदस्यों की संख्या उनकी जनसंख्या के अनुपात में रखी गई है। वह महान् शक्ति जिसका राज्यों ने त्याग किया—संधि तथा युद्ध करने का अधिकार—संक्षेप में, कूटनीतिक शक्ति थी। परन्तु जहां युद्ध की घोषणा का सम्पूर्ण कांग्रेस द्वारा अनुमोदन होना चाहिए वहां संधि करने के लिए सिनेट का, अर्थात् उस सदन का जिसमें सब राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है, पुष्टीकरण आवश्यक है। स्पष्ट रूप से यह निरूपण कर देने के उपरान्त कि कांग्रेस को कौन-कौन-सी शक्तियां प्राप्त हैं, संविधान में इनके ब्यौरों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसका सम्बन्ध इतनी बात से ही है कि वे क्या करें, न कि वे उसे कैसे करेंगे। संविधान केवल इस प्रणाली के महान् आधारों को ही प्रस्तुत करता है, परंतु इस दिशा में वह पूर्ण है और दुरुपयोग से सुरक्षित भी है, क्योंकि उसमें संविधान को संशोधित करने के साधनों को निश्चित तथा स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया है।

संशोधन दो तरीकों में से किसी एक से प्रस्तावित किए जा सकते हैं: (क) या तो कांग्रेस के प्रत्येक सदन के समस्त सदस्यों (मात्र उपस्थित सदस्य नहीं) के दो-तिहाई सदस्य सहमत हों कि कुछ संशोधन आवश्यक हैं, या (ख) कांग्रेस, दो तिहाई राज्यों के विधानमंडलों द्वारा संशोधनों के लिए प्रार्थना किए जाने पर, उन पर विचार करने के लिए एक विशेष सम्मेलन आमंत्रित करेगी। यह ध्यान रखना चाहिए कि इन शर्तों का सम्बन्ध केवल संशोधनों के प्रस्तावों से ही है। संशोधनों का इस भांति प्रस्ताव हो जाने पर उनके विषय में राज्यों के तीन-चौथाई का सहमत होना आवश्यक है। ऐसा समर्थन प्राप्त होने पर संशोधन संविधान का अंग बन जाता है।

अतः, यहां पर अमरीकी संयुक्तराज्य में संविधीय विधि तथा सांविधानिक विधि के बीच एक अत्यन्त निश्चित भेद है। सांविधानिक विधि की यह विशिष्ट प्रक्रिया बड़ी जटिल है, उसे चालित करना कठिन है, और उसे सफल परिणाम तक ले जाना तो और भी कठिन है। राज्यों की संख्या, जो कि प्रारम्भ में तेरह थी, बढ़कर आज अड़तालीस हो गई है। अतः, समय की गति ने और संयुक्तराज्य की विस्मयकारी वृद्धि ने संशोधन को और भी अधिक कठिन बना दिया है, क्योंकि आज कोई भी संशोधन ३६ राज्यों की सहमति के बिना नहीं किया जा सकता है। परन्तु अमरीकी लोगों के पास, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने पृथक्-पृथक् राज्यों में, जिनमें प्रत्येक का अपना संविधान है, अपने राजनीतिक क्रियाकलाप के लिए संविधान की कठोर पंक्तियों में निर्धारित द्वारों के अतिरिक्त अन्य द्वार भी हैं।

७. जर्मन संविधानों की अनमनीयता

सन् १९४९[1] में पश्चिमी जर्मनी में सांविधानिक शासन का पुनःस्थापन हो जाने के कारण इस अध्याय के उपसंहार के रूप में पूर्वतर संविधानों के अनमनीय स्वरूप की ओर

[1] पृष्ठ ११२ देखिए।

संकेत करना लाभदायक होगा। वेमर गणतंत्र का संविधान, जैसा हम देख चुके हैं, सन् १९१९ में प्रख्यापित हुआ था। सम्पूर्ण जर्मनी में राजतंत्र के उन्मूलन के अलावा गणतंत्रीय संविधान जर्मन साम्राज्य के, जिसे प्रथम विश्वयुद्ध ने पलट दिया, संविधान से कई बातों में भिन्न था। जर्मन साम्राज्य में, जिसकी स्थापना फ्रांस-प्रशा युद्ध की समाप्ति पर सन् १८७१ में हुई थी, संविधान का अर्द्ध-संघीय स्वरूप, उच्च सदन या बंडेस्राट में सबसे अधिक स्पष्ट था। उच्च सदन, जैसा कि हम देख चुके हैं, वास्तव में ऐसे विभिन्न राज्यों से, जिनका उस सभा में अ-समान रूप से प्रतिनिधित्व था, आए हुए राजदूतों का सदन था। उसमें सत्रह लघु राज्यों का एक-एक सदस्य था। कोई भी प्रस्तावित सांविधानिक संशोधन उच्च सदन में चौदह मतों से अस्वीकार किया जा सकता था। इस भांति इन लघु राज्यों के प्रतिनिधि (अथवा दूत) मिलकर किसी भी ऐसे परिवर्तन को रोक सकते थे जो साम्राज्य में उनकी स्थिति के लिए हानिकारी हो सकता था; अथवा प्रशा ही, जिसके अपने सत्रह स्थान थे, किसी ऐसे परिवर्तन को रोक सकता था।

जर्मनी में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् परिस्थिति बिलकुल ही भिन्न थी। इसका कारण यह था कि राइखस्टाग, अर्थात् निम्न सदन, का ऐसा वास्तविक अस्तित्व और बल था जो पूर्व में उसे प्राप्त नहीं था, क्योंकि पुराने साम्राज्यिक संविधान के अधीन किसी भी सांविधानिक संशोधन पर निम्नसदन के द्वारा विचार नहीं हो सकता था। संशोधन की पद्धति (वेमर संविधान के अनुच्छेद ७६ के अनुसार) निम्न प्रकार की थी। इसमें कहा गया है कि संविधान में अधिनियमन द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है, परन्तु तभी जब कि संशोधन निम्न सदन के सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से और उच्च सदन (पहले का बंडेस्राट) में डाले गए मतों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाए। यदि, इसके पश्चात्, मतदान करनेवालों का दशमांश यह प्रार्थना करता कि उसे जनता के सामने प्रस्तुत किया जाए तो उसे उसके समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता था और मतदाताओं का बहुमत उसके पक्ष या विपक्ष में निश्चय कर सकता था। यदि उच्च सदन में आवश्यक बहुमत नहीं हो पाता और वह दो सप्ताहों के भीतर संशोधन को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की मांग करता, तो संशोधन को वर्णित रीति से जनता के अनुमोदन के लिए प्रस्तुत करना पड़ता था।

इस भांति वेमर संविधान के अधीन जर्मनी में संशोधन लोकमत-निर्देशन के बिना साधारण विधायिनी पद्धतियों द्वारा सदनों में बहुमतविषयक कतिपय निर्बन्धनों के अधीन पारित किया जा सकता था, परन्तु या तो उच्च सदन या जनता क्रमशः समय और संख्या के प्रतिशत के निर्बन्धनों के अधीन लोकमत-निर्देशन की प्रक्रिया को काम में ला सकते थे।

बॉन संविधान भी, जो कि विशिष्ट रूप में मूल विधि कहलाता है और जिसके अधीन पश्चिमी जर्मनी पर सन् १९४९ से शासन हो रहा है, संसदीय दृष्टिकोण से उतना ही अनमनीय है, क्योंकि इसमें भी संशोधन के लिए दोनों सदनों में दो-तिहाई मतों की

आवश्यकता है, यद्यपि इसमें लोकमत-निर्देशन के उपयोग के लिए कोई निर्देश नहीं है। यह संविधान केवल ऐसी विधि द्वारा ही संशोधित हो सकता है जो कि मूल विधि के पाठ को स्पष्ट रूप से बदलता या वर्द्धित करता हो, परन्तु यह ऐसे किसी संशोधन का अनुमोदन नहीं करता जो कि संघ के लैंडर (Lander) संगठन को, अधिनियमन में लैंडर के मूल सहयोग को, या संविधान में निर्धारित मानव-अधिकारों से सम्बन्धित मूल सिद्धांतों को और गणराज्य के लोकतंत्रात्मक, सामाजिक और संघीय स्वरूप को प्रभावित करता है। किन्तु उस समय तक जब तक कि अधिकार संविधि (Occupation Statute) प्रभावशाली रहती है, उस संविधि के अनुच्छेद ५ के द्वारा एक और निर्बन्धन अधिरोपित किया गया है, जिसमें यह उपबन्ध है कि मूलविधि में किसी भी संशोधन के लिए, इसके पूर्व कि वह मान्य बन जाए, अधिष्ठात्री शक्तियों की स्पष्ट सम्मति की आवश्यकता है।

प्रश्न

१. सांविधानिक संशोधन से आप क्या समझते हैं ?
२. अनमनीय संविधान की पहचान आप कैसे करेंगे ? नमनीय संविधान से उसका भेद कैसे किया जाता है ?
३. अनमनीय संविधानों के संशोधन में काम आनेवाली पद्धतियों को सविस्तार समझाइए।
४. फ्रांस के वर्त्तमान संविधान की रचना किस परिस्थिति में हुई ? वह कहां तक अनमनीय समझा जा सकता है ?
५. आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधान किस अर्थ में अनमनीय हैं ?
६. दक्षिणी अफ्रीका में संविधान की संशोधन-पद्धति की आयर की पद्धति से तुलना कीजिए।
७. स्विस कानफेडरेशन के संविधान में संशोधन-सम्बन्धी कौन-से मुख्य विशिष्ट लक्षण हैं ?
८. संयुक्तराज्य में सांविधानिक संशोधनों का प्रस्ताव करने तथा उन्हें पारित करने की प्रक्रियाओं में अन्तर बताइए।
९. संयुक्तराज्य का संविधान आस्ट्रलिया के संविधान की अपेक्षा किस प्रकार अधिक अनमनीय है ?
१०. पूर्व वेमर गणतंत्र के संविधान के संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

अध्याय ८

विधानमंडल

(१) मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्र

१. विषय-प्रवेश

हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं कि शासन के कृत्य विधायक, कार्यपालक और न्यायपालक अर्थात् क्रमशः विधियों के निर्माण, उन्हें कार्यान्वित करने, और निर्माण के पश्चात् उनके प्रवर्त्तन से संबंधित तीन विभागों में विभाजित किए जाने चाहिए। आधुनिक शासन में वैधानिक कृत्य का महत्त्व लोकतंत्र की प्रगति के अनुपात में बहुत अधिक बढ़ गया है। अधिनियम, जिस रूप में हम उसे आज समझते हैं, वास्तव में अपेक्षाकृत नवीन वस्तु है। प्रारंभ के राजनीतिक समाज में विधायी और कार्यपालिका-संबंधी कामों में कोई अन्तर नहीं था। शासन जिन विधियों को आवश्यक समझता था उनकी घोषणा करता था और उनको क्रियान्वित करता था। उदाहरण के तौर पर, ब्रिटेन में संसद् के प्रारंभिक दिनों में उसका निर्वाचित अंश अर्थात् लोक-सदन विधिनिर्माण के कर्त्तव्य को टालने का प्रयत्न करता था और उसे वास्तविक रूप में राजा और उसकी परिषद् के हाथों में छोड़ देना चाहता था जो कि उसे पहले से करते आए थे। जैसा हम पहले बता चुके हैं, लोक-सदन का प्रारंभिक काम विधिनिर्माण नहीं बल्कि धन का अनुदान था। किन्तु विधिनिर्माण की आधुनिक धारणा ने जो जन-समूह की, जिसके सामूहिक हित में आजकल अधिकतर विधियां पारित की जाती हैं, बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना से पैदा होती है, विधिनिर्माण करनेवाली संस्था को एक बिलकुल ही नया महत्त्व प्रदान कर दिया है और इसके साथ ही यह प्रश्न भी उपस्थित कर दिया है कि उस संस्था से नागरिकों की सक्रिय सम्मति के साथ काम कराने का सर्वोत्तम उपाय क्या होगा। अतएव आधुनिक विधानमंडलों के अध्ययन के अन्तर्गत उन लोकतंत्रात्मक पद्धतियों का अध्ययन, जिनके द्वारा उनका निर्वाचन होता है, और इस प्रश्न पर विचार करना भी शामिल है कि ऊपरी या द्वितीय सदन किस हद तक लोकतंत्रात्मक नियंत्रण के अधीन है। दूसरे प्रश्न को हम अगले अध्याय में लेंगे। इस अध्याय में हम आधुनिक निर्वाचन-प्रणालियों का मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्र इन दो बातों के आधार पर अध्ययन करेंगे।

२. राजनीतिक लोकतंत्र का विकास

लोकतंत्र से हमारा तात्पर्य "शासन के उस स्वरूप से है जिसमें राज्य की शासन-शक्ति वैध रूप से समस्त समुदाय के सदस्यों में, न कि किसी विशिष्ट वर्ग या वर्गों में, निहित

होती हैं ।" निर्वाचनसंबंधी प्रश्नों के अध्ययन के प्रारंभ में ही इस तथ्य पर जोर देना आवश्यक है क्योंकि कभी-कभी लोकतंत्र को 'वर्गों' के विपरीत 'जनता' का शासन समझा जाता है । वास्तव में यूनानी भाषा के शब्द **'डिमास'** का, जिससे **'डिमॉक्रेस'** (लोकतंत्र) शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, प्रयोग यूनानियों द्वारा 'अल्पसंख्या' से पृथक् 'बहुसंख्या' को अभिव्यक्त करने में किया जाता था और, जैसा हम पहले बता चुके हैं, अरस्तू ने लोकतंत्र को गरीबों के शासन के रूप में परिभाषित किया है, क्योंकि अनिवार्यतः गरीब ही बहुसंख्यक वर्ग में होते थे । किन्तु यहां पर हम 'लोकतंत्र' शब्द का प्रयोग संपूर्ण समुदाय की बहुसंख्या के शासन के अर्थ में करते हैं, जिसके अन्तर्गत 'वर्ग' और 'बहुजन' (यदि ऐसा अन्तर अब भी कोई अर्थ रखता है) दोनों हैं । ऐसा करने का कारण यह है कि हमारे समक्ष अब तक केवल यही पद्धति है जिससे यह निर्धारित किया जा सकता है कि किसी राजनीतिक समाज की, जिसमें सब लोगों का एकमत नहीं है, इच्छा क्या है । यह इच्छा प्रतिनिधियों के निर्वाचन के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है । इस लोकतंत्रात्मक पद्धति का विकास आधुनिक काल में राष्ट्रीय राज्य की परिधि के अन्दर हुआ है जिससे प्रातिनिधिक-प्रणाली की आवश्यकता उत्पन्न हुई है । तात्पर्य यह है कि लोकतंत्र की प्रगति मताधिकार के निरन्तर विस्तार से और निर्वाचन-क्षेत्रों के आकार-प्रकार और वितरण के संबंध में किए गए अनेक प्रयोगों के द्वारा हुई है जिससे निर्वाचकों के मत का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करनेवाले विधानमंडल की रचना हो सके ।

यह एक बिलकुल ही नई बात है क्योंकि यद्यपि प्राचीन काल में लोकतंत्र विद्यमान थे—विशेषकर यूनान में और कुछ हद तक रोम के गणराज्य में भी—किन्तु आधुनिक काल की लोकतंत्रात्मक प्रवृत्ति का निरूपण करनेवाले तत्त्व उस समय विद्यमान नहीं थे । संक्षेप में, ये तत्त्व धार्मिक विचार, अमूर्त सिद्धांत, समानता को जन्म देनेवाली सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाएं और कुशासन के प्रति असन्तोष हैं । इनमें से कोई भी बात, जहां तक वह प्राचीन काल में विद्यमान थी, आधुनिक युग के कारणों से बिलकुल भिन्न कारणों से उत्पन्न हुई थी । इस संबंध में मध्ययुग के बारे में कहा जा सकता है कि इटली के कुछ मध्ययुगीन नगरों में समानता के कुछ धुंधले प्रयत्नों को छोड़कर उस युग में कहीं भी लोकतंत्रीय राजनीति में किसी भी प्रकार की अभिरुचि नहीं थी । यह परिस्थिति पुनरुत्थान तक बनी रही जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग का आरम्भ हुआ । ध्यान रहे कि लोकतंत्र और ऐसे गणतंत्रीय उत्साह को एक ही बात नहीं समझना चाहिए, जैसा उत्साह स्विट्जरलैंड के कानफेडरेशन के प्रारंभिक दिनों में, या १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों में, ब्रिटेन में राजा की थैली भरने में सहायता देने के लिए संसद् में साधारण जनता के कुछ लोगों को शामिल करते समय देखा गया था । ऐसी बातें तो कुलीनतंत्र और निरंकुशतंत्र में भी आसानी से हो सकती हैं ।

धर्मसुधार के प्रादुर्भाव के पश्चात् ही धार्मिक विचार राजनीतिक अधिकारों के प्रतिपादन में प्रयक्त होने लगे, क्योंकि धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का एकमात्र साधन

राजनीतिक अधिकार ही समझे जाने लगे। इसका सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिटेन में स्टुअर्ट काल में राजा के साथ हुए संघर्ष में मिलता है। धार्मिक अधिकारों के उपभोग के प्रयत्न से ही न्यू इंगलैंड उपनिवेशों की स्थापना हुई और चार्ल्स प्रथम के शासनकाल का गृहयुद्ध उतना ही राजनीतिक सिद्धान्तों का युद्ध भी था जितना वह धार्मिक सिद्धान्तों का युद्ध था। अठारहवीं शताब्दी के इतिहास में सिद्धान्तवाद ने महत्त्वपूर्ण योग दिया जिसके प्रमाण अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दस्तावेज हैं। स्वतन्त्रता की घोषणा तथा मानव के अधिकारों की घोषणा के रचयिता जब यह प्रतिपादित कर रहे थे कि सब मनुष्य जन्म से स्वतंत्र और समान हैं तब वे प्राचीन काल के ईसाई सन्तों की तरह ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्यों की समानता का अभिकथन मात्र न करते हुए वास्तव में व्यावहारिक राजनीति के भवन की नींव डालने का प्रयत्न कर रहे थे। मताधिकार पर समानता के सिद्धान्त का प्रबल प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसका सर्वाधिक स्पष्ट प्रयोग 'एक व्यक्ति, एक मत' के आदर्श की प्राप्ति के प्रयास में किया गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक परिस्थितियों में सुधार और जन-शिक्षा की प्रगति के फलस्वरूप सामान्य स्थिति मताधिकार के विस्तार के अनुकूल हो गई। पाश्चात्य उदारवाद की यह मान्यता थी कि "नागरिकों का सिद्धान्तरूप में निर्दोष समाज विद्यमान है जिसके सदस्यों के बीच मतदान के संबंध में कोई भेदभाव नहीं हो सकता।" इसके अतिरिक्त, संसदीय प्रणाली स्वयं भी निर्वाचकों के क्षेत्र को बढ़ाने की ओर अग्रसर हो रही थी, क्योंकि राजनीतिज्ञ, समर्थकों की अधिकाधिक संख्या का प्रतिनिधित्व करने के इच्छुक थे। उदाहरणार्थ, डिजरेली के सन् १८६७ के सुधार विधेयक तक के पक्ष में कोई विशेष जन-आन्दोलन नहीं हुआ जिसे स्वयं डिजरेली के दल ने ही 'अंधेरे में छलांग' कहा था, किन्तु राजनीतिक स्थिति और सामाजिक वातावरण ने 'निवासी मत' (Lodger vote) नामक सुधार की स्थापना को समयोचित बना दिया था। कुशासन के प्रति असंतोष भी सदा ही मताधिकार के विस्तार का एक फलदायक आधार रहा है। यह सच है कि मताधिकार-विस्तार से सदा ही वह अवस्था पैदा नहीं हुई जिसका अभाव उसके समर्थकों को खटकता था, किन्तु एक बार संसद् का मंच प्राप्त होने पर, जहां कि कठिनाइयां प्रकाश में लाई जा सकती थीं, (क्रांतिकारियों से भिन्न) राजनीतिक सुधारवादियों की दृष्टि अपने समाज की परिस्थितियों को सुधारने के साधन के रूप में, सदा अनिवार्यतः निर्वाचनसंबंधी सुधार की ओर ही रही है। सन् १८३७ से १८४८ तक ब्रिटेन में चार्टिस्टों, एकीकरण से पूर्व इटालियनों, जार-कालीन रूस में उदारवादियों और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के दिनों में आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य के पीड़ित अल्पसंख्यकों ने ऐसा ही किया था।

अतएव समस्त विद्यमान सांविधानिक राज्यों का विशिष्ट लक्षण व्यापक मताधिकार है। पुराने राज्यों ने निर्वाचनसंबंधी सुधार किए हैं जिनके फलस्वरूप वयस्क अथवा पुरुष मताधिकार स्थापित हो गया है, और नए राज्यों में से लगभग सभी ने अपने संविधानों

में किसी प्रकार के लिंगभेद के बिना सार्वलौकिक मताधिकार प्रदान करनेवाली धारा सम्मिलित की है। इस प्रगति के साथ, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात्, निर्वाचन-क्षेत्रों से संबंधित समस्याएं पैदा हुई। औद्योगिक प्रगति से और अब तक प्रतिनिधित्व से वंचित क्षेत्रों में बसे हुए लोगों को मताधिकार प्राप्त होने से उत्पन्न संसद् के स्थानों के पुनर्वितरण के प्रश्न के अतिरिक्त इन परिवर्तनों से उत्पन्न नए अल्पसंख्यक वर्गों के उदय से एक नई समस्या भी पैदा हो गई है। इन वर्गों ने ऐसे सुधारों की मांग की है जिनसे निर्वाचित सभा या सभाओं में उनकी आवाज को भी सुने जाने का आश्वासन प्राप्त हो। इस प्रश्न की उग्रता का अन्दाज किसी ऐसे राज्य के, जिसमें इस प्रकार का सुधार नहीं हुआ है, किसी भी निर्वाचन के परिणामों में मतों और स्थानों के तुलनात्मक आंकड़ों को देखने से लगाया जा सकता है। इस समस्या को तुरन्त सुलझाने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए बहुत-से राज्यों ने निर्वाचन-क्षेत्र संबंधी सुधार किए हैं और अन्य राज्यों में अभी केवल इस दोष को, जिसे सभी लोग प्रातिनिधिक प्रणाली की कमजोरी स्वीकार करते हैं, दूर करने के सम्भव उपाय खोजने के प्रयत्न हो रहे हैं।

३. मताधिकार और तत्सम्बन्धी अन्य प्रश्न

मताधिकार की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि राज्य दो वर्गों में अर्थात् पुरुष-मताधिकार वाले और लिंगभेद के बिना वयस्क-मताधिकार वाले राज्यों में विभाजित किए जा सकते हैं, हालांकि इस निरपेक्ष विभाजन को संशोधित करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। अभी-अभी कुछ समय पूर्व तक कुछ राज्यों में पुरुष-मतदाताओं के लिए कतिपय अर्हताएं आवश्यक होती थीं और कुछ अन्य राज्यों में, जिन्होंने पुरुषों को प्रतिबन्ध रहित मताधिकार प्रदान किया था, केवल ऐसी स्त्रियों को, जो कुछ शर्तें पूरी करती थीं,मताधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त, कुछ और राज्यों में स्त्रियों को नगरपालिका-निर्वाचनों में मतदान प्राप्त था किन्तु राष्ट्रीय निर्वाचनों में नहीं। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि अब से कुछ समय पूर्व तक पुरुष-मताधिकार लैटिन-यूरोप की विशेषता थी जहां स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों के विरुद्ध धार्मिक विरोध बना हुआ था। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त के पश्चात् तक स्त्रियों को फ्रांस और इटली में मताधिकार नहीं था, किन्तु इन दोनों देशों में नए गणतंत्रीय संविधानों में स्त्रियों को मताधिकार प्रदान कर दिया गया है। स्पेन में भी स्त्रियों को मताधिकार तब तक प्राप्त नहीं था जब तक कि सन् १९३२ के गणतंत्रीय संविधान ने उन्हें मताधिकार प्रदान नहीं कर दिया यद्यपि उस संविधान को फ्रांको के अधिनायकतंत्र ने समाप्त कर दिया है। दूसरी ओर, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् स्थापित नए राज्यों में से केवल युगोस्लाविया ही ऐसा राज्य था जहां स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त नहीं हुआ; किन्तु वहां भी सन् १९४६ में संघीय जनगणराज्य की स्थापना से अब यह बात नहीं रही। सन् १९३४ में तुर्की में भी स्त्रियों के मताधिकार का समारम्भ किया गया

और अगले वर्ष सत्रह स्त्रियां महाराष्ट्रीय सभा के लिए निर्वाचित हुई। जापान में भी सन् १९४७ में अमरीकी आधिपत्य में हुए निर्वाचनों में पहली बार स्त्रियों ने मतदान किया। आज यूरोप में व्यावहारिक लोकतंत्रीय संविधान वाला एकमात्र राज्य, जिसमें स्त्रियों को अब भी मताधिकार नहीं है, स्विट्जरलैंड है।

यूरोप महाद्वीप में राजनीतिक मताधिकार के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने में हम फ्रांस के प्रभाव की सराहना किए बिना नहीं रह सकते जो राजनीतिक समानता के सिद्धान्त का मूल स्थान था। फ्रांसीसी क्रांति से उद्भूत संविधान, जो स्वयं ब्रिटिश संविधान के आधार पर सामान्य रूप से निर्मित थे, महाद्वीप के राज्यों के अनेक कागजी संविधानों के लिए आदर्श बने। फिर भी फ्रांस, स्त्रियों को मताधिकार देने के मामले में, उन राज्यों से बहुत पीछे रहा जिन्होंने उसके संविधान की नकल की। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त देशों में स्त्रियों के मताधिकार के लिए जनता की इतनी अधिक या व्यापक मांग नहीं थी जितनी कि वर्त्तमान शताब्दी के पहले वर्षों में, विशेषकर ब्रिटेन और अमरीका जैसे कुछ अन्य देशों में, थी। यदि यह मान लिया जाए कि सब वयस्क पुरुषों को मताधिकार मिलना चाहिए तो स्त्रियों को भी मताधिकार प्रदान करने के विरुद्ध कोई युक्तिसंगत दलील दिखाई नहीं देती। वास्तव में स्त्रियों का मताधिकार तो लोकतंत्र के तर्क में निहित है और उसे फ्रांसीसियों ने चतुर्थ गणराज्य के संविधान में स्वीकार कर लिया है। संक्षेप में, 'मनुष्य के अधिकारों' और मानव जाति के अधिकारों के बीच विभेद करना कठिन है। यूरोप के बाहर केवलमात्र पुरुष-मताधिकार वाले सांविधानिक राज्यों की संख्या वयस्क-मताधिकार वाले राज्यों से कम है। ब्रिटेन की सभी स्व-शासित डॉमिनियनों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हैं।

अलग-अलग राज्यों में मताधिकार की आयु अलग-अलग है। रूस, तुर्की, युगोस्लाविया और अर्जेंटाइना में यह आयु अठारह, पुराने वेमर जर्मनी की तरह स्विट्जरलैंड में बीस, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बॉन संविधानाधीन जर्मनी में इक्कीस, नॉरवे में तेईस, और डेनमार्क में पच्चीस वर्ष की है। कुछ राज्य मतदान को अनिवार्य बना देते हैं। उदाहरणस्वरूप मेक्सिको में सन् १९१७ के एक अधिनियम के द्वारा मतदान का अधिकार, उस देश में उसका मूल्य कुछ भी हो, उसका प्रयोग न करनेवालों से छीन लिया गया। आस्ट्रेलिया में सन् १९२४ के एक अधिनियम द्वारा उन मतदाताओं पर, जो प्रतिनिधि-सभा और सिनेट दोनों के निर्वाचनों में मतदान नहीं करते, जुर्माना आरोपित किया जाता है। बेलजियम और स्विट्जरलैड में भी अनिवार्य मतदान प्रवृत्त है। जर्मन आधिपत्य के दौरान में निलम्बित संविधान के अधीन चेकोस्लोवाकिया में भी ऐसा ही था, हालांकि सन् १९४८ के संविधान में ऐसी बात नहीं दिखाई देती। अर्जेंटाइना में भी इसी प्रकार का दबाव विद्यमान है। वहां यह दबाव व्यवहार में सम्भवत: अधिक उग्र प्रकार का है। जहां तक गुप्त मतदान का संबंध है कम-से-कम सिद्धान्त में तो इसे अधिकतर राज्यों ने मान लिया है। ब्रिटेन में सन् १९४८ तक, जब कि विश्वविद्यालयों के लिए स्थान समाप्त कर दिए गए थे,

विश्वविद्यालय के स्नातक द्वारा मतपत्र पर मतदाता और एक साक्षी के हस्ताक्षर अपेक्षित थे। कुछ राज्यों में मतदान पेटी उतनी गुप्त नहीं है जितनी कि वह होनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर, अमरीका में 'टिकट द्वारा मतदान' की प्रणाली में (जिसमें प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के निर्वाचित पदों के लिए सभी उम्मीदवारों की दलों के अनुसार पृथक्-पथक् लम्बी सूचियां होती है) गुप्त मतदान के सिद्धान्त को बनाए रखना सदा ही कठिन हो जाता है।

वयस्क-मताधिकार वाले राज्यों में ब्रिटेन, सन् १९१८ और १९२८ के दौरान में, बीच की स्थिति में था। सन् १८३२, १८६७ और १८८४-८५ में किए गए निर्वाचन-संबंधी सुधारों के द्वारा पुरुष-मताधिकार की प्रणाली का आरम्भ किया गया, किन्तु इनके अन्तर्गत अर्हताओं की विभिन्नता थी जो सन् १९१८ में जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा समाप्त कर दी गई। इस अधिनियम से संसदीय मताधिकार इक्कीस वर्ष की आयु के प्रत्येक ऐसे पुरुष को प्राप्त हो गया जिसमें कोई वैध अनर्हता न हो, जो किसी निर्वाचन-क्षेत्र में छह महीने तक रह चुका हो या जो कम-से-कम दस पौंड वार्षिक मूल्य की भूमि या स्थान पर कब्जा रखता हो। इसी अधिनियम के द्वारा स्त्रियों के मताधिकार के सिद्धान्त को भी व्यापक मान्यता प्राप्त हुई, हालांकि यह मान्यता सम्पूर्ण नहीं थी। तीस वर्ष से अधिक आयुवाली स्त्रियों को, यदि वे निर्वाचकों की पत्नियों के रूप में या पांच पौंड वार्षिक मूल्य के आधिपत्यकर्त्ताओं के रूप में स्थानीय शासन के लिए निर्वाचक हों, संसदीय मताधिकार प्रदान किया गया। दूसरे शब्दों में, इस अधिनियम ने स्त्रियों के संबंध में 'निवासी मत' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी केवलमात्र निवास की अर्हता को तीस वर्ष से अधिक की आयुवाली स्त्री की अवस्था में भी अस्वीकार कर दिया।

सन् १९१८ के अधिनियम के अनुसार ऐसे पुरुषों को, जिनका निवास की अर्हता के अतिरिक्त कम-से-कम दस पौंड वार्षिक मूल्य के स्थान या भूमि पर स्वामी या किराएदार के रूप में कब्जा हो, और विश्वविद्यालयों के (स्त्री और पुरुष) स्नातकों को छोड़कर सबके लिए अनेक-मतदान .(Plural voting) समाप्त कर दिया। इन दोनों वर्गों को एक द्वितीय मत प्रदान किया गया किन्तु कोई भी व्यक्ति दो से अधिक मत नहीं दे सकता। इस अधिनियम का सामान्य प्रभाव यह हुआ कि पुरष-मतदाताओं की संख्या ८,३५७,००० से बढ़कर १०,४४९,८२० हो गई और रजिस्टर में ७,८३१,५८३ स्त्रियों के नाम जुड़ गए। यह अनुभव किया गया कि यदि स्त्रियों को भी उन्हीं आधारों पर मताधिकार दे दिया जाए जिन पर पुरुषों को दिया जाता है तो स्त्री-निर्वाचकों की संख्या पुरुषों से कहीं अधिक हो जाएगी और अधिकार-समानता की निरंतर मांग के काफी लंबे समय तक पूरी न किए जाने का शायद यही कारण था। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व, जब कि स्त्री-मताधिकार आंदोलन पूरे जोर पर था, जिस बात का डर समझा जाता था अब वह डर

नहीं रहा। डर इस बात का था कि यदि यह सुधार किया गया तो संसदीय प्रणाली में उथल-पुथल हो जाएगी। किन्तु अब यह भय नहीं रहा क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता था कि स्त्रियों को आंशिक मताधिकार प्रदान करने से राजनीतिक शक्तियों के सन्तुलन पर कोई बहुत अधिक प्रभाव हुआ है। इस निरंतर मांग और इसके विरोध में किसी युक्ति के अभाव को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने सन् १९२७ में सन् १९१८ के अधिनियम को विस्तारित करने की संभावनाओं की जांच गंभीरता के साथ आरम्भ कर दी और साधारणतया यह धारणा हो गई थी कि स्त्रियों और पुरुषों के लिए समान अर्हताएं निर्धारित करके और मताधिकार की तत्कालीन दो उम्रों के बीच कोई आयु—यथा पच्चीस वर्ष—निश्चित करके समझौते का मार्ग निकाल लिया जाएगा। किन्तु सन् १९२८ में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसका उद्देश्य स्त्रियों को ठीक उन्हीं शर्तों पर मताधिकार देना था जिन पर पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था और यह विधेयक सन् १९२९ के साधारण निर्वाचन के लिए अधिनियम भी बन गया। विधयक को प्रस्तुत करने के समय का यह सुझाव कि समस्त नए मतदाताओं, स्त्रियों और पुरुषों की मतदान आयु पच्चीस वर्ष कर दी जाए, केवल एक संशोधन के रूप में सामन आया और वह सहज ही अस्वीकार हो गया। अस्तु, इस अधिनियम के फलस्वरूप ब्रिटेन में मतदाताओं की कुल संख्या २६,७५०,००० अर्थात् १२,२५०,००० पुरुष और १४,५००,००० स्त्रियां हो गई।

ब्रिटेन में मताधिकार के विस्तार के विकास की, प्रथम से लेकर अंतिम सुधार तक, जांच करते हुए हम देखते हैं कि सन् १८३२ के सुधार-अधिनियम से पूर्व निर्वाचकों की संख्या ४३५,३९१ थी और उस सुधार ने निर्वाचकों के रजिस्टर में २१७,३८६ मतदाताओं के नाम जोड़ दिए। सन् १८६७ के अधिनियम के फलस्वरूप विद्यमान निर्वाचकों की १,०५६,६५९ की संख्या में ९३८,४२७ मतदाता बढ़ गए। सन् १८८४ के अधिनियम ने १,७६२,०८७ नाम और जोड़ दिए और सन् १९१८ में १३,०००,००० नए मतदाता रजिस्टर किए गए। सन् १९२८ के अधिनियम के अधीन ५,२४०,००० स्त्रियों को मताधिकार दिया गया। अब इस बात को कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि निर्वाचनसंबंधी सुधार की कम परम्परागत पद्धतियों के अतिरिक्त केवलमात्र मताधिकार के विस्तार की प्रक्रिया ब्रिटेन में उस सीमा तक पहुंच चुकी है जहां तक कि संभव है। लोक-तंत्रीय सुधार के अन्य सम्भव तरीके भी हैं जिन पर हम बाद में विचार करेंगे।

ब्रिटेन की ही तरह अमरीका में भी स्त्रियों को मताधिकार, स्त्रियों द्वारा लम्बे अस तक किए गए आन्दोलन के फलस्वरूप, प्रदान किया गया। अमरीका में संघीय मताधिकार तीन विभिन्न प्रकार के पदों—अर्थात् प्रतिनिधि, सिनेटर और राष्ट्रपति—के निर्वाचनों में बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। इन निर्वाचनों के लिए मूल संविधान ने कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किए थे। प्रतिनिधियों के संबंध में उसमें केवल यही कहा गया था कि वे "विभिन्न राज्यों की जनता द्वारा प्रत्येक दूसरे वर्ष निर्वाचित होंगे और प्रत्येक राज्य में

निर्वाचकों की अर्हताएं वही होंगीं जो राज्य के विधानमंडल की बहुसंख्यक शाखा के लिए अपेक्षित होंगीं।" सिनेट, "प्रत्येक राज्य से दो सिनेटरों से जो कि उसके विधानमंडल द्वारा निर्वाचित होंगे, गठित" होगी । राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक राज्य "ऐसी रीति में जैसी कि उसका विधानमंडल निर्देशित करे" आवश्यक संख्या में निर्वाचकों की नियुक्ति करेगा। स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं म वरण की पद्धति के ब्यौरे की बातें वैयक्तिक रूप से प्रत्येक राज्य पर छोड़ दी गई थीं। किन्तु संविधान के लागू किए जाने के पश्चात् से कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए गए हैं जिनका मतदान पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। सर्वप्रथम, निर्वाचकों को, उस पद के लिए उनकी योग्यता के आधार पर नहीं, बल्कि उम्मीदवार विशेष का समर्थन करने के लिए वचनबद्ध होने के कारण निर्वाचित करने की प्रथा के विकास के साथ, अर्थात् राष्ट्रपति के चुनाव के प्रभावतः साधारण जनता का कार्य बन जाने के साथ, मतदान राष्ट्रपति के निर्वाचन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया । दूसरे, सत्रहवें सांविधानिक संशोधन (सन् १९१३) के द्वारा सिनेटरों का जनता द्वारा निर्वाचन सब राज्यों के लिए अनिवार्य कर दिया गया । इस संशोधन में यह भी उल्लेख किया गया कि "प्रत्येक राज्य में निर्वाचकों की योग्यताएं वही होंगी जो राज्य-विधानमंडल की बहुसंख्यक शाखा के निर्वाचकों के लिए अपेक्षित हैं।"

अतएव, सन् १९१३ के अंत में अमरीका में यह स्थिति थी कि जिस व्यक्ति को किसी राज्य में निचले सदन के निर्वाचन के लिए मताधिकार था उसको कांग्रेस के दोनों सदनों के सदस्यों के निर्वाचन के लिए तथा राष्ट्रपति के निर्वाचकों (अर्थात् राष्ट्रपति के) निर्वाचन के लिए भी मताधिकार प्राप्त था; और चूंकि इस संबंध में संविधान में कोई विस्तृत उपबन्ध नहीं थे इसलिए किसी भी राज्य-विधानमंडल के एक या दोनों सदनों के लिए स्त्रियों को मताधिकार देना उस राज्य की शक्ति के अन्तर्गत था। किन्तु यदि किसी राज्य में स्त्रियों को उस राज्य के निचले सदन (अर्थात् राज्य-विधानमंडल की बहुसंख्यक शाखा) के निर्वाचनों के लिए मताधिकार था तो उनको संविधान के द्वारा संघीय प्रतिनिधियों के लिए और सन् १९१३ से संघीय सिनेटरों के लिए, और व्यावहारिक रूप में राष्ट्रपति के निर्वाचकों के लिए भी मताधिकार प्राप्त था। जब प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान में स्त्रियों को राष्ट्रभर में मताधिकार देने के लिए एक सांविधानिक संशोधन के हेतु आन्दोलन प्रारंभ हुआ तब कोई २९ राज्य स्त्रियों को मताधिकार दे चुके थे। सन् १९१९ में सिनेट में गहन संघर्ष के पश्चात् कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास कर दिया और इसे ४८ राज्यों में से ३६ राज्यों के आवश्यक अनुमोदन के लिए राज्यों को प्रेषित किया। मन् १९१९ के अन्त तक इस संशोधन को केवल २२ राज्यों का समर्थन प्राप्त हो सका, किन्तु राष्ट्रीय महिला-मताधिकार संस्था द्वारा दक्षतापूर्वक संगठित आन्दोलन के फलस्वरूप ३६वें राज्य का समर्थन भी सन् १९२० के राष्ट्रपति के चुनाव के पूर्व ठीक समय पर प्राप्त कर लिया गया।

१९वें संशोधन के शब्दों में अब अमरीका में स्थिति इस प्रकार है :—

"(१) संयुक्तराज्य के नागरिकों के मत देने के अधिकार से संयुक्तराज्य द्वारा या किसी राज्य द्वारा लिंग के आधार पर इनकार नही किया जाएगा या उसमें कोई कमी नहीं की जा सकेगी। (२) कांग्रेस को इस अनुच्छेद के उपबन्धों को समुचित विधान द्वारा प्रवर्तित करने की शक्ति होगी।"

इसका तात्पर्य यह है कि समस्त संयुक्तराज्य में व्यवहार-रूप में पूर्ण और अप्रतिबन्धित वयस्क-मताधिकार हैं।

४. एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र

निर्वाचनसंबंधी समस्याओं की दृष्टि से राज्यों को उनके अन्तर्गत निर्वाचिन-क्षेत्र के स्वरूप के अनुसार दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। आधुनिक सांविधानिक राज्य में निर्वाचिन-क्षेत्र इस प्रकार गठित किया जाता है कि उसमें से या तो एक या अनेक सदस्य भेजे जाते हैं। जब प्रातिनिधिक लोकतंत्र अपनी प्रारंभिक अवस्था में था तब निर्वाचिन-क्षेत्रों के संबंध में सामान्यतया यह व्यवस्था की जाती थी कि देश को बहुत-से शहरी और देहाती निर्वाचिन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता था और प्रत्येक क्षेत्र से एक सदस्य निर्वाचित होता था। किन्तु यह प्रादेशिक विभाजन एक सुविधा मात्र था और क्षेत्रों में जनसंख्या के शीघ्रतापूर्वक घटते-बढ़ते रहने के कारण स्थानों का निरंतर पुनर्वितरण आवश्यक रहता था। किन्तु विस्तारशील औद्योगिक युग में अधिकतर अवस्थाओं में यह सम्भव नहीं था कि जनसंख्या की अविकल वृद्धि और हेरफेर के साथ-साथ इस व्यवस्था में जल्दी-जल्दी पुनर्वितरण किया जा सके। एकलसदस्य निर्वाचिन-क्षेत्रों में प्रादेशिक विभाजन की इस प्रणाली के विरुद्ध केवल यही आपत्ति नहीं थी। दूसरी, और उससे अधिक उग्र, समस्या थी मतदान की ऐसी प्रणाली ढूंढना जिससे निर्वाचित प्रतिनिधियों से ऐसी सभा का निर्माण हो सके जिसमें निर्वाचन-क्षेत्र के मत का संतुलन पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित हो।

ब्रिटेन और अमरीका में एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली ही प्रवृत्त है। ब्रिटेन में एक या दो के सिवाय समस्त निर्वाचन-क्षेत्रों में एक सदस्य निर्वाचित किया जाता है और किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र में दो से अधिक सदस्य निर्वाचित नहीं किए जाते। सभी पुनर्वितरण अधिनियमों ने इस प्रणाली को बनाए रखा है। उदाहरण के तौर पर, दिसम्बर सन् १९१० का लोक-सदन का चनाव ६४३ निर्वाचन-क्षेत्रों से हुआ जिनमें से केवल २७ निर्वाचन-क्षेत्रों से (जिनमें तीन विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्र भी सम्मिलित थे) दो-दो सदस्यों का निर्वाचन हुआ। सन् १९१८, १९२८ और १९४४ के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियमों ने इस अवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया यद्यपि स्थानों की संख्या घटती-बढ़ती रही और सन् १९४८ के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम ने विश्वविद्यालय के स्थानों और अनेक-मतदान के अन्य समस्त अवशेषों को समाप्त कर दिया। अमरीका में सिनेट तथा

प्रतिनिधि-सदन दोनों के समस्त निर्वाचन-क्षेत्र एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र हैं। अतएव, ये ही वे दो देश हैं जिनमें निर्वाचन-क्षेत्रसंबंधी सुधार पर अत्यंत बल दिया जाता है, क्योंकि इन दोनों में से किसी के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि निर्वाचन-प्रणाली से निर्वाचकों के विचारों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रतिबिम्बित करने का उद्देश्य प्राप्त हो सका है।

वास्तविकता तो यह है कि इससे कम-से-कम ब्रिटेन में स्पष्टत: बहुत ही विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है; क्योंकि इसके द्वारा यह सुनिश्चित नहीं हो सकता कि देश का बहुसंख्यक दल लोक-सदन में बहुमत प्राप्त कर सकेगा, जब कि यह सम्भव हो सकता है कि कोई बहुत बड़ा अल्पसंख्यक दल अपर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त करे। उदाहरणस्वरूप, सन् १९२२ के साधारण निर्वाचन में अनुदार दल को २९६ स्थान और ५,३८१,४३३ मत, मजदूर दल को १३८ स्थान और ४,२३७,४९० मत, और उदार दल को ५३ स्थान और २,६२१,१६८ मत, प्राप्त हुए। इसका यह अर्थ हुआ कि अनुदार दल को प्रति स्थान के लिए १८,१८० मत, मजदूर दल को प्रति स्थान के लिए ३०,७०६ मत, और उदार दल को प्रति स्थान के लिए ४८,५४० मत मिले। आगे भी, सन् १९२४ के साधारण निर्वाचन में एकतावादी दल को ३८२ स्थान और ७,४५०,९९० मत अर्थात् प्रति स्थान के लिए १९,५०५ मत, मजदूर दल को १४२ स्थान और ५,४८३,०८८ मत अर्थात् प्रति स्थान के लिए ३८,६१३ मत, और उदार दल को ३४ स्थान और ३,००८,०९७ मत अर्थात् प्रति स्थान के लिए ८८,४७३ मत प्राप्त हुए। इसी निर्वाचन में दक्षिणी ब्रिटेन की सात काउंटियों (जिलों) में एकतावादी दल ने १,४५६,७०२ मत और ८४ स्थान, उदार दल ने ४४५,७२६ मत और १ स्थान प्राप्त किया और मजदूर दल ने कोई भी स्थान प्राप्त नही किया, हालांकि उसके द्वारा प्राप्त मतों की संख्या उदार दल द्वारा प्राप्त संख्या से अधिक अर्थात् ४८३,८७३ थी। इस निर्वाचन में स्कॉटलैंड में एकतावादी दल को (३६ स्थान) मजदूर दल (२६ स्थान) से दस स्थान अधिक प्राप्त हुए जब कि उसके द्वारा प्राप्त वास्तविक मत मजदूर दल द्वारा प्राप्त मतों से ८,७५५ कम थे (एकतावादी दल, ६८८,२९८; मजदूर दल, ६९७,०५३)। विद्यमान प्रणाली के अधीन निर्वाचन-सम्बन्धी अराजकता के एक और दृष्टांत के रूप में यह तथ्य भी उल्लिखित किया जा सकता है कि सन् १९२३ के निर्वाचन में मैनचेस्टर में एकतावादी दल ने १०४,०२७ मत और एक स्थान प्राप्त किया; सन् १९२४ के निर्वाचन में उसने १३६,१९५ मत और छह स्थान प्राप्त किए जब कि उदार दल ने, जिसे १९२३ में ७१,१४१ मत और पांच स्थान प्राप्त हुए थे, सन् १९२४ में ५०,३५० मत प्राप्त किए किन्तु उसे एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

सन् १९३५ के साधारण निर्वाचन में ब्रिटेन में सरकार के समर्थकों को विरोधियों के कुल ९,९३०,४६० मतों के मुकाबले में ११,५७०,१७९ मत मिले; फिर भी सरकार द्वारा प्राप्त स्थानों की संख्या ४२८ और विरोधी दलों द्वारा प्राप्त स्थानों की कुल संख्या केवल १८४ थी। दूसरे शब्दों में यद्यपि विरोधी पक्ष ने सरकारी पक्ष के मतों की संख्या के ८०

प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त किए किन्तु वह केवल ३० प्रतिशत स्थान प्राप्त कर सका। निर्वाचन का परिणाम यह हुआ कि सरकार को उसके पक्ष में दिए गए प्रत्येक २७,००० मतों के लिए एक सदस्य, मजदूर दल को प्रत्येक ५३,००० मतों के लिए एक, जब कि उदार दल को प्रत्येक ८५,००० मतों के लिए केवल एक सदस्य प्राप्त हुआ। सन् १९४५ के निर्वाचन में उदार दल ने २२½ लाख मत किन्तु केवल ११ स्थान प्राप्त किए, जब कि उदार राष्ट्रवादियों ने केवल ७½ लाख मत किन्तु १३ स्थान प्राप्त किए। मजदूर दल को ३९२ स्थान और १२,०००,००० मत और अनुदार दल को १८९ स्थान और ८,२५०,००० मत मिले। दूसरे शब्दों में, अनुदार दल को मजदूर दल के मतों से दो-तिहाई अधिक मत प्राप्त हुए किन्तु उसे मजदूर दल द्वारा प्राप्त स्थानों की संख्या के आधे से भी कम स्थान मिले।

अमरीका में भी एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली की कमियों के ऐसे ही दृष्टांत मिलते हैं। उदाहरण के तौर पर सन् १९२४ के कांग्रेस के निर्वाचन में गणतंत्रीय दल ने पेंसिलवेनिया राज्य में कुल १,३२२,०७० मत किन्तु सारे-के-सारे ३६ स्थान प्राप्त कर लिए जब कि लोकतंत्रीय दल को ४८१,४०० मत किन्तु प्रतिनिधि-सभा में एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त आठ न्यू इंगलैंड राज्यों में गणतंत्रीय दल ने १,३३०,५८५ मत और २८ स्थान प्राप्त किए जब कि लोकतंत्रीय दल को ८०४,४७३ मत किन्तु केवल ४ स्थान प्राप्त हुए। इसी निर्वाचन में ग्यारह दक्षिणी राज्यों ('ठोस दक्षिण') ने कांग्रेस के लिए १,१४-४,००७ मत दिए और ७६ लोकतंत्रीय सदस्य निर्वाचित किए जब कि एक भी गणतंत्रीय सदस्य निर्वाचित नहीं हुआ, हालांकि उस दल को प्राप्त मतों की संख्या ३३६,०७६ थी।

सन् १९३८ के निर्वाचनों में अमरीका में छिहत्तरवीं कांग्रेस के लिए लोकतंत्रीय दल ने ४३५ सदस्यों वाले प्रतिनिधि-सदन में २६२ स्थान और गणतंत्रीय दल ने १७० स्थान प्राप्त किए। इस प्रकार समस्त संघ में गणतंत्रीय दल ने केवल ३९ प्रतिशत स्थान प्राप्त किए। किन्तु ४८ राज्यों में से (अधिकतर उत्तरी) २४ राज्यों में उसने ५१ प्रतिशत मत प्राप्त किए। इसके पश्चात् भी कांग्रेस के सन् १९४४ के निर्वाचन में लोकतंत्रीय दल ने २३,०००,००० से कुछ कम मत किन्तु २४३ स्थान प्राप्त किए जब कि गणतंत्रीय दल को २१,०००,००० से कुछ अधिक मत किन्तु केवल १९० स्थान प्राप्त हुए। तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि गणतंत्रीय दल द्वारा प्राप्त कुल मत लोकतंत्रीय दल द्वारा प्राप्त मतों के लगभग बराबर ही थे, फिर भी उनको केवल ४३ प्रतिशत स्थान मिल सके।

दोनों देशों में सभी दल इस प्रणाली से उत्पन्न अन्यायों के प्रति जागरूक हैं किन्तु यह प्रश्न विवादास्पद है कि उन्हें किस प्रकार दूर किया जाए। सन् १९०९-१० में इंगलैंड में निर्वाचन-सुधार-सम्बन्धी एक राजकीय आयोग का अधिवेशन हुआ किन्तु परिवर्तन के लिए उसने जो एकमात्र व्यावहारिक सिफारिश प्रस्तुत की थी वह अंगीकार नहीं की गई। तत्पश्चात् सन् १९१६-१७ में एक संसद्-अध्यक्ष सम्मेलन हुआ परन्तु उसकी सिफारिशें भी दबा दी गई। अमरीका में एक काफी बड़ी और प्रभावपूर्ण संस्था ने इन विरोधों को

दूर करने के लिए प्रयत्न किया है, किन्तु इन प्रयत्नों को कभी भी सरकारी समर्थन या मान्यता प्राप्त नहीं हुई। सामान्यतया जिस सुधार का सुझाव दिया जाता है वह 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' के नाम से ज्ञात है। अतएव, इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

५. बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र

बहुत-से राज्यों ने अब 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' नामक निर्वाचन-प्रणाली को या तो अपनी विद्यमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में सम्मिलित कर लिया है या उसे एक नए संविधान का अभिन्न अंग बना लिया है। किन्तु अपन-आपमें इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है क्योंकि इसके अनेक रूप हैं। वास्तविकता तो यह है कि इसके उतने ही रूप हैं जितने राज्यों ने इसे अपनाया है और सैद्धांतिक दृष्टि से तो और भी अधिक; परन्तु सभी विभिन्न रूपों में कम-से-कम एक बात मिलती है जो मतदान की इस पद्धति के लिए निश्चय ही अनिवार्य है और जो यह है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की कोई भी प्रणाली एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र के आधार पर क्रियान्वित नहीं की जा सकती। आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अधीन किसी निर्वाचन-क्षेत्र में किसी भी उम्मीदवार का उद्देश्य सामान्य अर्थों में बहुमत प्राप्त करना नहीं, बल्कि एक विशिष्ट संख्या में मत प्राप्त करना है। सरल भाषा में यह विशिष्ट संख्या किसी निर्वाचन में दिए गए कुल मतों को निर्वाचित किए जानेवाले स्थानों की संख्या से विभाजित करने से प्राप्त मतों की संख्या है। इस प्रणाली का सबसे सरल रूप वह है जिसे फ्रांस में 'सामान्य टिकट (Scrutin de Liste or general ticket)' (जो अमरीका की एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में 'टिकट द्वारा मतदान' की प्रणाली से भिन्न है) कहा जाता है। फ्रांस में सन् १९१९ की एक नई निर्वाचन-सम्बन्धी विधि के फलस्वरूप **डिपार्टमेंट** (Department) निर्वाचन-क्षेत्र बन गए जब कि इससे पहले **एरॉनडाइजमेंट** (Arrondissement) निर्वाचन के क्षेत्र थे। एरॉनडाइजमेंट एक एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र होता था। नई विधि के अनुसार यह हुआ कि डिपार्टमेंट के निर्वाचक उतने सदस्यों के लिए मत देते थ जितन कि उस डिपार्टमेंट में स्थान होते थे (अर्थात् **एरॉन्डाइजमेंटों** की संख्या के बराबर)। उम्मीदवार अकेले या भरे जानेवाले स्थानों की संख्या के बराबर संख्या तक की सूची या टिकट में मिलकर निर्वाचन के लिए खड़े हो सकते थे, और अधिकतर उम्मीदवार निर्वाचन के लिए ऐसी ही सूचियों के द्वारा अपने को पेश करते थे। बहुमत प्राप्त करनेवाला उम्मीदवार निर्वाचित हो जाता था और चूंकि साधारण मतदाता सम्पूर्ण सूची के पक्ष में मतदान करता था इसलिए व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्यतया सबसे बड़ा दल सम्पूर्ण **डिपार्टमेंट** में पूरी बाजी मार लेता था। अतएव फ्रेंच प्रणाली ने इस समय तक अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में कोई सफलता प्राप्त नहीं की।

किन्तु सन १९१९ की विधि ने यह भी उपबन्धित किया था कि यदि निरपेक्ष बहुमत

प्राप्त न हो सका तो स्थानों को उन उम्मीदवारों में बांट दिया जाए जिन्होंने मतों की विशिष्ट संख्या (अर्थात् स्थानों की संख्या से मतों की संख्या के विभाजन से प्राप्त संख्या) प्राप्त की हों। प्रत्येक सूची का भाग, 'औसत' (अर्थात् उसके सब उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त समस्त मतों को उसके उम्मीदवारों की संख्या से विभाजित करके प्राप्त) में विशिष्ट संख्या का भाग देने से प्राप्त संख्या द्वारा निश्चित होता था। उदाहरण के तौर पर, मान लीजिए कि किसी डिपार्टमेंट की जनसंख्या ४५०,००० है, उसके रजिस्टर में मतदाताओं की संख्या १००,००० है, और इनमें से ७८,००० ने वास्तव में मतदान किया और निर्वाचन-क्षेत्र ने छह सदस्य भेजे। ऐसी स्थिति में विशिष्ट संख्या ७८,००० को छह से विभाजित करके प्राप्त हुई संख्या अर्थात् १३,००० हुई। प्रत्येक दल ने इस भागफल के अनुसार स्थान प्राप्त किए। इस प्रकार, ४०,००० मत प्राप्त करनेवाले दल को तीन स्थान, ३०,००० मत प्राप्त करनवाले दल को दो स्थान मिले। इसके आगे भी यही क्रम जारी रहा और यदि कोई स्थान शेष रहा तो वह सर्वोच्च औसत वाले दल को मिला।

सन् १९१९ की प्रणाली अच्छी तरह नहीं चली और जुलाई सन् १९२७ में फ्रांस में फिर से एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की प्रणाली (Scrutin d'Arrondissement) आरम्भ हो गई। किन्तु संविधान-सभा के निर्वाचनों में, जिसने सन् १९४६ में लोकमत-निर्देशन के लिए प्रस्तुत संविधान तैयार किया, सामान्य टिकट (Scrutin de Liste) जैसी एक प्रणाली फिर चलाई गई। इसका कारण यह था कि जनता को अपने उम्मीदवारों को, तीन मुख्य दलों (समाजवादी, साम्यवादी और एम० आर० पी०) का आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए आविष्कृत एक व्यवस्था के अधीन समूहों में मत देना था।

जून, सन् १९५१ के साधारण निर्वाचन के लिए एक और भी जटिल प्रणाली का आविष्कार किया गया जिसका प्रयोजन घोर वामपक्षियों और घोर दक्षिणपक्षियों दोनों को शक्ति से अपवर्जित करना था। पेरिस क्षेत्र के सिवाय, जहां कि अनुपातिक प्रतिनिधित्व की विशुद्ध प्रणाली काम में आई, नई विधि से ऐसी अवस्था में ब्लॉक बनाने के लिए दलों और समूहों को सम्बद्ध करने की अनुमति प्राप्त हो गई जब कि बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में कोई भी एक दल ५१ प्रतिशत मत प्राप्त न कर सके। उस अवस्था में यदि ब्लॉक का बहुमत होता था तो वह सब स्थान ले लेता था और दूसरों को कोई स्थान नहीं मिलते थे। ब्लॉक बनानेवाले दलों में स्थानों का विभाजन अनुपात के अनुसार होता था। यदि कोई भी दल या ब्लॉक बहुमत प्राप्त नहीं कर सकता था तो स्थानों की बांट सीधे आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा की जाती थी।[1]

---

[1] **यह राजनीतिक चाल चुनाव में सफल सिद्ध हुई क्योंकि इससे मध्यवर्ती दलों को अपनी संयुक्त शक्ति से सरकार बनाने और यदि उनकी इच्छा हुई तो उसे बनाए रखने का अवसर मिल गया और गॉलिस्ट और कम्यूनिस्ट दलों को ६२७ स्थानों वाली सभा में न्यूनाधिक सौ-सौ स्थान ही मिले।**

उस प्रणाली में जो अधिकतर आनुपातिक प्रतिनिधित्व के साथ सम्बद्ध की जाती है, 'एकल-संक्रमणीय मत प्रणाली' समाविष्ट है। उसे अक्सर **'हेयर प्रणाली'** भी कहते हैं, क्योंकि इसका सर्वप्रथम सुझाव एक अंगरेज **थॉमस हेयर** ने 'प्रतिनिधित्व का यंत्र' (The Machinery of Representation) (१८५७) नामक पुस्तिका में दिया था और अपने बाद के एक ग्रंथ 'प्रतिनिधियों का निर्वाचन' (१८५९) में उसका विस्तृत विवेचन किया था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रातिनिधिक शासन' (१८६१) में उसका समर्थन किया और पश्चात्वर्त्ती सुधारकों ने भी उसे स्वीकार किया और इसमें कुछ परिवर्तन भी किए। बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र सिद्धांत को समझ लेने पर यह प्रणाली बड़ी आसानी से समझ में आ जाती है। कल्पना कीजिए कि आप चार विद्यमान एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों को एक निर्वाचन-क्षेत्र में आबद्ध कर लेते हैं: तब उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने के बजाय केवल विशिष्ट संख्या अर्थात् कुल मतदान की संख्या को भरे जानेवाले स्थानों की संख्या से विभाजित करने से प्राप्त संख्या प्राप्त करनी आवश्यक होगी। मतदाता उम्मीदवारों के लिए क्रमानुसार अपने अधिमान (Preference) को प्रकट करता है। उसका केवल एक ही प्रभावपूर्ण मत होता है, किन्तु वह जिस व्यक्ति का निर्वाचित होना सबसे अधिक पसन्द करता है उसके अतिरिक्त अन्य उम्मीदवारों के नामों के आगे भी एक संख्या लिख सकता है जिससे कि वह निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निश्चित सदस्यों की संख्या तक यह संकेत दे सके कि वह, उस उम्मीदवार के बाद जिसे वह पसन्द करता है, किन-किन उम्मीदवारों का निर्वाचित किया जाना पसन्द करेगा। इस प्रकार यदि उम्मीदवार दस हों और स्थान चार हों तो मतदाता अपना अधिमान व्यक्त करने के लिए चार नामों के आगे १, २, ३, ४ संख्याएं दे सकता है। यदि पर्याप्त उम्मीदवारों द्वारा विशिष्ट संख्या प्राप्त न किए जाने के कारण सब स्थान न भरे जा सकें तो अन्य स्थान उन मतदाताओं के जो सफल उम्मीदवार या उम्मीदवारों के लिए मत दे चुके हैं और जिन्हें उन मतों की अब आवश्यकता नहीं रही, द्वितीय अधिमान और तदुपरान्त तृतीय अधिमान के अनुसार भरे जाते हैं। यह क्रम उस समय तक जारी रखा जाता है जब तक कि सब स्थान नहीं भर जाते। किन्तु मतों का स्थानान्तरण दूसरी तरह भी किया जा सकता है। यदि सफल उम्मीदवार या उम्मीदवारों के अतिरिक्त मतों को अन्य उम्मीदवारों को देकर भी पर्याप्त उम्मीदवार विशिष्ट संख्या तक नहीं पहुंच पाते हैं तो सबसे कम संख्या वाले उम्मीदवार का (या यदि आवश्यक हो तो एक से अधिक का) नाम हटाकर उसके या उनके मत अधिमानों के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को दे दिए जाते हैं। इस प्रकार मतदाता जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक पसन्द करता है वह तो नहीं चुना जाता परन्तु फिर भी वह अपने दूसरे या तीसरे या चौथे नम्बर के उम्मीदवार के निर्वाचन में सहायक हो सकता है।

हाल ही के वर्षों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली किसी-न-किसी प्रकार से व्यापक रूप में स्वीकार कर ली गई है। स्वयं थॉमस हेयर तो किसी भी सम्पूर्ण देश को एक विशाल

निर्वाचन-क्षेत्र बना देता। किन्तु इस प्रणाली पर अमल करने में इस योजना को अव्यावहारिक समझकर छोड़ दिया गया है, हालांकि कुछ अर्थों में इटली में मुसोलिनी की निर्वाचन-सम्बन्धी विधियों में यही सिद्धांत समाविष्ट था यद्यपि वहां उसके समर्थकों का आशय दलों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने से बिलकुल भिन्न था। अंगरेजी भाषा-भाषी जिन देशों ने इस प्रणाली को अंगीकार किया है उनके निर्वाचनों में सामान्यतया एक संक्रमणीय मत का प्रयोग किया जाता है। यूरोप महाद्वीप के अधिकतर राज्यों में किसी-न-किसी प्रकार का **'टिकट द्वारा मतदान'** अपनाया जा चुका है जिससे कि इन देशों में उम्मीदवार, केवलमात्र बहुमत-निर्वाचन के विरुद्ध अनेक प्रकार की सुरक्षाओं के साथ, अपने-आपको निर्वाचन के लिए सूचियों में प्रस्तुत करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में सन् १९४८ के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय के स्थानों के समाप्त कर दिए जाने तक कुछ विश्वविद्यालयों के लिए संसद् के सदस्यों के निर्वाचन के लिए सन् १९१८ से, चर्च ऑफ इंगलैंड की राष्ट्रीय सभा के लिए, साधारण जनों की धर्मसभा के लिए सन् १९१९ से और पादरियों की सभा के लिए सन् १९२१ से, स्कॉटलैंड में शिक्षा-सम्बन्धी सत्ताओं के लिए सन् १९१८ से, तथा उत्तरी आयरलैंड में संसद् के दोनों सदनों के लिए सन् १९२० से एकलसंक्रमणीय मत का प्रयोग किया गया। जहां तक ब्रिटेन की डॉमिनियन का सम्बन्ध है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व दक्षिण अफ्रीका में सिनेट के निर्वाचनों के लिए तथा कुछ नगरपालिकाओं में भी प्रयुक्त होता है; कनाडा में कुछ नगरपालिका-निर्वाचनों में, टसमानिया में प्रतिनिधि-सभा के लिए, माल्टा में सिनेट के एक भाग के लिए और प्रतिनिधि-सभा के लिए भी इसी प्रणाली को अपनाया गया है। आयर में सभी निर्वाचन इस प्रणाली के अधीन होते हैं। भारत में सन् १९३५ के अधिनियम के अधीन इस प्रणाली को कुछ प्रांतों की प्रांतीय विधानपरिषदों द्वारा निर्वाचित संघीय सभा के सदस्यों के लिए आरम्भ किया गया था। संयुक्तराज्य अमरीका में आनुपातिक प्रतिनिधित्व, न्यूयॉर्क, क्लीवलैंड (ओहियो) और सिनसनेटी के अतिरिक्त एक या दो नगरों को छोड़, जिन्होंने कि स्व-शासन की अपनी व्यापक शक्तियों का इस प्रकार प्रयोग किया है, और कहीं भी नहीं अपनाया गया है।

यूरोप महाद्वीप में अनेक राज्यों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली को अपनी कुछ या सभी प्रतिनिधि-सभाओं के लिए प्रथम विश्वयुद्ध से बहुत पूर्व ही अपना लिया था। उदाहरणस्वरूप, डेनमार्क में इस प्रणाली को संसद् के ऊपरी सदन के लिए आंशिक रूप में सर्वप्रथम सन् १८५५ में ही लागू कर दिया गया था, और स्विट्जरलैंड में कुछ केण्टन-परिषदों के लिए सन् १८९१ में, बेलजियम में स्थानीय शासन निर्वाचनों के लिए सन् १८९५ में और प्रतिनिधि-सभा तथा सिनेट के लिए सन् १८९९ में, स्वीडन में सभी निर्वाचकों के लिए सन् १९०७ में इसे स्वीकार किया गया। इस प्रणाली को डेनमार्क ने सभी निर्वाचनों के लिए सन् १९१५ में, हालैंड ने १९१७ में, स्विट्जरलैंड ने सन् १९१८ में, और नॉरवे ने सन् १९१९ में अंगीकार किया। अन्त में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी समेत यूरोप के

राज्यों द्वारा प्रख्यापित किए गए सभी संविधानों के उपबन्धों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व का कोई-न-कोई रूप शामिल था।

इस सम्बन्ध में एक अन्य सिद्धांत का भी उल्लेख किया जाना चाहिए जिसे 'द्वितीय मतदान' कहते हैं। यह निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने का एक तरीका है। ज्यों-ज्यों निर्वाचन का जोर बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों निर्वाचनों में भाग लेनेवाले राजनीतिक दलों की संख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। परिणामस्वरूप, पुराने दो दलों के उम्मीदवारों के संघर्ष के बजाय अधिकतर यह देखा जाता है कि एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में तीन, चार, पांच या कभी-कभी छह उम्मीदवार भी मैदान में उतर आते हैं। यदि इस परिस्थिति में कोई एक उम्मीदवार पूर्ण बहुमत द्वारा निर्वाचित नहीं होता, तो कुछ राज्यों में दूसरी बार निर्वाचन किया जाता है जो सामान्यतया प्रथम निर्वाचन में सबसे अधिक मत प्राप्त करनेवाले दो उम्मीदवारों के बीच होता है। उदाहरण के तौर पर, जब कभी भी फ्रांस फिर से एकलसदस्य निर्वाचन क्षेत्र की ओर लौटा है, उसने द्वितीय मतदान के सिद्धांत को अपनाया है। किन्तु वास्तव में द्वितीय मतदान में ऐसी कोई बात नहीं है जो कि संक्रमणीय मत द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। वास्तव में, ऐसी निर्वाचन-प्रणालियां भी हैं जिनके द्वारा द्वितीय मतदान की असुविधा के बिना ही उसके उद्देश्य प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा उस प्रणाली के द्वारा होता है जो सामान्यतया 'अधिमानीय मतदान' कहलाती है। इस प्रणाली के अधीन मतदाता मतपत्र में अपना द्वितीय अधिमान भी व्यक्त करता है, जिसे उस समय काम में लाते हैं जब कि पहली गिनती में कोई भी उम्मीदवार पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता और जब कि वह उम्मीदवार, जिसे मतदाता सबसे अधिक चाहता है, सर्वाधिक मत प्राप्त करनेवाले पहले दो में से एक नहीं है। यह प्रणाली आस्ट्रेलिया में राष्ट्रीय निर्वाचनों के लिए और कुछ पृथक् राज्यों के निर्वाचनों के लिए भी प्रचलित है।

ग्रेट ब्रिटेन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों के प्रयत्नों को सरकारी आयोगों में केंद्रित करने के दो बड़े प्रयास हुए हैं। पहले सन् १९०९-१० के राजकीय आयोग ने केवलमात्र एक निश्चयपूर्ण सिफारिश की। सिफारिश यह थी कि मतपत्र पर एक वैकल्पिक मत भी दिया जाना चाहिए, संक्रमणीय मत के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि द्वितीय मत के उद्देश्य—अर्थात् निरपेक्ष बहुमत—प्राप्त करने के लिए जैसा कि ऊपर आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में बताया गया है; किन्तु यह मामूली सिफारिश भी निरर्थक ही सिद्ध हुई। दूसरे, सन् १९१६-१७ के अध्यक्ष-सम्मेलन ने यह सिफारिश की कि आंशिक परीक्षण के रूप में लोकसभा के एक-तिहाई स्थानों के लिए संक्रमणीय मत के सिद्धांत को अपनाया जाए। इसे भी संसद् ने अस्वीकार कर दिया और (सन् १९४८ के अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय के स्थानों के समाप्त कर दिए जाने के बाद से) अब ब्रिटेन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व का एकमात्र रूप चर्च ऑफ इंगलैंड की राष्ट्रीय सभा के, स्कॉटलैंड में शिक्षा-सत्ताओं के और उत्तरी

आयरलैंड की संसद् के निर्वाचनों में संक्रमणीय मत के सिद्धांत के प्रचलन में ही विद्यमान है, जैसा कि हम बता चुके हैं।

६. सिद्धांत और व्यवहार में आनुपातिक प्रतिनिधित्व

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के पक्ष और विरोध में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। जहां तक सिद्धांत का संबंध है, सभी बातें उसके पक्ष में हैं, किन्तु व्यवहार में ऐसी बात नही है। इसमें संदेह नहीं कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की वास्तविक प्रणाली से सिद्धांत और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वह बात होती है जो वह करना चाहती है। निस्संदेह इस प्रणाली के द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है, और यह उन आपत्तियों को भी दूर करती है जो सामान्य बहुमत-प्रतिनिधित्व के विरुद्ध प्रकट की जाती हैं। यही कारण है कि हाल के वर्षों में अनेक सांविधानिक राज्यों में इस सिद्धांत को अधिकाधिक समर्थन मिलता रहा है। किन्तु उसको अपनानेवाले अधिकतर देश उसे केवल बातों तक ही सीमित रखते हैं। विशेष रूप से फ्रांस में ऐसा हुआ है जहां वह इसके समर्थकों का मुंह बन्द करने के लिए एक समझौता मात्र रही है। कुछ अन्य राज्यों में भी प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर इसका समारम्भ किया गया, किन्तु वहां भी (यह आशंका है) उसका समारम्भ केवल संधियों की उन धाराओं का पालन करने के लिए ही किया गया था जिनका उद्देश्य अ-राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा करना था।

व्यावहारिक आपत्तियां बहुत-सी हैं,—कुछ साधारण महत्त्व की और कुछ बहुत गम्भीर। यह सच है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व के द्वारा अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, किन्तु इससे यह डर भी हो जाता है कि समाज में अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोण से ही विचार होने लगे और अवांछित उम्मीदवार खड़े होने लगे। ऐसी बातें सामाजिक जीवन के लिए वास्तव में हानिकारक हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, यह सम्भव हो सकता है कि जुआबाजी और सूदखोरी के समाज-विरोधी स्वरूपों जैसे कुटिल स्वार्थों को, निर्वाचन-क्षेत्र के विस्तार के फलस्वरूप उनसे हितबद्ध बहुत-से दलों के एक साथ मिल जाने से, प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। निर्वाचन-क्षेत्र का विस्तार स्वयं ही एक खतरा है; क्योंकि इससे उम्मीदवार या सदस्य और निर्वाचक के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क अनिवार्यतः नष्ट हो जाता है, और क्योंकि इससे उम्मीदवारों की संख्या इतनी बढ़ सकती है कि निर्वाचक को अपना उम्मीदवार पसंद करने में परेशानी हो (उदाहरण के तौर पर, बेलजियम म द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व सबसे बड़े निर्वाचन-क्षेत्र से २२ सदस्य निर्वाचित हुए)। इसके अतिरिक्त, तीसरी बात यह है कि संक्रमणीय मत का सिद्धांत मतदाताओं के लिए भ्रांतिजनक और मतगणना के कार्य में इतना जटिल हो सकता है कि उससे निर्वाचक, मतगणना करनेवाले अधिकारी की कृपा पर निर्भर हो जाएं, किन्तु

यह, कम-से-कम उन देशों में जहां सामान्यतया अच्छी राजनीतिक चेतना है, एक ऐसी आपत्ति है जो मतदाता का उस अधिकारी पर पूर्ण विश्वास होने की अवस्था में दूर हो सकती है। इससे एक लाभ भी होता है जो यह है कि एकलसंक्रमणीय मत का प्रयोग स्वयं ही राजनीतिक शिक्षा है, क्योंकि निर्वाचक के लिए अपना अधिमान व्यक्त करना तब तक असम्भव है जब तक कि वह गम्भीरतापूर्वक विचार न करे, किन्तु यदि केवल दो उम्मीदवारों में से एक को ही निर्वाचित करना हो तो फिर सोचने की आवश्यकता ही नहीं होती।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में यह पुराना सैद्धांतिक तर्क कि उससे दल के अन्दर के अन्तरंग गुट्ट समाप्त हो जाएंगे, व्यवहार में बिलकुल ही गलत सिद्ध हुआ है। ऐसी व्यवस्था में तो दल का यंत्र और भी शक्तिशाली होता है। निर्वाचन-क्षेत्र का जितना अधिक विस्तार होता है, अदृश्य बागडोर भी उतनी ही अधिक प्रभावशाली हो जाती है। इस तथ्य की सचाई इटली में मुसोलिनी की निर्वाचनसंबंधी विधियों के अधीन स्पष्ट रूप से दखी गई थी। इसके विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि दो विरोधी दलों की बजाय अनेक छोटे-छोटे समूहों को विधानमंडल में लाने की इसकी प्रवृत्ति से शासन अस्थिर हो जाता है; अनेक दलों की उपस्थिति के फलस्वरूप दुर्बल संयुक्त सरकारें बनानी पड़ती हैं जो उनमें सम्मिलित किसी भी समूह के बिगड़ उठने से समाप्त हो जाती हैं। उदाहरणस्वरूप, दो विश्वयुद्धों के बीच के समय में बेलजियम में आनुपातिक प्रतिनिधित्व ऐसी सूक्ष्मता से क्रियान्वित किया गया कि राजनीतिज्ञों को, विभिन्न प्रकार के हितों और उनके बीच एक समान नीति अभिनिश्चित करने की कठिनाई के कारण, मंत्रिमंडल का निर्माण करने में अत्यन्त कठिनाई का अनुभव हुआ।

दूसरी ओर, यह बात बुरी भी नही है कि मंत्रिमंडल के निर्माण में विभिन्न भावनाओं का ध्यान रखा जाए। ऐसे संयुक्त मंत्रिमंडलों ने कुछ अवस्थाओं में जीवित रहने की उल्लेखनीय शक्ति का प्रदर्शन किया है। विशेष रूप से स्वीडन में ऐसा हुआ जहां कि युद्धों के बीच के काल में एक मंत्रिमंडल दो या तीन वर्षों तक सत्तारूढ़ रहा। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के इस प्रभाव से फिर यह प्रकट हुआ है कि यह प्रणाली संक्रांतिकालीन कठिन अवस्था से गजरनेवाले राज्यों में अच्छी तरह से काम में लाई जा सकती है, हालांकि वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मनी को इसके द्वारा सुरक्षित स्थिति में पहुंचाने की आशा निश्चय ही सफल न हो सकी।

यह बात अच्छी हो या बुरी, ऐसा प्रतीत होता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का अनिवार्य परिणाम यह है कि बड़े दलों और एकचित्त मंत्रिमंडल की बजाय अनेक संसदीय गुट्ट और उनके फलस्वरूप संयुक्त मंत्रिमंडल की स्थापना होती है। यही कारण है कि यह प्रणाली ब्रिटेन में नहीं अपनाई गई जहां दल-प्रणाली इतनी गहरी जमी हुई है, और जहां, जैसा कि एक बार डिजरेली ने कहा था, 'संयुक्त मंत्रिमंडलों से घृणा' की जाती है।

यह बात कम महत्त्व की नहीं है कि जिन दो बड़े राज्यों, अर्थात् ब्रिटेन और संयुक्तराज्य, ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का अभी तक प्रयोग नहीं किया है, वे दो राज्य ही ऐसे हैं जिनमें दो बड़े विरोधी दलों की परम्परा सदा से प्रबल रही है, और जिन राज्यों ने इसे अपनाया है, वे या तो जर्मनी जैसे राज्य है जिनमें, उनके संविधानिक काल में, संसद् में सदा ही एक समूह-व्यवस्था प्रचलित रही है; अथवा चेकोस्लोवाकिया (प्रथम विश्वयुद्ध[1] के बाद) जैसे बिलकुल ही नवीन राज्य हैं जिनमें कोई ऐसी राजनीतिक परम्परा विद्यमान नहीं थी जिसमें परिवर्तन किया जाता। ब्रिटेन और संयुक्तराज्य में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को पूर्णरूप से अपनाने में निर्वाचन-प्रणाली के परिवर्तन का ही डर नहीं, बल्कि इस बात का डर भी है कि दलों की परम्परा बड़े वेग से टूट जाएगी। कदाचित् यही कारण है कि इन राज्यों के विधानमंडल इस प्रणाली का प्रवर्त्तन करने में झिझकते हैं।

७. प्रातिनिधिक प्रणाली से सम्बन्धित समस्याएं

प्रातिनिधिक सिद्धांत के विकास से पैदा होनेवाली समस्याएं बहुत हैं। सबसे पहली समस्या तो मताधिकारप्राप्त नागरिकों की संख्या को राष्ट्रीय इच्छा के एक वास्तविक प्रतीक के तद्रूप बनाना है। किन्तु क्या इसका यह अनिवार्य अर्थ है कि प्रातिनिधिक शासन अवास्तविक है क्योंकि अनिर्बन्धित सार्वलौकिक मताधिकार का सिद्धांत व्यवहार में नहीं आता? अनेक समझदार व्यक्तियों ने कहा है और कहते हैं कि लोक-शासन का अर्थ सिरों की गणनामात्र ही नहीं है।[2] सन् १८६१ में जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा था कि "समान मतदान सिद्धांततः गलत है......यह बात लाभकारी नहीं बल्कि हानिकारी है कि देश का संविधान ज्ञान के बराबर ही अज्ञान को भी उतनी ही राजनीतिक शक्ति का हकदार घोषित करे।" उसका कहना था कि प्रत्येक निर्वाचक को पढ़ने-लिखने और 'हिसाब लगाने' की योग्यता होनी चाहिए। उसका अनुरोध था कि सार्वजनीन मताधिकार से पूर्व सार्वजनीन शिक्षा होनी चाहिए। सभी निर्वाचक प्रत्यक्ष करदाता होने चाहिए चाहे कर कितना ही कम क्यों न हो, और मतदान गुप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि गुप्त मतदान से मताधिकार की भावना भंग होती है जिसके अनुसार मतदाता जनता का धरोहरधारी है, और उसके कार्य सर्व-विदित होने चाहिए।

जैसा हम इस अध्याय में पहले कह चुके हैं, मिल के काल से सामान्यतया सुधारों ने

---

[1] चेकोस्लोवाकिया के सन् १९४८ के नए संविधान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की कोई चर्चा नहीं है।

[2] इस सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात यह है कि पुर्तगाल में सन् १९३३ के संविधान के अधीन मतदान की एक अपूर्व प्रणाली का सूत्रपात किया गया है। इसमें इकाई व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार का मुखिया होता है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री।

उस प्रतिबन्धपूर्ण मार्ग का अनुसरण नहीं किया है, जो कि उसने निश्चित किया था। इसके विपरीत, प्रवृत्ति दूसरी ही ओर रही है : अर्थात् मताधिकार को प्रत्यक्ष, समान, और सार्वजनीन बनाना, संपत्तिसंबंधी अर्हताओं को घटाना या हटाना, मतदान को गुप्त बनाना; और पंजीकरण को सरल करना। यह सच है कि ब्रिटेन, ब्रिटेन की डॉमिनियनों, संयुक्त-राज्य, और स्कैंडिनेवियाई देशों जैसे अधिक प्रगतिशील राज्यों में, मिल की शिक्षासंबंधी शर्त्तें अधिकतर पूरी हो गई हैं, किन्तु यूरोप के बहुत-से देशों ने अपनी जनसंख्या के एक विशाल भाग के निरक्षर होने के बावजूद पुरुष या वयस्क मताधिकार का समारम्भ कर दिया है। यह बात बाल्कन और पूर्वी यूरोप के राज्यों के बारे में नहीं, बल्कि इटली और स्पेन जैसे पाश्चात्य राज्यों के बारे में भी सही है। किन्तु लोकतंत्र, शासन की एक पद्धति ही नहीं, बल्कि समाज की एक अवस्था भी है। प्रश्न तो बल देने का है। जो इसे केवलमात्र शासन की पद्धति समझते हैं वे प्रातिनिधिक सिद्धान्त को ही उसका सार समझते हैं। जो लोग उसके यंत्र की बजाय उसकी भावना की ओर अधिक ध्यान देते हैं उनके लिए शासन की प्रणाली प्राथमिक महत्त्व की नहीं है, बशर्ते कि उससे लोकतंत्रीय भावना की स्वच्छंद गति में बाधा न पड़े। किन्तु क्या पूर्ण प्रातिनिधिक शासन के यंत्र के बिना उस भावना की स्वच्छन्द गति सुनिश्चित हो सकती है? यदि कुछ आधुनिक राज्यों के, जिनकी कि हम चर्चा कर चुके हैं, लोगों को सार्वजनीन और समान मताधिकार की प्रणाली को आरम्भ करने से पूर्व संस्कृति और स्थायित्व की उचित अवस्थाओं के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती तो उनके विचार से यह निश्चित है कि उन्हें न तो एक के प्रारंभिक फायदे ही प्राप्त होते और न दूसरे के अंतिम लाभ ही।

मताधिकार के प्रश्न से सम्बद्ध एक अन्य समस्या प्रतिनिधि-पद के लिए ऐसे उम्मीदवारों को प्राप्त करना है जो योग्य होने के साथ ही शुद्ध आचरण के भी हों। मताधिकार की कोई भी प्रणाली चाहे वह अधिकतर निरक्षर समाज में हो या किसी सुसंस्कृत राष्ट्र में प्रचलित हो, तब तक किसी प्रकार लाभप्रद नहीं हो सकती जब तक कि ऐसे कार्य के लिए वास्तव में योग्य व्यक्तियों को ढूंढ निकालने का कोई साधन नहीं मिल जाता। प्रातिनिधिक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि प्रतिनिधि या प्रतिपुरुष को इतनी स्वतन्त्रता हो कि वह अपने-आपको सार्वजनिक सेवा में लगा सके, किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता साधारण नागरिक को निश्चय ही प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, संसदीय उम्मीदवार अनिवार्यतः पेशेवर राजनीतिज्ञ होना चाहिए चाहे उसकी सेवा के लिए उसे कुछ दिया जाए या न दिया जाए। अतएव, अच्छा यही होगा कि उसे कुछ दिया जाए और आज के लगभग प्रत्येक सांविधानिक राज्य ने अपने विधि-निर्माताओं को कुछ-न-कुछ देने की योजना अपना ली है। इससे संभवनीय प्रतिनिधियों के वरण का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत हो गया है; हालांकि यह नही कहा जा सकता कि इससे दल के गुट्ट का कुटिल प्रभाव, जो कि सर्वोत्तम प्रकार के स्वतन्त्र प्रतिनिधि का अस्तित्व बहुत कठिन बना देता है, घट गया है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि दलीय यंत्र

राजनीतिक लोकतंत्र के विकास में साथ चलनेवाली एक अनिवार्य बात है। इसकी शक्ति, जैसा कि हम कह चुके हैं, आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अधीन भी घटती नहीं है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि विधानमंडल के अस्तित्व का मूल आधार देश के मत को प्रतिबिम्बित करना ही नहीं, बल्कि अच्छा शासन बनाए रखना भी है। अतएव, निर्वाचन-संबंधी सुधारों की जिन योजनाओं का उद्देश्य सर्वोत्तम प्रकार का विधानमंडल प्रस्तुत करना है उनको आदर्श निर्वाचक-मंडल के कुछ-न-कुछ अंश का बलिदान करना ही पड़ेगा। विधानमंडल में निर्वाचकों के मतों का प्रतिबिम्बित होना केवल आंशिक रूप में ही संभव है और सदा ही वांछनीय नहीं है। निर्वाचन की कोई भी प्रणाली, जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, अधिक-से-अधिक, निर्वाचकों और निर्वाचित सभा के बीच अनुरूपता तक पहुंचने का एक अविहित प्रयास है। शासन अन्ततः शासित किए जानेवाले समाज की अवस्थाओं से सापेक्ष होना चाहिए और लोगों की विशिष्टताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। फिर भी, कुछ राज्यों में प्रातिनिधिक व्यवस्था की स्वयं की पर्याप्तता के संबंध में कुछ सन्देह प्रकट हो रहा है और इस अविश्वास के फलस्वरूप उसके कार्य पर लोकमत-निर्देशन, लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान जैसे कुछ प्रत्यक्ष लोकतंत्रीय नियंत्रणों का प्रयोग किया जा रहा है। इनके विषय में और अधिक हम तृतीय खण्ड में बताएंगे।

प्रश्न

१. आधुनिक काल में राजनीतिक प्रजातंत्र के विकास का क्रम समझाइए।

२. "अभी कुछ पहले तक पुरुष-मताधिकार लैटिन-यूरोप का लक्षण था।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

३. ब्रिटेन में राजनीतिक मताधिकार के इतिहास पर प्रकाश डालिए। आजकल वहां क्या स्थिति है?

४. संयुक्तराज्य के संविधान के उन्नीसवें संशोधन का महत्त्व समझाइए।

५. निर्वाचन-क्षेत्र की परिभाषा कीजिए और बताइए कि आधुनिक राज्यों में उसके रूप किस प्रकार विभिन्न होते हैं?

६. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के विचार का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? उसके मुख्य लक्षण समझाइए।

७. किसी भी यूरोपीय राज्य में, जहां उसका प्रयोग होता हो, आनुपातिक प्रतिनिधित्व कैसे क्रियान्वित होता है, समझाइए।

८. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिए जाते हैं?

९. "समान मतदान सिद्धांत में ही गलत है।" जॉन स्टुअर्ट मिल की इस उक्ति पर विचार कीजिए।

१०. ब्रिटिश निर्वाचन-प्रणाली में किस प्रकार सुधार हो सकता है?

अध्याय ९

विधानमंडल

(२) द्वितीय सदन

१. द्विसदनी संविधानवाद-सम्बन्धी सामान्य विचार

आधुनिक सांविधानिक राज्यों के विधानमंडलों के संबंध में कोई भी चर्चा, जिसमें दूसरे सदन के स्वरूप पर विचार न हो, अपूर्ण ही रहेगी। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और कतिपय राज्यों में तो यह एक ऐसी समस्या है जिसका तात्कालिक महत्त्व है और जिसका अभी तक समाधान नहीं हो सका है। राजनीतिक इतिहास की कोई भी शिक्षा इतनी प्रभावशाली नहीं हुई है जितनी कि दूसरे सदन के उपयोग से संबंधित शिक्षा। बड़े-बड़े राज्यों के इतिहास में एकसदनी संविधानवाद अपेक्षाकृत दुर्लभ और सामान्यतया अस्थायी रहा है, जब कि द्विसदनी संविधानवाद एक ऐसी पद्धति है जो आज के सभी महत्त्व-पूर्ण राज्यों का एक विशिष्ट लक्षण बन गई है। इसके अपवाद पुर्तगाल, फिनलैंड, तुर्की और (सन् १९४८ के संविधान के अधीन) चेकोस्लोवाकिया जैसे छोटे राज्य हैं; हालांकि अब न्यूजीलैंड भी इनमें सम्मिलित हो गया है, जहां, सन् १९५१ में, शायद अस्थायी रूप से, दूसरा सदन समाप्त कर दिया गया है। एकसदनी पद्धति का प्रयोग सामान्यतया क्रांति-कारी पुनर्निर्माण के काल में किया गया है, किन्तु उसके बाद होनेवाली प्रतिक्रिया के काल में अथवा यदि क्रांतिकारी शासन चलता रहा तो उसके दौरान में ही, दूसरे सदन की पुनःस्थापना द्वारा उसका अंत हो गया है, जैसा कि, उदाहरण के तौर पर, क्रॉमवेल के अधीन इंगलैंड में हुआ।

फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अंत में और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रथम और द्वितीय गणतंत्रों के संविधान एकसदनी सिद्धान्त पर आधारित थे। किन्तु प्रथम गणतंत्र में ऐसा मुख्यतया स्वयं क्रांति के क्रम के कारण हुआ जिससे बहुत शीघ्र ही पादरियों, सामंतों और सामान्य जनों के तीन सदनों वाली व्यवस्था की दुर्बलता प्रकट हो गई थी। ऐसी बात नहीं है कि फ्रांसीसी क्रांति एक से अधिक सदनों के विरुद्ध सैद्धान्तिक युक्तियों से रहित हो। उस काल के प्रमुख एवं प्रतिभाशाली संविधानकार **एबे सेईज** का, जिसका प्रथम क्रांति से संबद्ध सांविधानिक प्रयोगों के स्वरूप पर बड़ा प्रभाव पड़ा था, यह तर्क था कि यदि द्वितीय सदन प्रथम से सहमत हो तो उसका अस्तित्व निरर्थक है और यदि वह सहमत नही हो तो वह अपकारक है। मोटे तौर पर आजकल भी द्विसदनी सिद्धांत का वरोध करनेवाले विचारकों की यही धारणा है। किन्तु जिम्मेदार राजनीतिज्ञों में ऐसे

विरोधियों की संख्या बहुत कम है । सेईज के बाद के समय का यह निर्णय है कि उसने एक भ्रांतिपूर्ण तर्क का प्रतिपादन किया है। उसके पश्चात प्रख्यापित सभी महत्त्वपूर्ण संविधानों ने अपने द्वारा स्थापित विधानमंडलों में द्वितीय सदन को सम्मिलित किया है। फिर भी, सेईज की आलोचना को यदि उन प्राचीन संस्थाओं पर प्रयुक्त किया जाए जिनमें बदलते हुए समय के अनुकूल परिवर्तन नहीं किए गए हैं तो वह उचित ही जान पड़ती है। एक ऐसे द्वितीय सदन की रचना करना राजनीतिक शिल्पी की शक्ति के बाहर नहीं है जो वैधानिक पुनरीक्षण के न्यायालय के रूप में काम करे बशर्ते कि उसे निम्न सदन के साथ समान शक्ति दी जाए। किन्तु यदि ऊपरी सदन के सदस्यों का चुनाव लोकतंत्रीय नियंत्रण से परे हो तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों निर्वाचकगण के दावे अधिक जोर पकड़ते जाएंगे त्यों-त्यों ऐसे द्वितीय सदन की शक्ति के क्षीण होने की प्रवृत्ति बढ़ती जाएगी; समान शक्ति का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, और द्वितीय सदन के उत्सादन या सुधार की मांग की जाएगी; क्योंकि जैसा कि **गोल्डविन स्मिथ** ने कहा है, "यह कल्पना करना कि सत्ता महत्त्वपूर्ण विषयों में अपने-आपको निर्बलता से नियंत्रित होने देगी, व्यर्थ है।"

अतएव, द्वितीय सदनों के पक्ष में दी गई युक्तियों पर उस तरीके के साथ-साथ विचार करना चाहिए जिसके अनुसार ऊपरी सदन का संगठन किया जाता है। ये युक्तियां इस प्रकार हैं: कि द्वितीय सदन का अस्तित्व केवल एक सदन द्वारा ऐसे विधान के पारित किए जाने को रोकता है जिसमें जल्दबाजी की गई हो और जिस पर भली प्रकार विचार न किया गया हो; कि केवल एक सभा के पास अनियंत्रित शक्ति की भावना, जिसके अंतर्गत यह चेतना भी है कि उसे केवल अपने-आपसे परामर्श करना है, शक्ति के दुरुपयोग एवं निरंकुशता की ओर अग्रसर करती है; कि राज्य में किसी भी समय प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के विरुद्ध कोई-न-कोई विरोध-केन्द्र होना चाहिए चाहे वह संपूर्ण जनता हो अथवा मतदाताओं के बहुमत का समर्थनप्राप्त कोई राजनीतिक दल। संघीय राज्य में द्वितीय सदन के पक्ष में एक विशेष युक्ति यह है कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार की होती है कि उसमें संघीय सिद्धांत का समावेश होता है अथवा समस्त संघ की इच्छा से पथक् प्रत्येक राज्य की लोक-इच्छा प्रतिष्ठित होती है।

इस अध्याय के शेष विभागों में विभिन्न प्रकार के विद्यमान द्वितीय सदनों की जो विवेचना हमने की है, उसमें हम देखेंगे कि उनके अनेक नाम हैं—ब्रिटेन में हाउस ऑफ लॉर्ड्स; स्विट्जरलैंड में कौंसिल ऑफ स्टेट्स; चतुर्थ गणतंत्र के अधीन फ्रांस में कौंसिल ऑफ दि रिपब्लिक; नए गणराज्य के अधीन इटली में चेंबर ऑफ सिनेटर्स; बॉन संविधान के अधीन जर्मनी में फेडरल कौंसिल; और अधिकतर अन्य राज्यों में सिनेट। किंतु हम इनका वर्गीकरण इनके नामकरण के आधार पर नहीं, बल्कि उनके वास्तविक स्वरूप के आधार पर करते हैं—अर्थात् वे अनिर्वाचित (वंशानुगत या निर्देशित) हैं अथवा निर्वाचित (अंशतः या पूर्णतः) हैं। किन्तु इतने से ही

पूर्णरूपेण निर्वाचित उच्च सदन की प्रथा को अंगीकार कर लिया जैसा सन् १८४८ में संविधान के संशोधन के पश्चात् नीदरलैंड्स में हुआ। इसके पश्चात् भी आस्ट्रिया और हंगरी जैसे देशों में वंशानुगत द्वितीय सदन चलते रहे, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ये भी समाप्त हो गए[1] और अब केवलमात्र महत्वपूर्ण वंशानुगत उच्च सदन ब्रिटेन का हाउस ऑफ लॉर्ड्‌स ही रह गया है।

हाउस ऑफ लॉर्ड्‌स का वास्तविक आरम्भ मुख्य सामंतों और उच्च धर्माधिकारियों के उस निकाय में पाया जाता है जो नार्मन राजाओं से वर्ष में तीन बार परिषद् के रूप में मिला करता था। यह महान् या सामान्य परिषद् कहलाता था। उदाहरणस्वरूप, 'सामान्य परिषद्' नाम मेग्नाकार्टा (महाधिकार-पत्र) में आता है। सन् १९२५ की आदर्श संसद् में एडवर्ड प्रथम ने इस निकाय में प्रत्येक शायर (जिला) से दो नाइट (वीरता की उपाधि-प्राप्त व्यक्ति) और कुछ नगरों, कस्बों एवं शहरों से निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित कर दिए। कुछ समय तक ये सब लोग एक ही स्थान पर सम्मिलित होते थे; परन्तु वास्तव में उनके दो सदन थे। सामाजिक और शासकीय विभिन्नताओं के अतिरिक्त जिस पद्धति के द्वारा वे आमंत्रित किए जाते थे, उससे उनकी विभिन्नता प्रकट होती थी। सामंत और धर्माधिकारी व्यक्तिगत रूप में बुलाए जाते थे जब कि सामान्य जन शेरिफों (जिला अधिकारियों) के द्वारा बुलाए जाते थे। शेरिफों द्वारा आमंत्रण की प्रथा से ही चुनाव पदाधिकारी के पद का सूत्रपात हुआ। एडवर्ड तृतीय के समय से उनके अधिवेशन पृथक् सदनों के रूप में होने लगे। सामंत और बड़े पादरी सामंतसभा में (हॉउस ऑफ लॉर्ड्‌स) और ग्राम्य एवं नागरिक क्षेत्रों के प्रतिनिधि लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) में एकत्रित होने लगे। निम्नवर्ग के पादरियों ने, जो पहले साधारण सभा में उपस्थित होते थे, इन सदनों में उपस्थित होना बन्द कर दिया और कनवोकेशन नामक अपनी स्वयं की सभा में ही वे व्यस्त रहने लगे।

---

[1] सन् १९२० के संविधान के अधीन आस्ट्रिया, निर्वाचित द्वितीय सदन वाला संघीय गणतंत्र बन गया। इस सदन में उन प्रांतों के प्रतिनिधि होते थे जिनसे संघ का निर्माण होता था। किन्तु सन् १९३८ में हिटलर द्वारा आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला दिए जाने से आस्ट्रिया की यह व्यवस्था भी उसकी अन्य संस्थाओं के साथ लुप्त हो गई। सन् १९४५ में जब गणतंत्र की पुनःस्थापना हुई तब एकसदनी विधानमंडल की स्थापना की गई। हंगरी में सन् १९२० के संविधान द्वारा एकसदनी विधानमंडल की प्रतिष्ठा की गई थी परन्तु सन् १९२६ में पुनः एक उच्च सदन की स्थापना की गई जो उसके पिछले द्वितीय सदन की ही तरह का था। किन्तु युद्धोत्तर हंगरी में, जिसकी संस्थाएं अब शक्तिशाली सोवियत् प्रभाव के अधीन हैं, उसकी पुनः-प्रतिष्ठा नहीं की गई।

एडवर्ड प्रथम के शासनकाल से ब्रिटेन के इतिहास में केवल एक छोटी-सी अवधि में ही ऐसा विधानमंडल विद्यमान रहा जिसमें उच्च सदन का अभाव था। यह स्थिति सन् १६४९ में चार्ल्स प्रथम की हत्या के तुरन्त पश्चात् पैदा हुई जब कि वहां अल्पकालीन कॉमनवेल्थ की स्थापना हुई थी। एकसदनी प्रयोग उस क्रांति का तार्किक परिणाम-सा ही था, जिसने कि एक ही धक्के से मुकुट, सामन्तसभा और पादरी मंडल तीनों को समाप्त कर दिया। किन्तु क्रॉमवेल के प्रोटेक्टोरेट के अन्त से पूर्व ही उसे सामन्तसभा को पुनः स्थापित करने के लिए राजी कर लिया गया था और उस समय से इसका अस्तित्व निरन्तर बना हुआ है।

इसका गठन परिस्थितियों के अनुसार सदस्यों की संख्या के घटन-बढ़ने से समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। यहां पर हमें उस विवादास्पद और उत्तररहित प्रश्न को फिर नहीं उठाना चाहिए कि सामंतों को हाउस ऑफ लॉर्ड्‌स में बैठने का अधिकार मूलतः किस आधार पर प्राप्त हुआ। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि बाद के वर्षों में सामंत-पद की प्राप्ति से उच्च सदन में स्थान ग्रहण करने का अधिकार भी निश्चय ही उपलब्ध हो जाता था और आज भी यही स्थिति है। किसी भी सामंत-परिवार का केवल एक ही सदस्य सामन्तसभा में बैठ सकता है, हालांकि उसके पुत्र बेरन की उपाधि को धारण कर सकते हैं। किन्तु यदि उन पुत्रों में से कोई स्वयं ही सामंत बना दिया जाता है तो दूसरी बात है। सामन्त-परिवार के अन्य सदस्य जो सामंतसभा में नहीं बैठ सकते, लोकसभा के लिए उम्मीदवारों के रूप में खड़े हो सकते हैं।[1] सन् १७०७ के एकता अधिनियम के पारित हो जाने पर सामन्तसभा में स्कॉटलैंड के सोलह सामंत और सम्मिलित हो गए। यह प्रबन्ध किया गया कि प्रत्येक नई संसद् के अवसर पर स्कॉटलैंड के समस्त सामंतों का सम्मेलन हो जो उस संसद् की अवधि के लिए अपने सोलह सदस्य निर्वाचित करें। किन्तु इस अधिनियम से यह भी व्यवस्था की गई कि भविष्य में कोई भी स्कॉटलैंड-निवासी स्कॉटलैंड का सामंत नहीं बनाया जाएगा, बल्कि उसे यूनाइटेड किंगडम का सामंत-पद मिल सकेगा, जिससे वह स्वतः ही सामंतसभा में स्थान प्राप्त कर लेगा। चूंकि किसी नई संसद् के लिए स्कॉटलैंड का कोई भी सामंत अपने सहयोगियों द्वारा चुना जा सकता था, इसलिए यह भी उपबन्धित किया गया कि किन्हीं भी परिस्थितियों में

---

[1] इसका एक सुन्दर दृष्टांत स्वर्गीय मार्क्विस ऑफ सेल्जबरी के परिवार से मिलता है। प्रारम्भ में सामन्तसभा में केवल मार्क्विस ही बैठते थे जब कि उनके दो भाई लॉर्ड ह्यू सेसिल और लॉर्ड रॉबर्ट सेसिल लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए। बाद में राज्य की सेवा करने के लिए अपने स्वयं के अधिकार के रूप में इन दोनों भाइयों को सामन्त-पद प्रदान किया गया और लॉर्ड रॉबर्ट, लॉर्ड सेसिल ऑफ चेलवुड के रूप में तथा लॉर्ड ह्यू, लॉर्ड क्विक्सवुड के रूप में सामन्तसभा में सम्मिलित हुए।

वह लोकसभा के लिए निर्वाचित नहीं किया जा सकेगा। सन् १८०० के एकता अधिनियम के द्वारा आयरलैंड के सत्ताईस सामंत और चार बिशप भी इस सदन में सम्मिलित होने लगे। ये सत्ताईस सामंत आयरलैंड के सामंतों द्वारा जीवनभर के लिए निर्वाचित किए जाने थे। अतएव, आयरलैंड का कोई सामंत जो कि सामंतसभा के लिए निर्वाचित नहीं हुआ हो, लोकसभा के लिए निर्वाचित होने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया, हालांकि स्कॉटलैड के संबंध में ऐसी व्यवस्था नहीं की गई थी। इसका दृष्टांत लॉर्ड पामर्स्टन है। आयरलैडसंबंधी ये व्यवस्थाएं सन् १९२२ मे आयरिश स्वतंत्र राज्य की स्थापना के साथ समाप्त हो गई, किन्तु उत्तरी आयरलैंड के सम्बन्ध में वे अब भी संशोधित रूप में लागू हैं। स्कॉटलैडसंबंधी व्यवस्थाएं भी प्रचलित हैं।

इन वंशानुगत और निर्वाचित सामंतों के अतिरिक्त दो आर्कबिशप (केंटरबरी और यार्क के) और चौबीस बिशप अपने पद के आधार पर सामंतसभा में सम्मिलित होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कानूनी लॉर्ड्स अर्थात् साधारण अपील के सामंत भी हैं जो केवल जीवनभर के लिए सदस्य होते हैं जब तक कि वे इस पदेन अधिकार से अलग, साधारण रीति में, सामंत नहीं बना दिए जाते जिस अवस्था में उनकी उपाधि वंशानुगत हो जाती है। वंशानुगत सामंतों की संख्या की कोई सीमा नहीं है। सामन्त, नाममात्र के लिए राजा के द्वारा किन्तु वास्तविक रूप से तत्कालीन मंत्रिमंडल के द्वारा इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं। सामंत-पद प्रदान करने की साधारण पद्धति एक सम्मान-सूची में घोषणा करना है, किन्तु कभी-कभी यह कार्य विशेष परिस्थितियों के वश में अन्य अवसरों पर भी किया जाता है। इतिहास में ऐसा एक प्रसिद्ध अवसर हुआ है जब कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स में वास्तव में एक विधि को पारित करने के लिए सामंत बनाए गए थे। ऐसा तब हुआ जब कि सन् १७१३ में हाउस ऑफ लार्ड्स ने युट्रेक्ट की संधि का अनुमोदन करने से इनकार कर दिया। यह संधि लोकसभा में टोरीदल के बहुमत द्वारा पारित हो गई थी, किन्तु सामन्तसभा में ह्विगदल का बहुमत था। संतुलन को ठीक करने के लिए टोरी मंत्रिमंडल ने रानी एन को बारह सामन्त बनाने के लिए राजी कर लिया और इस प्रकार संधि का अनुमोदन प्राप्त हो गया। इसी प्रकार के दो अन्य संकटपूर्ण अवसरों पर ऐसी ही कार्यवाही की धमकी दी गई थी : एक बार सन् १८३२ के सुधार विधेयक और दूसरी बार सन् १९११ के संसद् विधेयक के संबंध में; किन्तु इन दोनों अवसरों पर केवल धमकी से काम चल गया और दोनों विधेयक सामन्तसभा द्वारा पारित कर दिए गए। इस धमकी से सामन्तसभा के सामने यह स्पष्ट हो गया कि विधेयकों का विरोध करना निरर्थक है।

सन् १९११ तक सामन्तसभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) की शक्तियां सिद्धांतरूप में लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) के समान ही थीं। एक समय में तो वास्तविक रूप में भी ऐसा ही था। उदाहरणस्वरूप, सन् १७८४ में समस्त मंत्रिमंडल में, छोटा पिट ही एकमात्र ऐसा

व्यक्ति था जो उसका प्रधान मंत्री भी था, और जो लोकसभा का सदस्य था। अन्य सब मंत्री सामन्तसभा के सदस्य थे। किन्तु इस समय से पूर्व से ही शक्ति का केन्द्र सामन्तसभा से लोकसभा की ओर सरक रहा था और उन्नीसवीं शताब्दी में मंत्रिमंडल के अधिकतर सदस्य निम्न सदन से लिए जाने लगे थे। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप विधानसम्बन्धी कार्य में सामन्तसभा की वास्तविक शक्तियों का ह्रास होने लगा, हालांकि सिद्धांतरूप में उनकी वैसी ही स्थिति बनी रही जैसी कि सदा से थी। अध्याय ६ में हम बता चुके है कि वित्त-संबंधी विधेयक को संशोधित या अस्वीकार करने में सामन्तसभा की असमर्थता को मान्यता देनेवाले रिवाज का किस प्रकार सन् १९०८ में धृष्टतापूर्वक अनादर किया गया और किस प्रकार उसके फलस्वरूप सन् १९११ के संसद् अधिनियम के द्वारा सामन्तसभा की वास्तविक गौणता को सांविधानिक रूप दिया गया। इसके पश्चात् सन् १९४९ के एक और संसद् अधिनियम के बावजूद, सुधार की समस्या को हल करने का कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया गया।

यहां इस प्रकार के सुधार के आधारों के बारे में सुझाव देने का भी प्रयत्न करना संभव नहीं है। किन्तु सामन्तसभा के इतिहास, गठन और उसकी शक्तियों की इस संक्षिप्त रूपरेखा से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं, जिनका ध्यान उसपर विचार करते समय रखना चाहिए। पहली बात यह है कि सामन्तसभा की शक्तियां, जैसी कि वे संसद् अधिनियमों के पश्चात् रह गई हैं, अब भी कुछ परिस्थितियों में वास्तविक सिद्ध हो सकती हैं। निलम्बन-निषेधाधिकार, जिससे सामन्तसभा किसी भी अवित्तीय विधेयक के पारण को एक वर्ष तक[1] स्थगित कर सकती है, ऐसे विधेयक के पारण को ही आसानी से रोक सकती है, क्योंकि उस एक वर्ष के दौरान में लोकसभा में अनेक परिवर्तन हो सकते है। ऐसी अवधि के दौरान में किए गए साधारण निर्वाचन से लोकसभा में दलों का संतुलन ही परिवर्तित हो सकता है जिससे विवादग्रस्त विधेयक सामन्तसभा के समक्ष पुनः प्रस्तुत ही न हो। दूसरे, इंगलैंड में हाउस ऑफ लॉर्ड्स ही अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। किन्तु इस संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि यह न्यायालय वास्तव में सात या आठ विधि-विशेषज्ञों (सामान्यतः केवल आजीवन सामन्तों) का एक छोटा निकाय होता है और यदि कोई साधारण सामन्त ऐसे न्यायालय में बैठ भी गया तो वह अदालती वातावरण में प्रस्तुत की गई सूक्ष्म सैद्धांतिक बातों को समझने में शायद बिलकुल ही असमर्थ होगा, और फिर किसी भी अवस्था में उसके लिए निर्णय देने का निषेध है। यदि सामन्तसभा को समाप्त कर दिया जाए तब भी अन्तिम अपीलीय न्यायालय की आवश्यकता तो बनी ही रहेगी। तीसरे, यद्यपि अनेक वंशानुगत सामन्तों में लोक-कर्त्तव्य की भावना और विधिनिर्माण की

---

[1] अर्थात् जैसा कि सन् १९४९ के विधेयक के अधीन होता है जिसने सन् १९११ के अधिनियम में निश्चित दो वर्ष की अवधि को घटा दिया।

योग्यता का अभाव है, किन्तु यह आलोचना उन साधारण जनों पर लागू नहीं होती जो लोक-सेवा के पुरस्कार के रूप में सामन्त बनाए जाते हैं। इस संबंध में दो बातें याद रखनी चाहिएं—पहली यह कि यद्यपि सामन्त बनाया जानेवाला व्यक्ति सामान्यतया, जीवन के किसी-न-किसी क्षेत्र में निस्संदेह ही, विशेष योग्यता वाला व्यक्ति होता है तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसका विशेष क्षेत्र विधिनिर्माण ही हो। अधिकतर अवस्थाओं में तो यह होता है कि उसका जीवन अन्य कार्यकलापों से परिपूर्ण रहता है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार बनाए गए सामन्त की उपाधि और उसका पद वंशानुगत होता है। ऐसी परिस्थिति में यह हो सकता है कि उसके उत्तराधिकारी पुत्र में अपने पिता की योग्यता और सार्वजनिक भावना का अभाव हो। जो कुछ भी हो, वास्तविकता यह है कि संसद् अधिनियमों ने सामन्तसभा को उसकी शक्ति के सार से वंचित कर दिया है और उसके गठन को वैसे का वैसा ही रहने दिया है।

सन् १८९३ से, जब सामन्तसभा ने ग्लेड्स्टन के द्वितीय गृहशासन विधेयक को अस्वीकार कर दिया था, सामन्तसभा का सुधार उदार दल के कार्यक्रम का एक मुख्य अंग बन गया, किन्तु एक वित्तीय विधेयक पर सामन्तसभा के दुराग्रह के फलस्वरूप बनाया गया सन् १९११ का संसद् अधिनियम उचित दिशा की ओर एक अस्थायी कदम से अधिक कुछ नहीं समझा गया। इस बीच अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मामलों ने इस समस्या को पीछे ढकेल दिया है। यह सच है कि सन् १९४७ के संसद् विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के बीच संघर्ष के निवारण के साधन के रूप में सन् १९४८ में सुधार की समस्या पर फिर वाद-विवाद हुआ, परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला, और केवल निलम्बन निषेधाधिकार की अवधि को दो वर्ष से घटाकर एक वर्ष करने के प्रस्ताव को, मुख्य प्रश्न से पृथक् रूप में, सांविधानिक रूप दे दिया गया। किन्तु आगामी वर्षों में इस प्रश्न का फिर से सामने आना अनिवार्य-सा ही है क्योंकि वर्त्तमान परिस्थिति से कोई भी संतुष्ट नहीं है। एक ओर तो यह हालत है कि सामन्तसभा के ७०० से अधिक सदस्यों में से अधिकतर सदस्य औपचारिक अवसरों के सिवाय कभी भी उसकी बैठकों में उपस्थित नहीं होते और राजनीतिक यथार्थवाद की मांग है कि ऐसी परिस्थिति नहीं बनी रहनी चाहिए। दूसरी ओर, जो सदस्य उसके अधिवेशनों में भाग लेते हैं उनके वाद-विवाद का स्तर वास्तव में बहुत ऊंचा होता है और यह अनुचित है कि राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में ऐसी प्रतिभा घटनाओं के क्रम को प्रभावित करने में शक्तिहीन रहे। निर्जीव काष्ठ को काटकर फेंक देने और जो महत्त्वपूर्ण शक्ति शेष है उसे राष्ट्रीय लाभ के लिए प्रयुक्त करने की क्या विधि हो सकती है? कदाचित् कुछ अन्य विद्यमान द्वितीय सदनों के परीक्षण से हम उस रूप का पूर्वानुमान कर सकें जो ब्रिटेन के संशोधित उच्च सदन का हो सकता है।

३. कनाडा का निर्देशित द्वितीय सदन

दूसरे प्रकार का द्वितीय सदन, जिस पर हम विचार करेंगे, निर्देशित सदस्यों से गठित होता है। वंशानुगत द्वितीय सदन और इस सदन में स्पष्ट अन्तर यह है कि जहां वंशानुगत सामन्त का पद पिता से पुत्र को प्राप्त होता है और उससे त्यागपत्र नहीं दिया जा सकता, वहां निर्देशित सिनेटर का पद उसकी मृत्यु के साथ अथवा यदि उस पद का धारक चाहे तो उससे भी पूर्व अथवा यदि संविधान के द्वारा पद की कोई निश्चित अवधि निर्धारित हो तो तदनुसार समाप्त हो जाता है। पूर्णरूपेण निर्देशित द्वितीय सदनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे सदन हैं जिनके सदस्य जीवनभर के लिए पद धारण करते हैं। इस प्रकार के द्वितीय सदनों में कनाडा का द्वितीय सदन सबसे अधिक दिलचस्प है।

कनाडा में सिनेट का निर्देशन मुकुट, गवर्नर-जनरल के द्वारा किन्तु व्यावहारिक रूप में तत्कालीन मंत्रिमंडल की सलाह से, करता है। इसकी सदस्य-संख्या सीमित है और चूंकि कनाडा एक अर्द्ध-संघीय राज्य है, एकात्मक नहीं, अतः संख्याओं और प्रांतों के बीच एक अनुपात के आधार पर सिनेटरों की नियुक्ति के संबंध में कुछ प्रादेशिक प्रतिबन्ध हैं। यह निर्देशित सिनेट कनाडा को लागू होनेवाले सभी क्रमिक सांविधानिक अधिनियमों, सन् १७९१ के पिट के अधिनियम, सन् १८४० के कनाडा अधिनियम और सन् १८६७ के उत्तरी अमरीका अधिनियम में विधानमंडल का एक अंग रही है। कनाडा का शासन आज भी इस अन्तिम-वर्णित अधिनियम के अधीन होता है। इस अधिनियम के द्वारा ७२ सदस्यों—तीनों मूल प्रान्तों में से प्रत्येक के लिए चौबीस सदस्यों (इस प्रयोजन के लिए दोनों समुद्री प्रांत एक ही माने गए थे)—की एक सिनेट का संगठन किया गया था। किन्तु डॉमिनियन के विस्तार और नए प्रांतों के सम्मिलित किए जाने के साथ समानता का यह सिद्धान्त कायम नहीं रखा गया। अधिनियम में कहा गया था कि जब प्रिंस एडवर्ड द्वीप-समूह संघ में सम्मिलित हो तब उसका प्रतिनिधित्व चार सिनेटरों द्वारा होना चाहिए और अन्य दोनों समुद्री प्रान्तों की सदस्य-संख्या बदलकर दस-दस हो जानी चाहिए। ऐसा हो गया है।

सन् १८७१ के एक अधिनियम द्वारा कनाडा की संसद् को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी नए प्रांत के लिए, जो बनाया जाए और डॉमिनियन में सम्मिलित किया जाए, नए सिनेटर सम्मिलित कर सकती है। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल (अर्थात् मंत्रिमंडल) को प्रदत्त एकमात्र शक्ति यही है कि वह तीन से छह तक सदस्य और सम्मिलित कर सकता है, जो तीनों मूल प्रांतों में से समान रूप से लिए जाएंगे। दूसरे शब्दों में, छह अतिरिक्त सदस्य निर्देशित किए जा सकते हैं किन्तु इससे अधिक नहीं और संभवतः उनकी संख्या की सीमा यही रह सकती है। इन व्यवस्थाओं का परिणाम यह हुआ है कि आज कनाडा की सिनेट में १०२ सदस्य हैं, किन्तु विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधियों की संख्या चौबीस

से चार तक है। सिनेटर का निर्देशन जीवनभर के लिए किया जाता है किन्तु इसमें कुछ शर्तें होती हैं। उसकी आयु कम-से-कम तीस वर्ष होनी चाहिए; उसे उस प्रांत का जिसके लिए वह नियुक्त किया जाता है, निवासी, ब्रिटिश प्रजा और कम-से-कम ४,००० डालर मूल्य की संपत्ति का स्वामी होना चाहिए। वह जब कभी चाहे त्यागपत्र दे सकता है और यदि वह लगातार दो सत्रों से अनुपस्थित रहे, अपनी राज्यभक्ति बदल दे, दिवालिया हो जाए, किसी संगीन अपराध का दोषी सिद्ध हो, या अर्हताओं से वंचित हो जाए तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देना पड़ता है।

कनाडा की सिनेट असंभव को संभव करने का प्रयत्न करती है। संविधान ने वंशानुगत सिद्धांत के स्थान पर आजीवन निर्देशन की योजना को अंगीकार करते हुए सिनेट को हाउस ऑफ लॉर्ड्स के नमूने पर गठित करने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही उसने ऐसी बात करनी चाही जैसी कि वह केंद्रीय शक्ति द्वारा वरण की प्रणाली को जारी रखते हुए नहीं कर सकता था—अर्थात् संघीय तत्त्व को बनाए रखना। ऐसा तो संघ का निर्माण करनेवाले राज्यों के बीच समानता के आधार पर ही किया जा सकता है, जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य अपने सिनेटरों का वरण स्वयं करता है। संविधान ने जो कुछ किया है वह इतना ही है कि तीनों मूलप्रांतों की चौबीस-चौबीस सदस्यों की संख्या बढ़ाई या घटाई नहीं जा सकती। किन्तु अब तीसरे मूलप्रांत में तीन—अर्थात् न्यू ब्रंसविक, नोवास्कोशिया और प्रिंस एडवर्ड—द्वीप-समूह है, जिनमें से दो के दस-दस सिनेटर और तीसरे के चार सिनेटर होते हैं जब कि न्यूफाउंडलैंड सहित शेष प्रांतों में से प्रत्येक के छह सिनेटर होते हैं। इन विरोधी बातों का असर कनाडा की सिनेट की प्रतिष्ठा पर पड़ा है जिसे कि न तो निर्वाचित द्वितीय सदन की जैसी शक्ति और न संघीय तत्त्व को समाविष्ट करनेवाले उच्च सदन की उपयोगिता ही प्राप्त है। इस प्रकार का उच्च सदन कैसा होना चाहिए, यह हम आगे के एक खंड में देखेंगे।

४. अंशतः निर्वाचित उच्च सदन

(क) दक्षिणी अफ्रीका में सिनेट

अंशतः निर्वाचित सिनेट का एक दिलचस्प उदाहरण दक्षिणी अफ्रीका में पाया जाता है। सन् १९०९ के अधिनियम द्वारा, जिसके अनुसार सन् १९१० में वर्त्तमान संविधान अस्तित्व में आया, पहले दस वर्षों के लिए अस्थायी व्यवस्था की गई जिसके पश्चात् यदि दक्षिणी अफ्रीका की संसद् ने सिनेट के गठन को परिवर्तित करने के लिए कोई अधिनियम पारित न किया तो निम्नलिखित स्थायी व्यवस्था लागू होनी थी। जैसा कि आरम्भ में प्रबन्ध किया गया था सिनेट में चालीस सदस्य हैं।[1] इनमें से आठ स-परिषद् गवर्नर-जनरल द्वारा

---

[1] **सन् १९५० में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका से चार सदस्य लिए जाने पर यह संख्या बढ़ाकर चवालीस कर दी गई। इनके सम्बन्ध में निर्वाचन-प्रक्रिया उसी प्रकार की है जैसी यहां वर्णित है।**

निर्देशित किए जाते है, जिनमें चार देसी समस्याओं के संबंध में अपने विशेष ज्ञान के कारण निर्देशित किए जाते हैं। अन्य बत्तीस सदस्यों का निर्वाचन इस प्रकार होता है : संघ के चारों प्रांतों में से प्रत्येक प्रांत आठ सदस्य भेजता है जिनका निर्वाचन प्रांतीय परिषद् और संबद्ध प्रांत से संघ की लोकसभा के लिए निर्वाचित सदस्य मिलकर संक्रमणीय मत के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। सिनेट की कार्यावधि साधारणतः दस वर्ष हैं, किन्तु दोनों सदनों के बीच पैदा हुई उलझन को (प्रथम दस वर्षो के अवसान के पश्चात्) दूर करने के लिए संविधान में दिए गए उपायों में से एक उपाय यह है कि गवर्नर-जनरल लोकसभा तथा सिनेट दोनों को उनकी कार्यावधि की समाप्ति से पहले भंग कर सकता है । किन्तु इससे निर्देशित सिनेटरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो किसी भी अवस्था में अपने पद पर दस वर्ष के लिए बने रहते हैं । दक्षिणी अफ्रीका की राजनीति में सिनेट का पर्याप्त महत्त्व है। इसका एक कारण तो उसको आमंत्रित करने की रीति है और दूसरा कारण यह तथ्य है कि उसमें मंत्रिगण बोल सकते है चाहे वे निम्न सदन के ही सदस्य हों।

दक्षिणी अफ्रीका के राज्य की एकात्मकता, जिस पर कि हमने अध्याय ४ में बल दिया है,इसके ही द्वारा कायम रखी गई है। अनिर्वाचित सिनेटरों का निर्देशन केन्द्रीय सत्ता के हाथों में है और शेष सिनेटरों का निर्वाचन, स्थानीय रूप से होने पर भी, अधिकांश में केन्द्र के नियंत्रण के अधीन है; क्योंकि प्रांतीय परिषदों के साथ मतदान में लोकसभा के सदस्य भी भाग लेते हैं, और फिर किसी भी अवस्था में संविधान के अनुसार दक्षिणी अफ्रीका की संसद् पर सिनेट के गठन और निर्वाचन की पद्धति में अपनी इच्छानुसार परिवर्तित करने में कोई रुकावट नहीं है ।

(ख) आयर की सिनेट

सन् १९३७ के संविधान के अधीन आयर की सिनेट का आकार वैसा ही है जैसा कि आयरिश स्वतंत्र राज्य (सन् १९२२) के संविधान द्वारा स्थापित सिनेट का था, किन्तु उसके निर्माण की रीति में एक बड़ा अन्तर है। पहली सिनेट पूर्णरूपेण निर्वाचित थी जब कि वर्त्तमान सिनेट अंशतः निर्देशित है। इसके अतिरिक्त आयर की सिनेट में व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व भी होता है जब कि मूल संविधान के अनुसार ये हित राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली तदर्थनिर्मित परिषदों में ही केन्द्रित थे । यह योजना अब त्याग दी गई है ।

आयरिश स्वतंत्र राज्य की सिनेट में साठ सदस्य होते थे जो बारह वर्ष तक पद धारण करते और जिनमें से एक-चौथाई हर तीसरे वर्ष अलग हो जाते थे। इनका आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होता था और समस्त राज्य एक निर्वाचन-क्षेत्र होता था । किन्तु निर्वाचन के लिए उम्मीदवार बनने की शर्त्तें बहुत कड़ी थी । संविधान ने निर्धारित किया था कि केवल वे ही नागरिक उम्मीदवार

हो सकेंगे जो पैंतीस वर्ष के हो चुके हों और जिनसे राष्ट्र को सम्मान प्राप्त हुआ हो या जो विशेष अर्हताओं या सफलताओं के बल पर राष्ट्रीय जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हों। प्रत्येक निर्वाचन से पूर्व एक सूची तैयार की जाती थी जिसमें निर्वाचन की अर्हता रखनेवाले व्यक्तियों के नाम होते थे। सूची में दिए गए नामों की संख्या निर्वाचित किए जानेवाले सदस्यों की संख्या से तिगुनी होती थी। इनमें से दो-तिहाई का निर्देशन प्रतिनिधि-सभा द्वारा और एक-तिहाई का सिनेट द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अधीन मतदान द्वारा किया जाता था। इस सूची में सिनेट के किसी ऐसे पिछले या निवृत्त होनेवाले सदस्य का नाम भी जोड़ दिया जाता था जो प्रधान मंत्री को लिखित रूप में खड़े होने की अपनी इच्छा की सूचना देता था।

सन् १९२२ के संविधान के अधीन सिनेट की योजना उस समय अत्यधिक सैद्धांतिक प्रतीत हुई। उसकी शक्तियां भी बहुत सीमित थीं चूंकि वित्तीय विधायन में उसका कोई हाथ नहीं था और अ-वित्तीय विधेयकों के संबंध में भी उसे केवल निलंबन-निषेधाधिकार प्राप्त था जो प्रायः ग्रेट ब्रिटेन में सामंतसभा के वैसे ही अधिकार के समान था। नए संविधान द्वारा किए गए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मुख्य रूप से दो अनुच्छेदों में हैं। अनुच्छेद १८ के अधीन, सिनेट के साठ सदस्यों में से ग्यारह (प्रधान मंत्री द्वारा) निर्देशित किए जाते हैं और उनन्चास निर्वाचित होते हैं। कोई भी नागरिक अर्थात् इक्कीस वर्ष का कोई भी पुरुष अथवा स्त्री जो प्रतिनिधि-सदन का सदस्य निर्वाचित होने योग्य है, सिनेट के लिए निर्वाचित होने योग्य भी है। उनन्चास निर्वाचित सदस्यों में से छह दो विश्वविद्यालयों द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं और बाकी तेंतालीस कुछ नियमों के अधीन निर्मित उम्मीदवारों की सूचियों में से निर्वाचित किए जाते हैं। प्रत्येक निर्वाचन से पूर्व संस्कृति, साहित्य, कला और शिक्षा, कृषि एवं तत्संबंधी अन्य कार्यों, बैंकिंग, शिल्पकला और इंजीनियरी समेत श्रम, उद्योग और वाणिज्य, लोक-शासन और सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में विख्यात व्यक्तियों की पांच सूचियां बनाई जाती हैं। एक सूची में से अधिक-से अधिक ग्यारह और कम-से-कम पांच सदस्य निर्वाचित किए जा सकते हैं। सिनेट के लिए साधारण निर्वाचन प्रतिनिधि-सभा के विघटन के पश्चात् अधिक-से-अधिक नव्वे दिन में हो जाना चाहिए और प्रत्येक सदस्य, यदि उसकी पहले ही मृत्यु नहीं हो जाती या वह त्यागपत्र नहीं दे देता या उसमें अनर्हता पैदा नहीं हो जाती, प्रतिनिधि-सभा के साधारण निर्वाचन के मतदान-दिवस से पूर्व के दिन तक पद धारण करेगा।

निर्वाचन की उपर्युक्त प्रणाली के आधार में परिवर्तन के लिए अनुच्छेद १९ द्वारा अनुमति दी गई है जिससे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व भी शामिल किया जा सके। इस अनुच्छेद में कहा गया है :—

"विधि द्वारा यह उपबन्ध किया जा सकेगा कि सिनेट के इतने सदस्य जितने कि उस विधि द्वारा नियत किए जाएं, इस संविधान के अनुच्छेद १८ के अधीन

निर्मित उम्मीदवारों की तत्समान सूचियों में से निर्वाचित किए जानेवाले सदस्यों की उतनी ही संख्या के स्थान पर किसी व्यवसाय अथवा पेशेसंबंधी समुदाय, संस्था या परिषद् द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा निर्वाचित किये जाएं।"

(ग) स्पेन की पुरानी सिनेट

सन् १९३२ के स्पेन के गणतंत्रीय संविधान के अधीन, जिसे कि फ्रांको ने समाप्त कर दिया, एकसदनी विधानमंडल की स्थापना हुई थी, यद्यपि सन् १८७६ के संविधान के अधीन द्विसदनी प्रणाली चल रही थी। मूल संविधान के अधीन द्वितीय सदन सिनेट था जो वर्त्तमान अधिनायकशाही के स्थान पर पुनः राजतंत्र की स्थापना की अवस्था में फिर से प्रवर्त्तित हो सकता है। ऐसा हो या न हो, किन्तु स्पेन की पुरानी सिनेट का अध्ययन हमारे लिए विशेष महत्त्व का है क्योंकि यह कहा जाता है कि उसका गठन ऐसा है जो ब्रिटेन में संशोधित हाउस ऑफ लॉर्ड्स के लिए शायद नमूने का काम दे सकता है। स्पेन की प्रारम्भिक सिनेट में ३६० सदस्य थे जिनमें से आधे अपने स्वयं के अधिकार पर (राजकुमार, कुछ निश्चित आय वाले सरदार आदि) सिनेटर, पदेन सदस्य (जैसे आर्चबिशप, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान आदि) और जीवनभर के लिए राजा (अर्थात् मंत्रिमंडल) द्वारा निर्देशित सदस्य होते थे। इन शीर्षकों के अधीन कुल संख्या १८० से अधिक कभी भी नहीं हो सकती थी, और निर्देशित सदस्य तथा शेष १८०, जो कि निर्वाचित किए जाने थे, कुछ विशिष्ट श्रेणियों में से ही लिए जा सकते थे। इनका निर्वाचन इस प्रकार होता था: (१) नौ आर्चबिशप-क्षेत्रों में से प्रत्येक के पादरियों द्वारा एक; (२) छह राजकीय विद्यानिकेतनों में से प्रत्येक द्वारा एक; (३) दस विश्वविद्यालयों में से प्रत्येक द्वारा एक; (४) कतिपय आर्थिक समाजों द्वारा पांच; (५) शेष १५० सिनेटर स्पेन के प्रत्येक प्रांत में निर्वाचक-मंडलों द्वारा निर्वाचित होते थे। इस निर्वाचक-मंडल में नगरपालिका के सदस्यों और शहरी एवं नगरपालिका-प्रदेशों में सबसे अधिक कर देनेवालों में से वरित किए गए प्रतिनिधि होते थे। सिनेट का निर्वाचित भाग निम्न सदन के साथ विघटित हो जाता था, चाहे उसकी वैध अवधि पूरी हुई हो या न हुई हो। मंत्रिगण स्पेन के विधानमंडल के दोनों सदनों में बोल सकते थे। इससे साधारण समयों में सिनेट को कुछ अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रहती थी।

५. एकात्मक राज्य में निर्वाचित द्वितीय सदन

एकात्मक राज्य में पूर्णरूपेण निर्वाचित द्वितीय सदन के गठन और उसकी शक्तियों का अध्ययन ब्रिटेन के लोगों के लिए विशेष रूप से दिलचस्प होना चाहिए क्योंकि ब्रिटेन एकात्मक राज्य है। यहां हम द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पुनर्गठित फ्रांस और इटली को उदाहरण के रूप में लेते हैं।

(क) फ्रांस में गणतंत्र परिषद्

सन् १९४६ में प्रख्यापित चतुर्थ फ्रांसीसी गणतंत्र के संविधान के अधीन संसद् में दो सदन, राष्ट्रीय सभा—पहले का प्रतिनिधि-सदन, और गणतंत्र परिषद्—पहले की सिनेट हैं, जिनका राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए पहले की तरह संयुक्त अधिवेशन होता है। किन्तु नए संविधान में एक तीसरी सभा की भी प्रतिष्ठा की गई है, जो तृतीय गणतंत्र में नहीं थी। यह 'फ्रांसीसी यूनियन' कहलाती है, और उसका संबंध फ्रांस और उसके साम्राज्य के कार्यों से है। इस यूनियन में दो सदन हैं: उच्च परिषद्, और सभा; और इसमें फ्रांस (Metropolitan France) और समुद्रपार के डिपार्टमेंटों एवं क्षेत्रों के (पहले सिनेट में प्रतिनिधित्वप्राप्त) प्रतिनिधि होते हैं। गणतंत्र का राष्ट्रपति यूनियन का भी राष्ट्रपति होता है, जिसका कार्य संसद् को सभी साम्राज्यिक हित सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देना होता है। फ्रांस के लिए यह एक बिलकुल ही नया सांविधानिक साधन है, जिसका प्रयोजन ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के साम्राज्यिक सम्मेलनों के समान प्रतीत होता है; हालांकि इसका गठन और इसकी कार्यविधि कहीं अधिक सूक्ष्मता के साथ निरूपित है। वास्तव में, संविधान का इस नई संस्था से सम्बद्ध तेईस अनुच्छेदों वाला लम्बा अध्याय (८) संविधान-निर्माण में फ्रांसीसियों की उस यथार्थता का बहुत सुन्दर दृष्टांत है जिसकी हम चर्चा कर चुके हैं और यह सांविधानिक प्रश्नों के प्रति ब्रिटेन और फ्रांस की भावनाओं और उनके दृष्टिकोणों के अन्तर का अच्छा उदाहरण है। किन्तु केवल समय और प्रयोग से ही यह पता चल सकेगा कि जिस सूक्ष्मता एवं यथार्थता के साथ यह बनाया गया है उससे उसका प्रयोजन पूरा होगा या नहीं। इनके अतिरिक्त एक आर्थिक परिषद् भी स्थापित की गई है जिसके विषय में हम बाद के एक अध्याय में विचार करेंगे।[1]

यहां पर हमारा संबंध विशेषकर गणतंत्र परिषद् से है। यह तृतीय गणतंत्र की सिनेट से कई प्रकार से भिन्न है। उस सिनेट में ३०० सदस्य होते थे जिनकी पदावधि नौ वर्ष की होती थी और प्रति तीसरे वर्ष एक-तिहाई नए सदस्य निर्वाचित होते थे। प्रतिनिधि-सदन के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते थे, किन्तु सिनेट के सदस्य अनेक डिपार्टमेंटों और उपनिवेशों में उस प्रयोजन के लिए गठित निर्वाचक-मंडलों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किए जाते थे। सांविधानिक दृष्टि से वित्तीय मामलों के सिवाय और सभी मामलों में सिनेट की शक्तियां प्रतिनिधि-सदन की शक्तियों के समान थीं। सिनेट अक्सर मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर देती थी और प्रतिनिधि-सदन का विघटन उसके वैध कार्यकाल से पूर्व सिनेट की सम्मति के बिना नहीं हो सकता था, हालांकि व्यवहार में ऐसा विघटन तृतीय गणराज्य के अस्तित्व के प्रथम कुछ वर्षों के पश्चात् नहीं हुआ।

---

[1] पृष्ठ २९२-२९४ देखिए।

चतुर्थ गणराज्य के संविधान के अनुसार सदनों के आकार और कार्यकाल के प्रश्न साधारण विधायक प्रक्रिया पर छोड़ दिए गए हैं किन्तु पहले का यह नियम कायम रखा गया है कि दोनों सदन प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित होंगे और जहां राष्ट्रीय सभा का निर्वाचन (अब स्त्रियों समेत) सार्वजनिक प्रत्यक्ष मताधिकार द्वारा होता है, वहां गणतंत्र परिषद् कम्यूनों और डिपार्टमेंटों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होती है।[१] किन्तु अब गणतंत्र परिषद् के आधे सदस्य ऐसे होते है जो प्रति तीसरे वर्ष निर्वाचित होते हैं, जब कि पहले सिनेट में ऐसे सदस्यों की संख्या एक-तिहाई होती थी। इसके साथ ही अब यह उपबन्ध भी है कि राष्ट्रीय सभा स्वयं भी परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या के अधिक-से-अधिक छठे हिस्से को निर्वाचित कर सकती है और परिषद् के सदस्यों की संख्या राष्ट्रीय सभा के सदस्यों की संख्या की एक-तिहाई से कम या आधी से अधिक नहीं हो सकती।

जहां तक गणतंत्र परिषद् की शक्तियों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि वह वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात नहीं कर सकती; परन्तु समयसंबंधी कुछ प्रतिबन्धों के अधीन वह राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित विधेयकों पर संशोधन प्रस्तावित कर सकती है। दूसरे, अ-वित्तीय विधेयक राष्ट्रीय सभा द्वारा गणतंत्र परिषद् को प्रेषित किए जाते हैं और परिषद् को उन पर अपना निर्णय देने में उससे अधिक समय नहीं लेना चाहिए जितना कि राष्ट्रीय सभा ने लिया हो। यदि परिषद् विधेयक का अनुमोदन कर दे या यदि वह निश्चित समय के अन्दर कोई निर्णय नही कर सके तो विधेयक विधि बन जाता है। यदि परिषद् संशोधन प्रस्तुत करती है तो वे राष्ट्रीय सभा के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के द्वारा अन्तिमरूपेण अस्वीकार किए जा सकते है।

(ख) इटली के गणतंत्र में सिनेटर-सदन

इटली के नए गणतंत्र में संसद् का द्वितीय सदन मूल संविधान के अधीन द्वितीय सदन से मौलिक रूप में भिन्न है, क्योंकि पहले इटली की सिनेट निर्देशित होती थी और अब वह निर्वाचित होती है। राजतंत्र के अधीन सिनेट में राजवंश के राजकुमार और राजा द्वारा केवल कुछ वर्गों में से जीवनभर के लिए निर्देशित सदस्य ही होते थे। उनमें गिरजा के धर्माधिकारी, कुछ निश्चित वर्षों तक निम्न सदन में सेवा किए हुए सदस्य, विज्ञान और साहित्य में ख्यातिप्राप्त व्यक्ति, और वे व्यक्ति भी होते थे जिन्होंने राज्य की विशिष्ट सेवा की हो। सिनेटरों

---

[१] सन् १९४६ में पारित एक विधि के द्वारा यह उपबन्धित किया गया है कि गणतंत्र परिषद् में ३१५ सदस्य होंगे जो इस प्रकार वितरित होंगे : (१) फ्रांस के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित २०० सदस्य, (२) राष्ट्रीय सभा द्वारा निर्वाचित ५० सदस्य, (३) अल्जीरिया के क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित १४ सदस्य, (४) फ्रांस के समुद्रपार के क्षेत्रों और डिपार्टमेंटों की प्रादेशिक सभाओं और सामान्य परिषदों द्वारा निर्वाचित ५१ सदस्य। यह भी उपबन्धित किया गया है कि परिषद् के लिए उम्मीदवार की आयु कम-से-कम ३५ वर्ष होनी चाहिए।

की संख्या की कोई सीमा नहीं थी और चूंकि उनकी नियुक्ति वास्तव में तत्कालीन मंत्रिमंडल के हाथों में थी, इसलिए कभी-कभी इस शक्ति का प्रयोग सिनेट से विधियां पारित कराने के लिए किया जाता था। उदाहरणस्वरूप, सन् १८९० में एक ही समय में ७५ सिनेटर नियुक्त किए गए थे। यही कारण है कि मुसोलिनी को निगम-राज्य के निर्माण के लिए सिनेट के स्वरूप में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी जैसा उसने प्रतिनिधि-सदन में किया, क्योंकि एच० फायनर के कथनानुसार[1] राजा ने कृपाकर सिनेट को फासिस्टों से भर दिया। राजतंत्र के अधीन इटली में सिनेट की शक्तियां कानूनी दृष्टि से प्रतिनिधि-सदन के समान थीं, किंतु व्यवहार में, नियुक्ति की पद्धति के कारण, निम्न सदन द्वारा पारित किसी व्यवस्था के लिए उच्च सदन की सम्मति बलपूर्वक प्राप्त की जा सकती थी। वास्तविकता तो यह है कि फासिस्ट अधिनायकतंत्र के प्रादुर्भाव से पूर्व ही सिनेट प्रतिनिधि-सदन के साथ अपनी समानता खो चुकी थी।

नए गणतंत्रीय संविधान के द्वारा प्रतिनिधि-सदन और सिनेटर-सदन से युक्त संसद् की स्थापना की गई है। ये दोनों सदन गणतंत्र के राष्ट्रपति के निर्वाचन एवं युद्ध की घोषणा जैसे प्रयोजनों के लिए एक संयुक्त अधिवेशन में समवेत होते हैं। सिनेटर-सदन का निर्वाचन प्रादेशिक आधार पर होता है; प्रत्येक प्रदेश के अपनी जनसंख्या के प्रति दो लाख के लिए एक सिनेटर के अतिरिक्त पांच सिनेटर होते हैं, किन्तु किसी भी प्रदेश के सिनेटरों की संख्या प्रतिनिधि-सदन के लिए उसके सदस्यों की संख्या से अधिक नहीं हो सकती।[2] प्रत्येक प्रदेश के एक-तिहाई सिनेटर प्रादेशिक परिषद् द्वारा और दो-तिहाई पच्चीस वर्ष या उससे अधिक की आयु वाले सब नागरिकों के प्रत्यक्ष सार्वलौकिक मताधिकार द्वारा निर्वाचित होते हैं। कोई भी नागरिक जो तीस वर्ष का न हो चुका हो, सिनेटर-पद के लिए उम्मीदवार नहीं हो सकता और इस सीमा के अन्दर आनेवाले पात्रों की श्रेणियां संविधान में स्पष्टतापूर्वक निरूपित की गई हैं। इनमें मुक्तियुद्ध (१९४३-४५) में वीरता के लिए सम्मानित व्यक्ति अथवा वे व्यक्ति जो पक्षकारों की एक टुकड़ी के कमांडर का या उससे ऊंचा दर्जा धारण करते थे, पिछले राष्ट्रपति, मंत्रिगण और राज्य-सचिव, संविधान-सभा या प्रतिनिधि-सभा के सदस्य, और पिछली सिनेट के सदस्य जो कि निंद्य नहीं ठहराए गए हैं, वे व्यक्ति जो प्रादेशिक परिषद् के सदस्य के रूप में चार वर्ष पूरे कर चुके हैं, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर और अनेक विद्वत् एवं शास्त्रीय संस्थाओं के सदस्य, एक निश्चित कोटि के सार्वजनिक पदों के धारक, और मजिस्ट्रेट, और कुछ शर्तों के अधीन वाणिज्यिक संस्थाओं, व्यावसायिक संस्थाओं और इसी प्रकार के अन्य निकायों के सदस्य होते हैं।

सिनेटर-सदन का कार्यकाल प्रतिनिधि-सदन की ही तरह पांच वर्ष है, और प्रतिनिधियों की ही तरह सिनेटरों को वेतन दिया जाता है। दोनों सदनों को विधेयकों

---

[1] 'मुसोलिनी का इटली' नामक पुस्तक का पृष्ठ २५७, पादटिप्पणी।

[2] गणतंत्रीय इटली के प्रादेशिक संगठन के लिए पहले का पृष्ठ ८८ देखिए।

का सूत्रपात करने की समान शक्तियां प्राप्त हैं। ऐसी ही शक्ति प्रवर्त्तक सिद्धांत के द्वारा जनता को भी प्राप्त है।[1] किन्तु विधेयक सबसे पहले प्रत्येक सदन द्वारा विशेष रूप से नियुक्त एक जांच-आयोग के समक्ष प्रस्तुत किए जाने चाहिए। एक सदन में प्रस्तुत और पारित विधेयक दूसरे सदन को प्रेषित किया जाना चाहिए जिसे अपना निर्णय तीन महीने के अन्दर दे देना चाहिए, जब तक कि इस अवधि को बढ़ाने के लिए दोनों सदन सहमत न हो जाएं। यदि वह सदन, जिसको दूसरे सदन से विधेयक प्रा त हुआ है, निर्धारित अवधि के अन्दर निर्णय नहीं करता है या यदि उसे अस्वीकार कर देता है, तो राष्ट्रपति उसे लोक-निर्देशन के लिए प्रस्तुत करेगा और जनता का निर्णय अन्तिम होगा। अतएव, कम-से-कम कागजी रूप में तो यही प्रतीत होता है कि इटली के नए गणतंत्र की संसद् के उच्च सदन को वैसी ही शक्ति और प्रतिष्ठा प्रदान करने का आशय है, जैसी कि निम्न सदन को प्राप्त है; किन्तु समय और अनुभव ही बताएगा कि यह पूर्ण समानता व्यवहार में कहां तक बनी रह सकती है।

६. संघीय राज्य में निर्वाचित सिनेट

जिन दो पूर्ण संघीकृत राज्यों अर्थात् अमरीका के संयुक्तराज्य और आस्ट्रलिया की हम पहले चर्चा कर चुके हैं, उनकी सिनेटों में तीन विशिष्ट लक्षण पाए जाते हैं। पहला, दोनों राज्यों में सिनेट में संघ का निर्माण करनेवाले राज्यों के प्रतिनिधि बराबर होते हैं। यह समानता एक अत्यावश्यक लक्षण है क्योंकि वास्तविक संघ में वह प्रभुसत्ता, जिसका कि संघबद्ध होनेवाली इकाइयों ने त्याग किया है, ऐसे निकाय के हाथों में नहीं छोड़ दी जानी चाहिए जो उनके नियंत्रण के बाहर हो या जिसमें उनमें से किसी एक की शक्ति औरों के मुकाबले में अत्यधिक हो। दूसरे, दोनों राज्यों में सिनेटर पृथक् रूप से सदस्य-राज्यों से और उन्हीं में से निर्वाचित होते हैं। यह निर्वाचन संघीय सत्ता के हस्तक्षेप के बिना ऐसी रीति से होता है जिसमें लोक-निर्वाचन और राज्यों की वैयक्तिकता दोनों के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। तीसरे, सिनेटर की पदावधि इस प्रकार निर्धारित होती है कि सिनेट के जीवन की निरन्तरता सुनिश्चित हो जाती है। ऐसी निरन्तरता अमरीका में पूरी तरह प्राप्त है, हालांकि आस्ट्रेलिया में ठीक ऐसी स्थिति नहीं है। इसके कारणों का हम अभी वर्णन करेंगे। एक समय पर सिनेट के केवल एक भाग के निवृत्त होने की यह पद्धति ही ऐसे राज्यों में उच्च सदन को निम्न सदन से विभेदित करती है और उच्च सदन को जन-नियंत्रण और सम्पर्क से हटाए बिना आदरणीयता से सबद्ध प्रतिष्ठा प्रदान करती है।

(क) संयुक्तराज्य

संयुक्तराज्य की सिनेट में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ९६ सदस्य होते हैं (४८ राज्यों में से प्रत्येक के दो)। सिनेटरों की पदावधि छह वर्ष है और प्रति दूसरे वर्ष एक-तिहाई

---

[1] बाद का अध्याय १३ देखिए।

सिनेटर रिटायर होते हैं। इस प्रकार छह वर्ष की प्रत्येक अवधि में किसी एक राज्य में दो बार सिनेटसंबंधी निर्वाचन होते हैं, अर्थात् दो वर्ष की प्रत्येक अवधि के अन्त में और बाद में एक निर्वाचन नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, यदि न्यूयार्क राज्य में (सन् १९४७ में प्रारम्भ होनेवाली कांग्रेस के लिए) सन् १९४६ में एक सिनेटर का निर्वाचन हुआ हो तो वह सन् १९५३ तक रिटायर नही होगा। इसलिए यदि उसी राज्य ने (सन् १९४९ के लिए) सन् १९४८ में भी एक सिनेटर निर्वाचित किया हो तो (सन् १९५१ के लिए) सन् १९५० में न्यूयॉर्क राज्य में सिनेटसंबंधी कोई निर्वाचन नहीं होगा। मूल संविधान में यह व्यवस्था मूल सिनेट को गुप्त मतदान द्वारा तीन समान समूहों में विभाजित करके प्राप्त की गई, जिनमें से पहला समूह दो वर्ष के पश्चात् और दूसरा समूह चार वर्ष के पश्चात् निवृत्त होना था। इस प्रकार संयुक्तराज्य की सिनेट में सन् १७८९ से अब तक किसी भी एक समय एक-तिहाई से अधिक नए सदस्य निर्वाचित नहीं हुए। यही वह तथ्य है जिसके कारण उसे सदा से अपनी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपेक्षाकृत हाल की लोक-निर्वाचन की पद्धति ने उसे उसकी महान् शक्ति और स्फूर्त्ति प्रदान की है। प्रारम्भ में सिनेटरों का वरण प्रत्येक राज्य के विधानमंडल द्वारा होता था; किन्तु, जैसा हम बता चुके हैं, सत्रहवें संशोधन (सन् १९१३) द्वारा समस्त यूनियन में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति प्रवृत्त कर दी गई। सिनेटर कभी किसी भी समय और निश्चय ही इस समय किसी भी अर्थ में अपने राज्य की सरकार का दूत नहीं है, बल्कि राज्य के रूप में संगठित जनता का प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सिनेटर पृथक् रूप में, साझे में नहीं, अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह स्वयं अपनी व्यक्तिगत राय के अनुसार मत देगा। ऐसा ही होना भी चाहिए क्योंकि यह बात सहज ही संभव है कि किसी राज्य से दो सिनेटर, अलग-अलग समयों पर निर्वाचित होने के कारण, विरोधी दलों में से हों।

संयुक्तराज्य में सिनेटर के पद के लिए अर्हताएं बहुत थोड़ी और सादी हैं। उम्मीदवार ऐसा होना चाहिए जो कम-से-कम नौ वर्ष तक संयुक्तराज्य का नागरिक रह चुका हो, तीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, और अपने निर्वाचन के समय उस राज्य का निवासी हो जिसका प्रतिनिधित्व करने के लिए वह निर्वाचित किया जाता है।

सिनेट की शक्तियां बहुत अधिक हैं। स्यात् आज के विश्व में किसी भी अन्य द्वितीय सदन का प्रभाव इतना वास्तविक और प्रत्यक्ष नही है। विदेश-संबंधों जैसे सर्वाधिक स्पष्टरूपेण राष्ट्रीय मामलों में ही नही, बल्कि संघीय विधायन के वित्तीय मामलों सहित सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्य तक इस प्रभाव से रहित नहीं है। वास्तव में सिनेट इतनी शक्तिशाली है कि कुछ लोग इसे ही संयुक्तराज्य में एकमात्र प्रभावपूर्ण संघीय सदन मानते हैं। निश्चय ही कोई भी ऐसी बात, जिसे करने की कार्यपालिका अथवा प्रतिनिधि-सदन में वैध रूप से सामर्थ्य है, उन अधिकारों में परिवर्तन नहीं कर सकती जिनको सिनेट सांविधानिक रूप से धारण ही नहीं

करती बल्कि जिनका वास्तविक रूप से प्रयोग भी करती है। स्थायी समितियों के द्वारा, जिनमें वह अपने-आपको विभाजित कर लेती है, सिनेट अपने समक्ष आनेवाली विभिन्न समस्याओं का समाधान करने और कार्यपालक विभाग से, जो, जैसा कि हम बाद में बताएंगे, विधानमंडल से पृथक् कार्य करता है, सम्पर्क रखने में समर्थ होती हैं। सिनेट की सर्वाधिक शक्तिशाली समिति विदेशी मामलों संबंधी समिति है, क्योंकि इस विभाग में अन्ततः सिनेट ही राष्ट्रपति के कार्यो पर नियंत्रण रखती है। संधियों का अनुमोदन संपूर्ण कांग्रेस द्वारा नहीं, बल्कि सिनेट द्वारा होता है।[१] और यह बात युक्तिसंगत ही है, क्योंकि प्रतिनिधि-सदन में राज्यों का प्रतिनिधित्व विभिन्न अनुपातों में है। अमरीकी सिनेट की राजनयिक शक्ति स्पष्टतम रूप में प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में प्रकट हुई जब कि उसने पेरिस में राष्ट्रपति विल्सन के द्वारा हस्ताक्षरित राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) के प्रसंविदा और अन्य संधियों में से किसी भी शांतिसंबंधी दस्तावेज पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों को मानने से इनकार करके उसका सारा काम बिलकुल ही समाप्त कर दिया।

(ख) आस्ट्रेलिया

अमरीका की सिनेट की तरह आस्ट्रेलिया की सिनेट भी संघीय आदर्श की प्रतीक है। यह इससे स्पष्ट होता है कि संविधान-निर्माण के समय द्वितीय सदन के लिए दो वैकल्पिक नाम 'राज्यों का सदन' और 'राज्य-सभा' प्रस्तुत किए गए थे। उस समय के अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों के विरोध के बावजूद समानता सुरक्षित की गई और इस प्रकार आस्ट्रेलिया की सिनेट में आस्ट्रेलिया राज्यसमूह के छह राज्यों में से प्रत्येक द्वारा भेजे गए दस अर्थात कुल मिलाकर साठ सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, संविधान में यह भी उपबन्धित किया गया है कि यद्यपि संसद् प्रत्येक राज्य के लिए सिनेटरों की संख्या बढ़ा या घटा सकती है किन्तु उसकी कार्यवाही द्वारा राज्यों का समान प्रतिनिधित्व नष्ट नहीं किया जा सकता।[२] सिनेट के लिए निर्वाचकगण ठीक वे ही है जो कि प्रतिनिधि-सदन के लिए हैं; किन्तु निर्वाचन-क्षेत्र भिन्न हैं। सिनेट के निर्वाचनों के लिए समस्त राज्य ही निर्वाचन-क्षेत्र होता है और प्रत्येक निर्वाचक के उतने ही मत होते हैं जितने कि स्थान भरे जाने होते हैं। सिनेटरों की पदावधि छह वर्ष है, जिनमें से आधे प्रति तीसरे वर्ष निवृत्त होते हैं। किंतु निवृत्त होने की इस व्यवस्था से सिनेट की निरन्तरता अनिवार्यतः सुनिश्चित नहीं होती जैसा कि अमरीका में होता है। इसका कारण यह है कि संविधान में एक अन्य उपबन्ध भी है जिसके अनुसार दो सदनों के बीच गत्यवरोध की अवस्था में गवर्नर-जनरल दोनों को भंग कर सकता है और ऐसी अवस्था में एक संपूर्ण नई सिनेट और एक संपूर्ण नए प्रतिनिधि-सदन का निर्वाचन होता है। परन्तु

---

[१] युद्ध की घोषणा का अनुमोदन समस्त कांग्रेस द्वारा किया जाना आवश्यक है।

[२] प्रत्येक राज्य के लिए सिनेटरों की मूल संख्या छह थी। सन् १९४२ के अधिनियम ने उसे बढ़ाकर दस कर दिया।

सामान्यतया चूंकि निम्न सदन का वैध कार्यकाल तीन वर्ष का है अतएव उसके समस्त सदस्यों के निर्वाचन के साथ ही प्रत्येक राज्य में पांच सिनेटरों का भी निर्वाचन होता है।

आस्ट्रेलिया की सिनेट के काम अमरीका की सिनेट के विपरीत केवल विधायन-संबंधी हैं और उसे वित्तीय विधेयकों के सिवाय अन्य "समस्त प्रस्तावित विधियों के संबंध में प्रतिनिधि-सदन के समान शक्तियां प्राप्त हैं।" वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात निम्न सदन में ही हो सकता है और सिनेट उनमें संशोधन नहीं कर सकती हालांकि वह उन्हें अस्वीकृत कर सकती है। संस्थापकों ने सिनेट को जान-बूझकर एक 'राज्यों की सभा' के रूप में गठित किया था, किन्तु व्यवहार में वह निम्न सदन की तरह ही राजनीतिक कारणों से विभाजित होती है और उसमें भी सभी विषयों पर विचारविमर्श दल के दृष्टिकोण से होता है न कि राज्य के। इसके फलस्वरूप जो दल लगातार दो साधारण निर्वाचनों में जीतता है, वह सिनेट के अधिकांश स्थानों पर भी अधिकार रखता है।

७. स्विट्जरलैंड और वेमर जर्मनी में द्वितीय सदन

स्विस कानफेडरेशन की राज्य-परिषद् अमरीका और आस्ट्रेलिया की सिनेटों से बड़ी मार्के की विभिन्नताएं प्रदर्शित करती है, अतएव संघीय गणतंत्र के द्वितीय सदन के रूप में उसका सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, हिटलर द्वारा जर्मन राज्य के संघीय स्वरूप के नष्ट कर दिए जाने से पूर्व वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मनी की साम्राज्य-परिषद् के स्वरूप और कृत्यों का विश्लेषण करना भी लाभदायक होगा, क्योंकि उसका पाश्चात्य आधिपत्यकर्त्ता शक्तियों के तत्त्वावधान में सन् १९४९ में प्रवर्त्तित बॉन संविधान के अधीन जर्मनी के संघीय गणतंत्र की संघीय परिषद् के लिए कुछ हद तक आदर्श के रूप में प्रयोग किया गया है।

(क) स्विस कानफेडरेशन

स्विट्जरलैंड की राज्य-परिषद् एक बात में अमरीका और आस्ट्रेलिया राज्य-समूह की सिनेट के समान है, क्योंकि उसमें केण्टनों (अर्थात् राज्यों) को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। स्विस राज्य-परिषद् में चौवालीस सदस्य हैं अर्थात् उन्नीस केण्टनों में से प्रत्येक से दो और शेष तीन केण्टन जिन अर्द्ध-केण्टनों में विभाजित हैं, उनमें से प्रत्येक से एक-एक। किन्तु और किसी भी बात में स्विट्जरलैंड की राज्य-परिषद् अमरीका और आस्ट्रेलिया की सिनेट के समान नहीं है। संविधान में निर्वाचन और सदस्य की पदावधिसंबंधी सारी ब्यौरे की बातें केण्टनों पर ही छोड़ दी गई हैं। इसलिए किसी केण्टन से सदस्य एक वर्ष के लिए, किसी से दो वर्ष के लिए, किसी से तीन वर्ष के लिए और किसी-किसी से तो चार वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। अधिकतर केण्टनों में सदस्यों का निर्वाचन अब जनता द्वारा होता है, किन्तु सात केण्टनों में वे प्रत्येक केण्टन की विधानसभा द्वारा चुने जाते हैं। किन्तु स्विस राज्य-परिषद् को साधारण अर्थों में ठीक-ठीक संघीय सदन या द्वितीय सदन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

यदि वह वास्तव में संघीय सदन होती तो उसका आंशिक काम उस सत्ता के हाथों से, जिसको कि राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता दी है, राज्यों के हितों की रक्षा करना होता और यदि वह साधारण द्वितीय सदन होती तो उसे विधायन के संबंध में पुनरीक्षण या निषेध के कुछ निश्चित कृत्य प्राप्त होते।

वास्तविकता यह है कि स्विट्जरलैंड में दोनो सदन सभी मामलों में समकक्ष हैं। प्रत्येक संसदीय अधिवेशन के प्रारम्भ पर दोनों सदनों के अध्यक्ष विधायन-संबंधी प्रस्तावों के सूत्रपात के विषय पर आपस में प्रबन्ध करके प्रक्रिया का निश्चय कर लेते है। जैसा कि हम बाद में बताएंगे, मंत्रिगण किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं और किसी भी सदन में मतदान नहीं करते, किन्तु उनको दोनों सदनों में पूछे गए प्रश्नों का समान रूप से उत्तर देना होता है। अन्तिम बात यह है कि कुछ प्रयोजनों के लिए (जो असाधारण न हों) दोनों सदन एक सदन के रूप में समवेत होते हैं और मतदान करते है। इस प्रकार स्विट्जरलैंड का विधानमंडल स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका के समान ही अद्वितीय है; विश्वभर में यही एक ऐसा विधानमंडल है, जिसके उच्च सदन के कृत्य उसके निम्न सदन के कृत्यों से किसी भी प्रकार भिन्न नही हैं। संघीय विधानमंडल की सामर्थ्य के अन्तर्गत किसी भी बात के लिए दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है। किन्तु शासन के दोनों संघीय उपकरण—कार्यपालिका और विधानमंडल—लोक-निर्देशन के साधन के द्वारा समान रूप से राष्ट्रीय इच्छा के अधीनस्थ किए जा सकते हैं। इस विषय पर हम आगे के एक अध्याय में अधिक चर्चा करेंगे।

(ख) जर्मन गणराज्य

सन् १९१९ के जर्मन संविधान के साठवें अनुच्छेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "राइख के विधायन और प्रशासन में जर्मन राज्यों के प्रतिनिधित्व के उद्देश्य से एक परिषद् का गठन किया जाता है। आगे यह भी कहा गया है कि परिषद् में राज्यों का प्रतिनिधित्व उनके शासनों के सदस्यों द्वारा होगा। यह पुराने साम्राज्य के अधीन प्रचलित प्रणाली को जीवित रखना था, किन्तु जहां उस काल में परिषद् विधि-निर्माण का वास्तविक उपकरण थी, वहां अब परिस्थिति पूरी तरह उलट दी गई और वेमर संविधान के अधीन परिषद् पर लोकसभा छा गई। परिषद् को विधायन का सूत्रपात करने की कोई शक्ति नहीं थी। यह कार्य केवल कार्यपालिका और लोकसभा के ही हाथों में था। विधि को पारित करने के लिए परिषद् की सम्मति आवश्यक नहीं थी, हालांकि सरकार द्वारा लोकसभा में किसी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए उसकी सम्मति आवश्यक थी। किन्तु यह सब होते हुए भी परिषद् को एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निषेधाधिकार प्राप्त था। यदि उसे लोकसभा द्वारा पारित किसी विधेयक पर आपत्ति हो तो उसे निम्न सदन में अन्तिम मतदान के दो सप्ताहों के अन्दर सरकार के पास अपनी आपत्ति प्रस्तुत करनी होती थी। तब यदि दोनों सदन सहमत न हों तो

राष्ट्रपति उस विधेयक पर लोक-निर्देशन के लिए आदेश दे सकता था। यदि वह तीन महीनों के अन्दर ऐसा नहीं करता और यदि लोकसभा (समस्त सदन के) दो-तिहाई बहुमत से विधेयक को स्वीकार कर लेती तो राष्ट्रपति को या तो उस विधि को प्रख्यापित करना पड़ता था या फिर जनता के प्रति अपील करने का आदेश देना पड़ता था।

इस प्रकार जर्मन परिषद् निश्चित रूप से अलग-अलग राज्यों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व तो करती थी, किन्तु उसे पृथक् रूप में राज्य की प्रभावपूर्ण आवाज उठाने की शक्ति पहले की तरह प्राप्त नही थी। इसके अतिरिक्त जहां वह संघवाद के सुरक्षा-सिद्धांत—अर्थात् उच्चसदन में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व की आवश्यकता—को समाविष्ट करने में असफल रही वहां वह बडे राज्यों के प्रबल प्रभाव के द्वारा छोटे राज्यों के विरुद्ध अथवा जनता द्वारा निर्वाचित निम्न सदन की अपेक्षा श्रेष्ठ शक्ति के बल पर समस्त राइख के विरुद्ध कार्य करने से भी वंचित थी। किन्तु इसके साथ ही, ऐसे विधेयक के लिए जिस पर कि उसे आपत्ति हो, प्रतिनिधि-सदन के भारी और अक्सर अप्राप्य बहुमत की सम्मति वाध्य कर सकने अथवा स्वयं जनता के प्रति अपील के लिए बाध्य कर सकने की उसे जो शक्ति दी गई थी उसके फलस्वरूप उसे द्वितीय सदन के योग्य गौरव प्राप्त हो गया और वास्तविक प्रभुसत्ताधारक जनता का अपने प्रतिनिधियों पर अंतिम नियंत्रण हो गया।

सन् १९४९ के बॉन संविधान के अधीन संघीय परिषद् में, पहले की परिषद् के समान ही, संघनिर्माता विभिन्न प्रदेशों की सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं और वेमर गणतंत्र के समान ही इन प्रतिनिधियों की संख्या प्रदेश की जनसंख्या के अनुसार विभिन्न होती है। इस प्रकार साठ लाख से अधिक की जनसंख्या वाले प्रदेश के छह, साठ लाख से कम किन्तु बीस लाख से अधिक की जनसंख्या वाले प्रदेश के चार, और बीस लाख से कम की जनसंख्या वाले प्रदेश के तीन सदस्य होते हैं। संघीय परिषद् जर्मनी के संघीय गणतंत्र में कितना महत्त्वपूर्ण भाग ले सकेगी, यह बात उन राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर है जिनके विषय में इस समय किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना कठिन है।

८. सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ और युगोस्लाविया के संघीय जनगणतंत्र की विशेष स्थितियां

यद्यपि सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ और युगोस्लाविया के संघीय जनगणतंत्र का निर्माण सामान्यतया पाश्चात्य नमूनों के आधार पर नहीं हुआ है, फिर भी संघीय राज्यों के रूप में वे कुछ हद तक पश्चिमी प्रभावों के ऋणी हैं और इन दोनों देशों में से प्रत्यक के द्वितीय संघीय सदन के स्वरूपों और कृत्यों की उन द्वितीय सदनों के स्वरूपों एवं कृत्यो से, जो साधारणतया सांविधानिक संगठन माने जाते हैं और जिन पर हम विचार कर चुके हैं, तुलना बड़ी दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण होगी।

सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ के स्टालिन संविधान (सन् १९३६) के अध्याय ३ में संघ में राज्यशक्ति के सर्वोच्च उपकरणों की चर्चा की गई है। मुख्य उपकरण सर्वोच्च परिषद् है जो संघ की पुरानी सोवियत् महासभा के स्थान पर बनी है। सर्वोच्च परिषद् में, संघ-परिषद् और राष्ट्र-परिषद् नाम के दो सदन होते हैं। इनमें से पहले सदन के सदस्य सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ के नागरिकों द्वारा, प्रति ३००,००० के लिए एक प्रतिनिधि के आधार पर, निर्वाचित किए जाते हैं, और इस प्रकार उसमें ६०० सदस्य होते हैं। दूसरे सदन के सदस्य संघ की सर्वोच्च परिषदों द्वारा नियुक्त किए जाते है— प्रत्येक गणतंत्र से दस, प्रत्येक स्वायत्त गणतंत्र से पाच, और प्रत्येक स्वायत्त प्रांत से दो। इनकी कुल संख्या २४२ है। दोनों परिषदें चार वर्ष के लिए निर्वाचित होती है। इनकी विधान-निर्माण-संबंधी शक्तियां समान हैं और किसी भी विधि के अनुमोदन के लिए प्रत्येक सदन में साधारण बहुमत पर्याप्त होता है। इनके अधिवेशन सर्वोच्च परिषद् के प्रधान-मंडल (प्रेज़ीडियम) द्वारा (साधारणतया) एक वर्ष मे दो बार बुलाए जाते है और विशेष प्रयोजनों के लिए असाधारण अधिवेशन भी किए जा सकते हैं।

युगोस्लाविया के संघीय जनगणतंत्र (सन् १९४६) के संविधान के अध्याय ७ में, जो अट्ठाईस अनुच्छेदों वाला एक लम्बा अध्याय है, राज्यसत्ता के सर्वोच्च संघीय उपकरणों की चर्चा की गई है। संघीय संसद् को गणतत्र की जनसभा कहा गया है और उसमें दो सदन है: संघीय परिषद् (निम्न सदन), और राष्ट्र-परिषद् (उच्च सदन)। संघीय परिषद् का निर्वाचन प्रति ५०,००० निवासियों के लिए एक प्रतिनिधि के आधार पर होता है। राष्ट्र-परिषद् का निर्वाचन विभिन्न गणतंत्रों (प्रत्येक से तीस प्रतिनिधि), स्वायत्त प्रांतों (प्रत्येक से बीस प्रतिनिधि), और प्रदेशो (प्रत्येक से पन्द्रह प्रतिनिधि) के नागरिकों द्वारा किया जाता है। दोनों सदन चार वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं और दोनो को समान अधिकार प्राप्त हैं। साधारणतया दोनों सदनों की बैठकें अलग-अलग होती हैं; किन्तु संविधान में नियत विशेष अवसरों पर जैसे कार्यपालिका के, जो रूस के प्रधान-मंडल के समान है, निर्वाचन और संविधान में किसी संशोधन की घोषणा के लिए उनका संयुक्त अधिवेशन भी होता है। संयुक्त अधिवेशन में फैसले बहुमत द्वारा होते हैं, किन्तु तभी जब कि प्रत्येक सदन के सदस्यों का बहुमत विद्यमान हो। विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं और वहां पारित होने पर दूसरे सदन को भेजे जाते हैं। यदि अन्य सदन किसी विधेयक को पारित नहीं करता तो उसे एक समन्वयकारी समिति को भजा जाता है जिसमें दोनों सदनों के सदस्यों की समान संख्या होती है। यदि समन्वयकारी समिति की रिपोर्ट पर समझौता नही हो सकता है तो दोनों सदन भंग कर दिए जाते हैं और नए निर्वाचन होते हैं।

सोवियत् रूस और युगोस्लाविया में के द्वितीय सदन के इस संक्षिप्त वृत्तांत से स्पष्ट है कि आधुनिक विश्व में सर्वाधिक क्रांतिकारी परिस्थितियों के अधीन स्थापित संघीय राज्यों

में भी द्वितीय सदन को एक महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाला सदन समझा जाता है। हो सकता है कि इन दोनों राज्यों में राजनीतिक व्यवहार उन उच्च सांविधानिक उद्देश्यों से, जो कि कागज पर प्रकट किए गए हैं, पूरी तरह मेल न खाता हो, किन्तु भविष्य के लिए यह बात शायद महत्त्वहीन नहीं है कि कम-से-कम उद्देश्य तो विद्यमान है।

९. निष्कर्ष

यह विश्लेषण, जो कि बहुत-कुछ विस्तृत और कदाचित् क्लिष्ट प्रतीत हुआ हो, फिर भी बहुत संक्षिप्त ; क्योंकि इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अनिवार्यतः छोड़ दी गई हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी का ध्यान उन मुख्य विषयों की ओर आकर्षित करना रहा है, जो उन द्वितीय सदनों के, जो कि विश्लेषण के योग्य हैं, सांविधानिक कृत्यों पर बल देते हैं। ऐसे विश्लेषण से प्राप्त होनेवाले निष्कर्ष इस प्रकार है :—प्रथम, आज कोई भी बड़ा राज्य एकसदनी विधानमंडल से संतुष्ट नहीं है ; द्वितीय, द्वितीय सदन का निर्वाचन जितना ही जनता के नियंत्रण से दूर रहता है उतना ही वह सदन राजनीति की वास्तविकताओं से विलग हो जाता है और शक्ति खो देता है ; तृतीय, ऐसी अवस्था में यह भावना पाई जाती है कि द्वितीय सदन को निष्क्रिय न होने दिया जाए, बल्कि उसे सुधार के द्वारा फिर से सजीव बनाया जाए; और चतुर्थ, संघीय प्रणाली के सफल संचालन के लिए वास्तविक शक्ति वाला द्वितीय सदन आवश्यक है, हालांकि कुछ पश्चात्वर्त्ती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, विशेष रूप से आस्ट्रेलिया के संघवाद के संबंध में, यह कथन कुछ अपवादों के सहित ही किया जा सकता है। तुलनात्मक राजनीति के किसी भी विद्यार्थी के लिए निश्चय ही इन प्रश्नों का बड़ा महत्त्व है; और ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सम्भाव्य संशोधित रूप के बारे में विचार करते समय ब्रिटेन के नागरिक के लिए इनका विशेष महत्त्व है।

प्रश्न

१. आज के विश्व में द्विसदनी विधानमंडल का क्या महत्त्व है ?
२. "यह कल्पना करना कि सत्ता महत्त्वपूर्ण विषयों में अपने-आपको निर्बलता से नियंत्रित होने देगी, व्यर्थ है।" गोल्डविन स्मिथ की यह बात द्वितीय सदनों के आधुनिक इतिहास को देखते हुए कहां तक युक्तियुक्त है ?
३. हाउस ऑफ लॉर्ड्स के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए और उसकी वर्त्तमान शक्तियों की व्याख्या कीजिए।
४. कनाडा में निर्देशित सिनेट का गठन किस प्रकार होता है ?
५. स्पेन में सन् १८७६ के संविधान के अधीन मूल सिनेट के गठन का अध्ययन ब्रिटेन के लिए क्या महत्त्व रखता है ?
६. दक्षिणी अफ्रीका के विधानमंडल में आठ निर्देशित सदस्यों की उपस्थिति का क्या महत्त्व है ?

७. यह कथन कहां तक सच है कि विश्व के द्वितीय सदनों में सबसे अधिक शक्तिशाली अमरीका की सिनेट है ?

८. आस्ट्रेलिया और आयर की सिनेटों की रचना और शक्तियों की तुलना कीजिए।

९. द्वितीय सदन में (१) तृतीय गणतंत्र और चतुर्थ गणतंत्र के संविधानों के अधीन फ्रांस में, और (२) नृपतंत्र और गणतंत्र के अधीन इटली में जो परिवर्तन हुए हैं उनकी व्याख्या कीजिए।

१०. सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ में सन् १९३६ के संविधान के अधीन और युगोस्लाविया में सन् १९४६ के संविधान के अधीन राष्ट्र-परिषदों की रचना किस प्रकार होती है ? उनके स्वरूप और कृत्यों की स्विट्जरलैंड की राज्य-परिषद् और वेमर गणतंत्र की परिषद् के स्वरूप और कृत्यों से तुलना कीजिए।

अध्याय १०

संसदीय कार्यपालिका

१. कार्यपालिका : नामधारी और वास्तविक

आधुनिक शासन-व्यवस्था में विधि-निर्माण का अत्यधिक महत्त्व है, फिर भी उसमें कार्यपालिका द्वारा आच्छादित होने की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इसके दो कारण हैं : पहला यह कि आधुनिक कार्यपालिका का संबंध केवल विधियों को कार्यान्वित करने से ही नही किन्तु अनेक अवस्थाओं में विधानमंडल द्वारा स्वीकृत की जानेवाली नीति का सूत्रपात करने से भी रहता है; और दूसरा यह कि समष्टिवादी विधायन, जिसकी कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, इतना अधिक होता है कि विधियों के पारण पर विधानमंडल का नियंत्रण होने के बावजूद विधियों को कार्यान्वित करनेवालों के हाथों में अपने विवेक से काम करने की काफी शक्ति छोड़ देना आवश्यक होता है। इस प्रकार लोकतंत्र के विकास ने आधुनिक सांविधानिक राज्यों में एक विरोधात्मक परिस्थिति पैदा कर दी है—जिस मात्रा में जनता द्वारा, जिसकी आवश्यकता के लिए अधिकाधिक विधायन अपेक्षित है, निर्वाचित विधानमंडल द्वारा पारित विधियां बढ़ती जा रही हैं उतनी ही मात्रा में इस प्रकार बनाई गई विधियों को कार्यान्वित करने में अनियंत्रित कार्यपालिका-शक्ति का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है।

अतः, कार्यपालिका आधुनिक सांविधानिक राज्य में कई बातों में शासन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विभाग है; और जहां एक ओर शासन की शक्तियों को सीमित करने और शासितों के अधिकारों को संरक्षित करने के प्रयत्न में संविधानवाद ने कार्यपालिका-शाखा को परिभाषित किया है और उचित सीमाओं के अन्दर रखा है, वहां दूसरी ओर लोकतंत्र के विकास ने कार्यपालिकासंबंधी कर्त्तव्यों और उनका निष्पादन करनेवाले पदाधिकारियों एवं विभागों की संख्या को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। आज के साधारण सांविधानिक राज्य में कार्यपालिका की शक्तियों को संक्षेप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

(१) कूटनीतिक शक्ति—विदेशी मामलों के संचालन से संबंधित।

(२) प्रशासनिक शक्ति—विधियों के निष्पादन और शासन के संचालन से संबंधित।

(३) सैनिक शक्ति—युद्ध-संचालन और सशस्त्र बलों के संगठन से संबंधित।

(४) न्यायिक शक्ति—सिद्धदोष अपराधियों को प्रविलम्बन, क्षमा आदि के दान से संबंधित।

(५) विधायिनी शक्ति—विधेयकों के प्रारूप बनाने और विधि के रूप में उनको पारित कराने से संबंधित।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, 'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। पहले अर्थात् व्यापक अर्थ में, इसका तात्पर्य मंत्रियों, असैनिक सेवा, पुलिस, यहां तक कि सशस्त्र सेनाओं के भी सम्पूर्ण निकाय से है। दूसरे अर्थात् संकीर्ण अर्थ में, इसका तात्पर्य कार्यपालिका विभाग के सर्वोच्च अधिकारी से है। वर्त्तमान और अगले अध्याय में हमारा संबंध कार्यपालिका के इस द्वितीय अर्थ से ही रहेगा। हमको यहां पर केवल नाम के ही आधार पर नहीं चलना चाहिए, जिसके आधार पर कार्यपालिकाओं को अक्सर वंशानुगत और निर्वाचित इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है जिसके आधार पर कि राज्यों को एकतंत्रों और गणतंत्रों में विभाजित किया जाता है। जैसा कि हम अध्याय ३ में कह चुके हैं, इससे कोई बात स्पष्ट नहीं होती। हमको तो इससे आगे बढ़कर यह पूछना चाहिए कि क्या वंशानुगत कार्यपालिका अथवा निर्वाचित कार्यपालिका वास्तविक है या केवल नाममात्र की? प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कतिपय यूरोपीय राज्य—उदाहरणार्थ जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और रूस—ऐसे थे जिनमें विभिन्न कोटि की शक्तियों वाली वास्तविक वंशानुगत कार्यपालिकाएं विद्यमान थीं। किन्तु ये सब वंशानुगत कार्यपालिकाएं युद्ध के फलस्वरूप समाप्त हो गई और आज वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य विश्व में नाममात्र की वंशानुगत कार्यपालिकाएं होते हुए भी वास्तविक वंशानुगत कार्यपालिका का कहीं नाम-निशान भी नहीं है।

किन्तु एक और तथ्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। निर्वाचित कार्यपालिकाएं अपने वास्तविक स्वरूप को एक बाहरी आवरण के पीछे छिपा भी सकती हैं और जिस प्रकार कि आज सभी पाश्चात्य एकतंत्रों में राजा कहीं भी वास्तविक कार्यपालक नहीं है उसी प्रकार कुछ गणतंत्रों में भी राष्ट्रपति वास्तविक नहीं बल्कि नाममात्र की कार्यपालक होता है। विद्यमान सांविधानिक राज्यों में संकीर्ण अर्थ में, अर्थात् कार्यपालिका विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के अर्थ में, कार्यपालिकाएं केवल दो प्रकार की हैं—एक तो वह जो संसद् द्वारा नियंत्रित होती है अर्थात् संसदीय कार्यपालिका; और दूसरी वह जो संसदीय नियंत्रण से परे होती है अर्थात् असंसदीय अथवा स्थायी कार्यपालिका। यह आवश्यक है कि विद्यार्थी किसी राज्य के नाम या उसकी परम्परा के आधार पर स्थिर कार्यपालिका के स्वरूप मात्र से ही भ्रम में न पड़ जाए। उसे तो कार्यपालिका के वास्तविक कार्य-संचालन को गंभीरता से देखना चाहिए जिससे यह पता लग सके कि वह वास्तव में इन दो प्रकारों में से किस प्रकार की है।

२. शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत

शासन के तीन विभागों—विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका—का

अस्तित्व कृत्यों के विशिष्टीकरण की एक साधारण प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। यह प्रक्रिया सभ्यता की प्रगति, उसके कार्यक्षेत्र की वृद्धि और उसके उपकरणों की बढ़ती हुई जटिलता के साथ ही सिद्धान्त और व्यवहार की समस्त शाखाओं में दृष्टिगोचर हुई है। प्रारंभ में राजा ही विधि का निर्माता, निष्पादक और निर्णायक था। किन्तु एकतंत्र की इन शक्तियों को दूसरों को सौंपने की प्रवृत्ति का अनिवार्य विकास हुआ और उसका परिणाम इस त्रिविध विभाजन में प्रकट हुआ। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रभुत्व-शक्ति का विभाजन नहीं होता : यह तो राज्य के बढ़ते हुए कार्य को निपटाने के लिए एक सुविधाजनक साधन मात्र है। कृत्यों का विशिष्टीकरण एक सीधी-सादी आवश्यकता थी और उसके परिणामस्वरूप प्रत्यायोजन एक सीधा-सादा तथ्य था। किन्तु जब राजा की शक्ति नियंत्रित की जाने लगी और सांविधानिक विचारों का प्रचार होने लगा तो इस सीधे-सादे तथ्य ने एक सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया—इस सिद्धान्त का कि स्वतन्त्रता का आधार इन कृत्यों के सुविधाजनक विशिष्टीकरण में ही नहीं, बल्कि विभिन्न हाथों में सौंपकर इनमें पूर्ण विभेद स्थापित करने में है। शासन के विकास की एक साधारण प्रक्रिया से स्वतंत्रता और अधिकारों को एक सिद्धान्त निकालने की इस घटना ने कतिपय संविधानों को अजीब तरह से मोड़ दिया है और संसदीय एवं अ-संसदीय कार्यपालिकाओं के बीच का आधुनिक भेद प्रस्तुत कर दिया है।

शक्तियों के पृथक्करण के इस सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के संबंध में सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारंभ में इसे ब्रिटिश संविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया था जो कि बिलकुल ही असत्य है और जो उस पर बिलकुल भी लागू नही होती। यह धारणा सबसे पहले सन् १७४८ में प्रकाशित मॉण्टेस्क्यू की पुस्तक **'स्पिरिट ऑफ लॉज'** में प्रकट हुई थी, जिसमें लेखक ने ब्रिटिश संविधान का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। उसका निष्कर्ष यह था कि "जब विधायिनी और कार्यपालिका शक्तियां एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय में संयुक्त रूप से निहित होती हैं तब स्वतंत्रता नहीं हो सकती, क्योंकि इस बात का खतरा बना रहता है कि वही राजा या सिनेट कठोर विधियां बनाएंगे और कठोरतापूर्वक उनको क्रियान्वित करेंगे।" ब्रिटेन के संविधान के बारे में यह विचित्र विचार इस फ्रांसीसी विचारक तक ही सीमित नहीं था, क्योंकि उसके लगभग बीस वर्ष पश्चात् अंगरेज विधि-विशेषज्ञ **ब्लेकस्टन** ने अपनी पुस्तक **'कमेंटरीज ऑन दी लॉज ऑफ इंगलैंड'** (सन् १७६५) में लगभग उसी प्रकार के विचार प्रकट किए। इस लेखक ने कहा है "जहाँ कहीं भी विधियों का निर्माण करने और उनको कार्यान्वित करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय में निहित होता है वहां लोक-स्वतन्त्रता नही हो सकती।"

यह विचारधारा अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के राजनीतिक दर्शन का निश्चित अंग बन गई और क्रांतिकारी युग के फ्रांसीसी संविधानों में समाविष्ट की गई। मॉण्टेस्क्यू और ब्लेकस्टन के सिद्धान्त को अमरीकन संविधान के निर्माताओं ने भी अपनाया और

व्यवहार में लिया, क्योंकि उस समय वे वास्तव में विश्वास करते थे कि वे ब्रिटिश संविधान के एक उत्तम लक्षण का अनुकरण कर रहे है। ब्रिटेन की वर्तमान कार्यपालिका-प्रणाली का उस समय पूर्णरूपेण विकास नही हो पाया था और अब वह अपनी गुप्त शक्ति की ऐसी व्यवस्था की सम्भावना से दूर हट गया है। किन्तु फिर भी यह उस भावना की, जो कि उस समय भी ब्रिटिश संविधान में निहित थी, मिथ्या धारणा ही थी। फिर भी इस धारणा की जड़ें इतनी पक्की हो चुकी थी कि वे सन् १८६७ में वाल्टर बेजहॉट की महान् पुस्तक **'दी इंगलिश कांस्टीट्यूशन'** के प्रकाशन के पश्चात् ही समाप्त हो सकीं।

वास्तविक बात यह है कि किसी भी सांविधानिक राज्य के बारे में यह नही कहा जा सकता कि वैधानिक और कार्यपालिका कृत्य बिलकुल एक ही व्यक्ति या निकाय के हाथों में है; क्योंकि, जैसा हम पहले बता चुके है, कार्यपालिका सदा ही विधानमंडल से एक छोटी संस्था होती है। किन्तु शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त जिस बात की ओर संकेत करता है वह यह भेद नही है। इस सिद्धान्त के प्रयोग का केवल यही मतलब नहीं होता कि कार्य-पालिका और विधानमंडल अलग-अलग निकाय होंगे, बल्कि यह भी होता है कि ये दोनों एक-दूसरे से बिलकुल ही पृथक् होंगे जिससे कि एक का दूसरे पर कोई नियंत्रण न रहे। जिस किसी भी राज्य ने इस सिद्धान्त को व्यवहार में पूरी तरह अपनाया है और बनाए रखा है उसमें कार्यपालिका विधानमंडल के नियंत्रण से बिलकुल ही मुक्त होती है। ऐसी कार्य-पालिका को हम 'अ-संसदीय' या 'स्थायी' कहते है। इस प्रकार की कार्यपालिका अब भी संयुक्तराज्य में विद्यमान है, जिसके संविधान में इस विषय में आरम्भ से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु फ्रांस ने जिसने, जैसा कि हम कह चुके है, इस सिद्धान्त को क्रांति से उत्पन्न अपने प्रथम संविधानों में अंगीकार किया, बाद में ब्रिटेन की कार्यपालिका-प्रणाली को अपना लिया और यह बात फ्रांस के तृतीय गणतंत्र के समान चतुर्थ गणतंत्र के संविधान में भी प्रकट है। यह वह प्रणाली है जिसमें मंत्रिमंडल अपने अस्तित्व के लिए उस विधानमंडल पर, जिसका कि वह एक अंग है, निर्भर करता है, और कार्यपालिका के सदस्य विधानमंडल के भी सदस्य होते है।

इस प्रणाली को, जो साधारणतया 'मंत्रिमंडलीय (केबिनट) प्रणाली' के नाम से ज्ञात है, उसके मोटे रूप में अधिकांश यूरोपीय राज्यों ने अपना लिया है और यह बात नगण्य है कि वे एकतंत्र कहलाते हैं या गणतंत्र। ब्रिटन के स्व-शासी डॉमिनियनों ने भी इसे अपना लिया है। दूसरी ओर अ-संसदीय प्रणाली संयुक्तराज्य और उसके आधार पर अपने संविधान बनानेवाले लैटिन-अमरीकी गणतत्रो की विशिष्टता है। वर्तमान और अगले अध्याय में आधुनिक विश्व के कुछ प्रमुख राज्यों की उनकी कार्यपालिका-प्रणालियों की दृष्टि से विवेचना की जाएगी। हमारा प्रयोजन इस बात का पता लगाना है कि उन राज्यों में प्रणाली संसदीय है या अ-संसदीय, हालांकि एक या दो अनिश्चित उदाहरण भी हैं और उन पर भी हम विचार करेंगे।

३. ब्रिटेन में मंत्रिमंडलीय प्रणाली का इतिहास और उसका वर्त्तमान स्वरूप

ब्रिटेन में मंत्रिमंडलीय प्रणाली के विकास का इतिहास शासन-विज्ञान के संमस्त क्षत्र में सबसे अधिक लाभदायक अध्ययन है। यह प्रणाली, जो ब्रिटेन के स्व-शासी डॉमिनियनों के और यूरोप के मुख्य राज्यों के दस्तावेजी संविधानों में सम्मिलित कर ली गई है, सन् १९३७तक ब्रिटेन की विधि को बिलकुल ही अज्ञात थी, क्योंकि तब तक यह सांविधानिक या अन्य प्रकार के किसी वैध दस्तावेज में नही पाई जाती थी। किन्तु उस वर्ष 'राजा के मंत्रिगण अधिनियम' पारित किया गया, जिसके अनुसार मंत्रियों के वेतनों में वृद्धि हुई और उन्हें स्थिरता प्राप्त हुई तथा विधिसंहिता में पहली बार 'मंत्रिमंडल' और 'मंत्रिमंडलीय' ये शब्द सम्मिलित किए गए तथा प्रधान मंत्री को वैध हैसियत प्राप्त हुई। इस अधिनियम के अनुसार प्रधान मंत्री का वेतन १०,००० पौंड प्रति वर्ष निश्चित हुआ जब कि तब तक उसे प्रधान मंत्री के रूप में कोई वेतन नहीं मिलता था। उस समय तक ५,००० पौंड प्रति वर्ष का जो वेतन उसे मिलता था वह उसे कोष के प्रथम अध्यक्ष (First Lord of the Treasury) अथवा किसी अन्य पद के बल पर मिलता था, जिसे कि वह केवल नाममात्र के लिए धारण करता था। इस अधिनियम ने २,००० पौंड प्रति वर्ष वेतन सहित विरोधी दल के नेता का स्थान भी निश्चित कर दिया। यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि मंत्रिमंडल और प्रधान मंत्री की सांविधानिक स्थिति को विकास की तीन शताब्दियों मे अधिक समय तक वैध आधार न देने मे ब्रिटिश संविधान के उस रूढ़िगत या परम्परागत तत्त्व की शक्ति प्रकट होती है जिसकी हम चर्चा कर चुके हैं। अतः, इस राजनीतिक प्रक्रिया के विषय में, जिसका प्रभाव इतना सर्वव्यापी रहा है, जानकारी प्राप्त करना तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक ब्रिटिश मंत्रिमंडल के प्रादुर्भाव का **वालपोल** (सन् १७२१-४२)के अधीन ह्विग दल की प्रधानता से संबंध जोड़ते हैं। यद्यपि यह सच है कि इस प्रणाली में उन निश्चित तत्त्वों का, जो तब से बहुत साधारण रुकावटों के साथ उसकी विशेषताएं बने हुए हैं, उसी समय समावेश हुआ, किन्तु इस प्रणाली के वास्तविक आरंभ के लिए हमको उस काल से बहुत पीछे जाना पड़ेगा। पिछले विभाग में हम बता चुके हैं कि राज्य की प्रारंभिक अवस्था में राजा ही विधि का निर्माता, उसका निष्पादक और निर्णायक होता था; अर्थात् उसके पद में राज्य के तीनों विभाग अर्थात् विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका समाविष्ट थे। इस त्रिविध कर्त्तव्य में राजा को सहायता देने के लिए इंगलैंड में विलियम प्रथम के अधीन महापरिषद् का संगठन किया गया। सामंतों का यह निकाय ही ब्रिटेन की आधुनिक संस्थाओं का आधार था, क्योंकि ब्रिटेन की वर्त्तमान शासन-व्यवस्था का समस्त प्रभावशाली संगठन (संसद्, मंत्रिमंडल और न्यायालय) परिवर्तन और

विकास की प्रायः अदृश्य अवस्थाओं में से होकर इसी मे प्रस्फुटित हुआ है। किन्तु महा-परिषद् की बैठक साधारणतया एक वर्ष में केवल तीन बार होती थी, अतः उसमें से एक ऐसे विशेष निकाय का, जिसकी लगातार बैठकें होती रहें, विकसित होना स्वाभाविक ही था। इस निकाय में कैंटरबरी और यॉर्क के आर्चबिशप, न्यायाधिकारी, कोषाध्यक्ष और चांसलर जैसे राज्य के कुछ उच्च पदाधिकारी होते थे और उसका नाम 'स्थायी परिषद्' था। किन्तु यह भी राजा के साथ घनिष्ठ सम्पर्क के प्रयोजन के लिए बहुत बड़ा सिद्ध हुआ और हेनरी षष्ठ (सन् १४२२-६१) के शासनकाल में इसके स्थान पर पार्षदों की एक अन्य अंतरंग समिति आ गई जो प्रिवी कौंसिल कहलाई और शासन की मुख्य कार्यपालिका बन गई।

ट्यूडर काल में इस कौंसिल का पुनर्गठन हुआ और इसने बहुत-सी अविहित शक्तियां धारण कर लीं। इसके आकार में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहने के कारण जब उसकी प्रभाव-कारी शक्ति उसकी भी एक अन्य अंतरंग समिति के हाथों में चली गई तो उसके द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग और भी अधिक निरंकुश हो गया। इस विशिष्ट 'आंतरिक परिषद्' (यह नाम उसे मैकॉले ने दिया है) की बैठक राजा के साधारण परिषद्-भवन में नहीं, बल्कि उस प्रयोजन के लिए पृथक् रूप से निर्धारित एक छोटे कमरे या **'केबिनेट'** में होती थी। यह परिस्थिति चार्ल्स प्रथम (सन् १६२५-४९) के शासनकाल तक उत्पन्न हो चुकी थी। अब यदि हम यह बता सकें कि राजा के विशेषाधिकार अन्त में संसद् के हाथों में चले गए तो हम यह भी बता सकेंगे कि इंगलैंड में कार्यपालिका अन्त में किस प्रकार संसदीय कार्य-पालिका बन गई। यह महान् परिवर्तन मोटे तौर से तीन प्रक्रमों में हुआ। पहला प्रक्रम चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में घटित सन् १६४२ का महान् विद्रोह था। यह सिद्ध करने के लिए कि इस संघर्ष में संसद् के प्रति मंत्रियों के उत्तरदायित्व का प्रश्न किस प्रकार समाविष्ट था, विद्रोह के पूर्व के वर्ष में सशस्त्र संघर्ष को टालने के अनेक प्रयत्नों में से एक के रूप में राजा के समक्ष प्रस्तुत किए गए महान् मांगपत्र नामक दस्तावेज से एक अंश उद्धृत करना काफी होगा। इसमें कहा गया है कि—

> "परमश्रेष्ठ अपने महान् एवं लोक-कार्यों में ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करने और विश्वासयुक्त स्थानों में अपने निकट ऐसे व्यक्तियों को लेने की कृपा करेंगे जिन पर विश्वास करने के लिए आपकी संसद् के पास आधार हों।"

यद्यपि संसद् विजयी हुई और राजा का वध कर दिया गया, किन्तु उसके पुत्र चार्ल्स द्वितीय के अधीन एकतंत्र के प्रत्यावर्त्तन के दौरान में कुछ पुरानी बुराइयां फिर लौट आईं और विद्यमान कार्यपालीय प्रणाली के विकास का दूसरा प्रक्रम सन् १६८८ की क्रांति के रूप में आ पहुंचा। विलियम तृतीय (सन् १६८९–१७०२) और एन (सन् १७०२-१४) के शासनकालों में मंत्रिमंडल (केबिनेट), विधि में अज्ञात होते हुए भी, वास्तव में "राज्य में एकमात्र, सर्वोच्च परामर्शदात्री परिषद् एवं कार्यपालिका सत्ता" बन गया। किन्तु तब भी

इस मंडल का अध्यक्ष राजा ही था। उसे राजा की शक्ति से बिलकुल अलग करने और एक मंत्री--प्रधान मंत्री--को उसका अध्यक्ष बनाने के लिए अवसर-रूपी पहिए के एक और मोड़ की आवश्यकता थी। यह कार्य एन की मृत्यु पर हेनोवर वंश के उत्तराधिकारी बन जाने की घटना से सम्पन्न हुआ। धर्म के मुकाबले में राष्ट्रीयता का त्याग करते हुए अंगरेजों ने अंगरेज कैथोलिक (जेम्स द्वितीय के पुत्र) के स्थान पर एक जर्मन प्रोटेस्टेंट को पसन्द किया। जॉर्ज प्रथम और जॉर्ज द्वितीय अंगरेजी बोलने में असमर्थ थे और इसलिए उन्होंने मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग लेने की प्रथा को बिलकुल ही छोड दिया। इसके फलस्वरूप मंत्रिमंडल की अध्यक्षता मुख्य मंत्री को प्राप्त हो गई।

अतः, मंत्रिमंडल के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने का कार्य वैसा ही नही है जैसा कि प्रधान मंत्री के पद के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करना। किन्तु वालपोल के समय में ये दोनों बातें मिल गई। उस समय उन लक्षणों का, जो आज मंत्रिमंडल की विशिष्टताएं हैं, निश्चित रूप से प्रादुर्भाव हुआ और सन् १७४२ में वालपोल के पतन और उसके फलस्वरूप ह्विग दल के कमजोर पड़ जाने के पश्चात्, जिसका फायदा उठाते हुए जॉर्ज तृतीय ने राजकीय विशेषाधिकारों को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया, एक अस्पष्ट अवधि के बाद अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मंत्रिमंडल ने फिर से स्थायी तौर पर वही रूप ग्रहण कर लिया। एच० डी० ट्रेल ने मंत्रिमंडल की राजनीतिक धारणा को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वह एक ऐसा निकाय है, जिसमें आवश्यक रूप से ऐसे व्यक्ति होते हैं—

"(क) जो विधानमंडल के सदस्य हों,

"(ख) जिनके राजनीतिक विचार समान हों और जो लोकसभा में बहुमत-प्राप्त दल से चुने जाएं;

"(ग) जो एक-सी नीति पर चलें,

"(घ) संसद् द्वारा निन्दा की जाने की अवस्था में जिनका सामूहिक त्यागपत्र द्वारा व्यक्त संयुक्त उत्तरदायित्व हो; और

"(ङ) जो समान रूप से एक प्रधान मंत्री के अधीन हो।"

इन लक्षणों को और भी संक्षेप में हम तीन बातों में व्यक्त कर सकते हे : एकरूपता, एकता, और एक प्रधान के प्रति समान निष्ठा।

इस कार्यपालिका-प्रणाली का सार यह है कि, अंतिम विश्लेषण में, मंत्रिमंडल संसद् की एक समिति है जिसमें लोकतंत्र की प्रगति के साथ-साथ लोकसभा की समिति बन जाने की प्रवृत्ति है। कार्यपालिका पर संसद् के प्रभुत्व के ऐतिहासिक विकास का दल-प्रणाली के विकास से सम्बन्ध है। अभी कुछ पहले तक इन दो विकासों में से किसी का भी संविधान की विधि से कोई संबंध नहीं था। जैसा हम पहले कह चुके है, मंत्रिमंडल सन् १९३७ से पूर्व ब्रिटेन की विधियों में उस रूप में कहीं भी वर्णित नहीं था और कोई भी व्यक्ति प्रिवी कौंसिल का सदस्य हुए बिना मंत्रिमंडल का सदस्य नहीं हो सकता, जिसमें से, जैसा कि हम

बता चुके हैं, मंत्रिमडल का विकास हुआ है। राजा द्वारा प्रिवी कौंसिल का दुरुपयोग ही संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल के विकास का वास्तविक कारण था। मॉण्टेस्क्यू और ब्लेकस्टन के कथनानुसार वैधानिक और कार्यपालिका कृत्यों के पूर्णतम पृथक्करण के द्वारा स्वतंत्रता के उद्देश्य की प्राप्ति की बात तो दूर रही, ब्रिटेन के इतिहास ने इसके विपरीत यह सिद्ध किया है कि स्वतंत्रता इनके निकट संबंध से ही सुनिश्चित हो सकती है। ब्रिटेन के इतिहास की एक छोटी अवधि के दौरान में विधि वहां के संविधान के इस प्रथागत विकास की सम्पूर्ण भावना के विरुद्ध रही। सन् १७०१ के एक्ट ऑफ सेटिलमेंट की एक धारा के अनुसार कोई भी पदधारी लोकसभा में नहीं बैठ सकता था। छह वर्ष बाद यह धारा निरस्त कर दी गई किन्तु न तो इस धारा के सम्मिलित करने के समय और न उसका निरसन करने के समय ही राजनीतिज्ञ इस बात को समझ सकते थे कि शासनयंत्र के भविष्य पर इसका क्या और कितना प्रभाव होगा। मंत्रिमंडलीय प्रणाली का प्रादुर्भाव तभी हो गया था जब कि राजकीय विशेषाधिकार पूरी तरह समाप्त नही हुए थे और एक्ट ऑफ सेटिल-मेंट की उपर्युक्त धारा का प्रयोजन यह था कि कार्यपालिका-कृत्य वृहत्तर निकाय—प्रिवी कौंसिल को—पुनः सौंप दिए जाएं। यह अनुमान था कि कौंसिल के सदस्यों को लोकसभा से हटा लेने मे भ्रष्ट संसदीय व्यवस्था के द्वारा राजा की षड्यंत्र करने की शक्ति घट जाएगी।

किन्तु निरसन अधिनियम—सन् १७०७ के प्लेस एक्ट—ने संविधान को इस खतरे से बचा लिया; किन्तु उक्त धारा दो दिशाओं में प्रभावकारी बनी रही। प्रथम, धारा का जो भाग शेष रहा उसके एक अंश के अनुसार कोई भी पदधारी सरकारी अनुबन्धों को धारण नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मंत्रिमंडल के किसी भी सदस्य को ऐसे अनुबन्धों से संबंधित किसी कम्पनी में किसी भी प्रकार की सक्रिय दिलचस्पी नहीं होनी चाहिए। द्वितीय, उक्त धारा स्थायी अ-सैनिक सेवा-व्यवस्था पर अब भी लागू होती है जिसका कोई भी सदस्य संसद् में नहीं बैठ सकता। प्रिवी कौंसिल विधि की दृष्टि से विद्यमान है; किन्तु अब उसकी कोई भी राजनीतिक शक्ति नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मंत्रिमंडल का सदस्य पद ग्रहण करने पर प्रिवी कौंसिल का शपथप्राप्त सदस्य होना चाहिए, किन्तु एक बार प्रिवी कौंसिल का सदस्य हो जाने पर वह सदा ही उसका सदस्य बना रहता है। फलस्वरूप प्रिवी कौंसिल में तत्कालीन मंत्री ही नहीं, बल्कि और सदस्यो के साथ-साथ सभी भूतपूर्व मंत्री भी होते हैं; अतएव वह पुरुषों और आजकल कभी-कभी स्त्रियों का भी एक बहुत बड़ा निकाय होती है, जिसका प्रत्येक सदस्य सम्मानित सदस्य (राइट ऑनरेवुल) की उपाधि से विभूषित होता है।

इस प्रकार, ब्रिटेन में मंत्रिमंडल का जीवन संसद् की सद्भावना पर निर्भर है जिसका अर्थ आधुनिक अवस्थाओं में लोकसभा का विश्वास है। इसका मतलब यह हुआ कि अन्तत नियंत्रण निर्वाचकगण के हाथों में है। जैसा कि वाल्टर बेजहॉट ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ बताया है, मंत्रिमंडल एक जीव है, किन्तु, अन्य जीवों के विपरीत, उसमें अपने स्रष्टा

अर्थात् लोकसभा को नष्ट करने की शक्ति है, क्योंकि यदि लोकसभा में मंत्रिमंडल की हार हो जाए तो वह त्यागपत्र देने के स्थान पर उस सभा को, जिस पर वह स्वयं निर्भर है, भंग करने के लिए राजा को परामर्श दे सकता है। तब इस बात का निर्णय निर्वाचकगण करते हैं कि वह दल जिसके मंत्रिमंडल ने अपील की है, बहुमत प्राप्त करेगा या नहीं।[1] इससे यह पता चल जाता है कि मंत्रिमंडलीय शासन की स्थिरता किस अनिवार्य सीमा तक दल-प्रणाली पर निर्भर है। ब्रिटेन के इतिहास में ऐसे अवसरों पर, जब कि सरकार को लोकसभा के, अपने दल से पृथक्, अन्य भागों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ा है, उसका अस्तित्व सदा ही अनिश्चित रहा है, जैसा कि, उदाहरणस्वरूप, सन् १९२४ में मजदूर सरकार के मामले में और एक बार फिर सन् १९२९-३१ के दौरान में सिद्ध हुआ।[2]

यह दल-प्रणाली ही मंत्रिमंडल को उसकी एकरूपता प्रदान करती है और प्रधान मंत्री की स्थिति में उसको दृढ़ता प्राप्त होती है। वास्तव में साररूप में इंगलैंड में मंत्रिमंडल का अर्थ समिति की अपेक्षा एक व्यक्ति का शासन अधिक है। उस व्यक्ति को लोकसभा के समक्ष संयुक्त मंत्रिमंडल के समर्थन के साथ पहुंचना चाहिए। किन्तु यह संयुक्त मोर्चा स्वयं उसके ऊपर निर्भर है। मंत्रिगण एक साथ ही पद ग्रहण करते हैं और एक साथ ही पदत्याग करते हैं, किंतु यदि मंत्रिमंडल में मतभेद हो तो प्रधान मंत्री को यह शक्ति होती है कि वह या तो मतभेद रखनेवाले मंत्रियों को व्यक्तिगत रूप से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य करे या समस्त मंत्रियों के सहित स्वयं भी त्यागपत्र दे दे। यही तरीका है जिससे कि इंगलैंड में मंत्रिमंडलीय प्रणाली दल-प्रणाली के साथ अविच्छिन्न रूप से गुथी हुई है। ऐसे राज्यों में जहां मंत्रिमंडलीय प्रणाली को अपनाया गया है किन्तु उसको बल देनेवाली शक्तिशाली दल-प्रणाली—अर्थात् निर्वाचित सभा में समर्थन करनेवाले ठोस बहुमत—का अभाव है, वहां शासन कभी भी उतना स्थिर नहीं होता और वह अवस्था, जिसे मंत्रिमंडलीय संकट कहा जाता है, इंगलैंड की अपेक्षा बहुत अधिक आती रहती है, जैसा विशेषकर फ्रांस में होता है।

---

[1] किन्तु इस विषय पर एल० एस० एमरी की पुस्तक 'थॉट्स ऑन दि कांस्टीट्यूशन' (सन् १९४७) देखिए। इसमें लेखक ने इस बात से इनकार किया है कि "राजनीतिक शक्ति नागरिक की ओर से विधानमंडल के द्वारा एक कार्यपालिका को, जो कि उस विधानमंडल पर निर्भर है, सौंपी जाती है।" लेखक का कहना है कि ब्रिटेन की व्यवस्था "मुकुट और राष्ट्र का संयोग" है। इनमें प्रथम को मंत्रिमंडल और मंत्रिसमूह में प्रतिनिधित्व प्राप्त है जो कि शासन और सूत्रपात करते हैं; दूसरे को संसद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त है जिसका काम आलोचना करना और सम्मति प्रदान करना है।

[2] अंतिम वर्ष में प्रधान मंत्री रेमजे मेकडॉनेल्ड अपने पद की रक्षा तभी कर सके जब कि उन्होंने अपने अनुयायियों के विशाल बहुमत को छोड़ दिया और मुख्यतः अनुदार दल के सदस्यों को मिलाकर एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की।

संक्षेप में, ब्रिटिश कार्यपालिका-प्रणाली की उल्लेखनीय बातें ये हैं कि वह अपने अस्तित्व के लिए निर्वाचित सदन के बहुमत के समर्थन पर निर्भर रहती है, उसके (राष्ट्रीय संकट की अवस्थाओं को छोड़) सदस्य एक ही दल में से लिए जाते हैं, प्रधान मंत्री की स्थिति उसे दृढ़ बनाती है। सन् १९३७ में 'राजा के मंत्री अधिनियम' के पारण तक मंत्रिमंडल और प्रधान मंत्री के पद की विधि में कोई चर्चा नहीं थी; उस संस्था का जिसका विधि में सदा से उल्लेख था अर्थात् प्रिवी कौंसिल का, जिसमें कि पिछले और वर्तमान सभी मंत्रिमंडल के सदस्य होते हैं, अब कोई वास्तविक राजनीतिक महत्त्व नहीं है। इस विकास ने मुकुट के पुराने विशेषाधिकार बिलकुल ही नष्ट कर दिए हैं; वह समस्त कार्यपालिका-शक्ति के सहित विधानमंडल के नियंत्रण के अधीन हो गया है। यह प्रणाली ऐसी जगहों में भी रोपी गई है जिनको उसे प्राप्त करने और परिपक्व बनाने के लिए पहले तैयार नहीं किया गया। इस प्रकार के एक-दो राज्यों की स्थिति का अवलोकन करना लाभप्रद होगा और इस अध्याय के अगले विभागों में हम यही करेंगे।

४. ब्रिटेन के स्व-शासी डॉमिनियनों में उत्तरदायी शासन

स्व-शासी डॉमिनियन वह है जिसमें उत्तरदायी शासन होता है, और व्यावहारिक रूप में उत्तरदायी शासन का अर्थ उन उपनिवेशों में, जिनमें कार्यपालिका-कृत्य पहले साम्राज्यिक सरकार के हाथों में थे, मंत्रिमंडलीय प्रणाली को लागू करना ही है। उत्तरदायी शासन का अर्थ केवल यही नहीं है कि जिस डॉमिनियन में उसका प्रयोग किया जाता है वह अपने हितों से सम्बद्ध मामलों में विधायनसंबंधी स्वतंत्रता का उपभोग करेगा बल्कि यह भी है कि उसकी कार्यपालिका जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रत्यक्षतः एवं पूर्णरूपेण नियंत्रित होगी। इस प्रकार, प्रत्येक स्व-शासी डॉमिनियन में भी ठीक वैसा ही हुआ है जैसा कि ब्रिटेन में; अन्तर केवल यही रहा है कि वहां यह विकास बहुत थोड़े समय में हो गया। पुरानी व्यवस्था के अधीन—जिसे सामान्यतया पुरानी औपनिवेशिक प्रणाली कहते हैं—उपनिवेश का गवर्नर-जनरल राजा अर्थात् ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करता था। किन्तु जिस प्रकार ब्रिटेन में राजा की वास्तविक राजनीतिक शक्ति संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल के विकास द्वारा प्रारंभ में रोकी और अंत में नष्ट कर दी गई, उसी प्रकार उपनिवेशों में भी गवर्नर-जनरल की शक्ति, उसको निर्वाचित सभा में बहुमतप्राप्त दल से अपने परामर्श-दाताओं को चुनने के लिए बाध्य करके, नष्ट कर दी गई। ऐसा हो जाने पर कार्यपालीय शक्ति वस्तुतः ब्रिटिश सरकार के हाथों से निकलकर स्वयं डॉमिनियन को प्राप्त हो गई।

ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों के बीच निरंतर संबंध बनाए रखने की कठिन समस्या को हल करने का यह तरीका उस सीमा से बहुत आगे बढ़ गया है जिस तक इसका आविष्कार करनेवाले जाना चाहते थे। इसका आरम्भ कनाडा में सन् १८३७ के विद्रोहों के फलस्वरूप हुआ जिनके पश्चात लॉर्ड डरहम को गवर्नर-जनरल बनाकर कनाडा भेजा गया था। उसको

कनाडा की अवस्था के बारे में रिपोर्ट देने और भविष्य में उसके शासन के लिए सुझाव प्रस्तुत करने का विशेष कार्यभार सौंपा गया था। सन् १८३९ की उसकी रिपोर्ट का ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उसने उत्तरदायी शासन की ओर प्रगति सम्भव कर दी। किन्तु डरहम ने कार्यपालिका-कृत्य के संबंध में स्थानीय और साम्राज्यिक प्रश्नों के बीच भेद करने का प्रयत्न किया था और कुछ ऐसे विषय निर्धारित कर दिए थे जो ब्रिटेन में स्थित सरकार के लिए स्थायी रूप से रक्षित होने चाहिए थे। इंगलैंड में उस समय अनेक योग्य व्यक्तियों को संदेह था कि इस प्रकार का भेद बनाए रखना संभव होगा या नहीं और उन्हें विश्वास था कि एक ऐसा समय आएगा जब कि सब शक्तियां डॉमिनियनों को प्राप्त हो जाएंगी। इतिहास ने इस सन्देह और इस विश्वास को सही सिद्ध कर दिया है। किन्तु डरहम की रिपोर्ट को उन आलोचकों के मतानुसार क्रियान्वित न करने के बजाय अंगीकार करना पर्याप्त रूप से उचित सिद्ध हुआ है। इसका कारण यह है कि एक बार व्यावहारिक राजनीति के रूप में ग्रहण कर लिए जाने पर उत्तरदायी शासन के कारण वह समस्त विकास संभव हो सका जिससे डॉमिनियनों को निर्बन्ध शक्ति प्राप्त हो सकी, जिसके बिना राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ) कायम नहीं रह सकता था।

सन् १८४० के कनाडा अधिनियम से कनाडा में मंत्रिमंडलीय प्रणाली की स्थापना नहीं हुई, किन्तु उसके कारण डरहम के उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरलों, विशेषकर लॉर्ड सिडेनहम और लॉर्ड एलगिन, की राजनीतिज्ञता के द्वारा उसका विकास संभव हो गया। इन पदाधिकारियों ने विधानमंडल के उन सदस्यों में से जो निम्न सदन में बहुमत दल के होते थे, कार्यपालिका परिषद् का निर्माण करना आरम्भ कर दिया जिसने धीरे-धीरे प्रथा का रूप धारण कर लिया, और यद्यपि ब्रिटेन की सरकार ने प्रतिक्रियावादी गवर्नर-जनरल नियुक्त करके इस विकास को रोकने के प्रयत्न किए तथापि यह नीति इतनी सफल हुई कि सन् १८४९ में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉर्ड जॉन रसल लोकसभा में यह कहने में समर्थ हो सका कि—

> "यदि कनाडा के वर्त्तमान मंत्रिमंडल को लोकमत और सभा का समर्थन प्राप्त है तो वह पदारूढ़ रहेगा। इसके विपरीत यदि प्रांत की राय उसके विरुद्ध होतो गवर्नर-जनरल अन्य सलाहकारों को नियुक्त करेगा और यहां अंगीकार किए गए नियम के अनुसार ही कार्य करेगा।"

ब्रिटेन की संसद् के दोनों सदनों ने बहुमत द्वारा इस नीति को स्वीकार कर लिया और उस समय से अपनी कार्यपालिका पर अपने विधानमंडल द्वारा नियंत्रण रखने के कनाडा के अधिकार पर कभी कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। कनाडा डॉमिनियन की स्थापना करनेवाले सन् १८६७ के अधिनियम ने मंत्रिमंडलीय प्रणाली के अस्तित्व को मान लिया जब कि उसके ग्यारहवें अनुच्छेद में यह कहा गया कि "कनाडा की सरकार को सहायता और सलाह देने के लिए एक परिषद् होगी जो महारानी की कनाडा की प्रिवी कौंसिल कहलाएगी", और व्यवहार में यही मंत्रिमंडल है।

इसी बीच उत्तरदायी शासन का सिद्धांत सन् १८५० में न्यू साउथ वेल्स, टसमानिया, न्यूजीलैंड और केप कॉलोनी के बारे में भी स्वीकार कर लिया गया। इसके फलस्वरूप, अन्य उपनिवेशों के मामलों में भी यही हुआ कि जब कभी कोई उपनिवेश ऐसी स्थिति में पहुंच जाता था कि उसे उसके अपने मामले निश्चितता के साथ सौंपे जा सकते थे तब उसे उत्तरदायी शासन का अनुदान कर दिया जाता था। इसका सबसे ताजा उदाहरण लंका है, जिसे सन् १९४८ में उत्तरदायी शासन प्रदान किया गया। इसी प्रकार, जब आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ और दक्षिणी अफ्रीका संघ की स्थापना का समय आया तब पूर्ववर्त्ती पृथक इकाइयों में पहले से ही स्वीकृत मंत्रिमंडलीय प्रणाली प्रत्येक अवस्था में नए अधिनियम के अधीन कार्यपालिका-व्यवस्थाओं का एक आवश्यक अंग बन गई। कॉमनवेल्थ अधिनियम के अनुच्छेद चौसठ में कहा गया है—

"प्रथम सामान्य निर्वाचन के पश्चात् राज्य का कोई भी मंत्री तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए तब तक पद धारण नहीं कर सकेगा जब तक कि वह या तो सिनेटर या प्रतिनिधि-सभा का सदस्य न हो या न बन जाए।"

इसी प्रकार दक्षिण-अफ्रीकन अधिनियम के अनुच्छेद १४ में कहा गया है—

"सभा-भवन के सदस्यों के प्रथम सामान्य निर्वाचन के पश्चात् कोई भी मंत्री तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए तब तक पद धारण नहीं करेगा जब तक कि वह संसद् के किसी एक सदन का सदस्य नहीं हो या नहीं बन जाए।"

आयरिश स्वतंत्र राज्य संविधान अधिनियम (सन् १९२२) का अनुच्छेद ५१ डॉमिनियनों में मंत्रिमंडलीय शासन के स्वरूप का सुन्दर दृष्टांत प्रस्तुत करता है। यद्यपि सन् १९२२ के संविधान का अब सन् १९३७ के संविधान द्वारा अपाकरण हो गया है फिर भी मूल अनुच्छेद उल्लेखनीय है। उसमें कहा गया है—

"आयरिश स्वतंत्र राज्य की कार्यपालिका-सत्ता एतन्द्वारा राजा में निहित घोषित की जाती है और कनाडा डॉमिनियन में कार्यपालिका-सत्ता के प्रयोग को नियमित करनेवाली विधि, प्रथा और सांविधानिक रिवाज के अनुसार, मुकुट के प्रतिनिधि द्वारा प्रयुक्त होगी। आयरिश स्वतंत्र राज्य के शासन में सहायता और सलाह देने के लिए एक परिषद् होगी जो कार्यपालिका परिषद् कहलाएगी। कार्यपालिका परिषद्, प्रतिनिधि-सदन के प्रति उत्तरदायी होगी और उसमें कम-से-कम पांच और अधिक-से-अधिक सात मंत्री होंगे जो मुकुट के प्रतिनिधि द्वारा कार्यपालिका परिषद् के अध्यक्ष के निर्देशन पर नियुक्त किए जाएंगे।"

नए संविधान में राजा का कोई उल्लेख नहीं है और निष्ठा की शपथ भी नहीं है। किन्तु इससे पहले दिसम्बर में आयरिश स्वतंत्र राज्य (जो उस समय विद्यमान था) की संसद् ने अन्य डॉमिनियनों के साथ एक अधिनियम पारित किया था जिसमें एडवर्ड अष्टम के राजपद-त्याग पर उसके उत्तराधिकारी को "कूटनीतिक और वाणिज्यिक प्रतिनिधियों

की नियुक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय करारों को करने के प्रयोजनों के लिए जब तक सम्बद्ध डॉमिनियन राजा को अपने सहयोग के प्रतीक के रूप में स्वीकार करते रहेंगे, तब तक के लिए" स्वीकार किया गया था।

राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा होता है और वह सात वर्ष के लिए पद धारण करता है। उसकी कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग साधारणतया एक मंत्रिमंडल के द्वारा होता है, जिसमें एक प्रधान मंत्री होता है। यह दो सदनों की संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है। निम्न सदन सार्वजनिक वयस्क-मताधिकार द्वारा निर्वाचित होता है और उच्च सदन आंशिक रूप में निर्देशित और आंशिक रूप में विशेष उपबन्धों के अधीन तैयार की गई सूचियों में से निर्वाचित होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति की कुछ शक्तियां ऐसी होती हैं जो एक राज्य-परिषद् की सहायता से प्रयुक्त की जाती हैं। राज्य-परिषद् एक परामर्शदाता और सलाह-कार निकाय है, जिसमें (प्रधान मंत्री समेत) सात पदेन सदस्य और राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित अन्य सदस्य होते हैं। न्यायाधीशों का एक सर्वोच्च न्यायालय भी है जिसके पास राष्ट्रपति किसी विधेयक को उस पर हस्ताक्षर करने से पूर्व इस बात के निर्णय के लिए भेज सकता है कि उसके कोई उपबन्ध संविधान के विरुद्ध तो नहीं हैं और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की घोषणा तक विधेयक को स्वीकार करना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य नहीं है। ऐसे उपबन्ध भी हैं जो राष्ट्रपति को किसी भी समय राष्ट्र के नाम एक संदेश संबोधित करने का अधिकार देते हैं और कुछ विधेयकों के बारे में, जो कि कुछ शर्तों के अधीन जनता के निर्णय के लिए निर्देशित किए जा सकते हैं, लोक-निर्देशन के प्रयोग की अनुमति भी देते हैं।

सन् १९२६ के साम्राज्यिक सम्मेलन और सन् १९३१ की वेस्टमिंस्टर संविधि के फल-स्वरूप, डॉमिनियनों के गवर्नर-जनरल ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि नहीं रह गए हैं (जैसा कि हम पहले बता चुके हैं) और राजा के प्रतिनिधि बन गए हैं। इस परिवर्तन से ब्रिटेन की सरकार के पास किसी भी स्व-शासी डॉमिनियन में संचार का कोई साधन तक नहीं रहा और यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक डॉमिनियन में एक पदाधिकारी नियुक्त किया जाए जो ब्रिटेन की सरकार और जिस डॉमिनियन में वह नियुक्त किया गया हो उसके बीच एक सम्पर्क पदाधिकारी के रूप में काम करे। उदाहरण के तौर पर, कनाडा में यह पदाधिकारी **'ग्रेट ब्रिटेन में सम्राट् की सरकार के लिए कनाडा में उच्चायुक्त'** कहलाता है। इस प्रकार, ब्रिटिश सरकार डॉमिनियनों में कार्यपालिका-नियंत्रण के आभास तक से वंचित हो गई है और उत्तरदायी शासन पूर्णरूपेण स्थापित हो गया है। यह कल्पना करना बड़ा कठिन है कि डॉमिनियनों की स्वतन्त्रता तथा इसके साथ ही ब्रिटेन के साथ नैतिक बन्धन को चिरस्थायी रूप देते हुए उपनिवेशों के मामले में कौन-सी अन्य कार्यपालिका प्रणाली संभव हो सकती थी। क्योंकि यदि वास्तविक कार्यपालिका डॉमिनियन की संसद् के नियंत्रण के अधीन होने की बजाय उसकी शक्ति से परे होती तब या तो गवर्नर-जनरल

सर्वोच्च कार्यपालक होता जिस अवस्था में स्वतंत्रता नहीं हो सकती थी; या फिर गवर्नर-जनरल होता ही नहीं जिस अवस्था में ब्रिटेन के साथ नैतिक बन्धन बिलकुल ही टूट जाता।

५. फ्रांसीसी गणतंत्र में मंत्रिमंडल

यदि विद्यार्थी फ्रांस में मंत्रिमंडलीय शासन के महत्त्व को न समझे तो वह उस देश में गणतंत्र का समस्त अर्थ ही नहीं समझ सकता। तृतीय गणतंत्र के प्रारंभिक दिनों में **सर हेनरी मेन** ने लिखा था कि "कोई भी ऐसा विद्यमान पदाधिकारी नहीं है जिसकी स्थिति फ्रांसीसी राष्ट्रपति से अधिक दयनीय हो। फ्रांस के पुराने राजा राज्य करते थे और साथ ही शासन भी करते थे। एम० दीयर के अनुसार, सांविधानिक राजा राज्य करता है किन्तु शासन नहीं करता। अमरीका का राष्ट्रपति शासन करता है किन्तु राज्य नहीं करता। यह बात केवल फ्रांस के राष्ट्रपति पर ही लागू होती है कि वह न तो राज्य करता है और न शासन ही करता है।" यद्यपि इस कथन की भाषा कुछ उग्र है तथापि उससे तृतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति की स्थिति, जैसी कि वह प्रारंभिक वर्षों में थी और जैसी वह सार-रूप में अन्त तक बनी रही, मोटे तौर से सचाई के साथ व्यक्त होती है। चतुर्थ गणतंत्र (सन् १९४६) के संविधान ने भी राष्ट्रपति की वास्तविक शक्तियों में कोई मूल परिवर्तन नहीं किया। अब भी वास्तविक तथ्य यही है कि फ्रांस में राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यपालक है न कि वास्तविक। वास्तविक कार्यपालिका तो एक मंत्रिमंडल है, जिसमें अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है और जो संसद् के प्रति उत्तरदायी है। तृतीय गणतंत्र के अधीन तो मंत्रि-मंडल दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी होता था किन्तु अब चतुर्थ गणतंत्र के अधीन वह केवल राष्ट्रीय सभा (पहले का प्रतिनिधि-सदन) के प्रति ही उत्तरदायी होता है। इस संबंध में सिनेट (अब गणतंत्र परिषद्) की मूल शक्ति नए संविधान में स्पष्ट रूप से समाप्त कर दी गई है।

इस प्रकार तृतीय गणतंत्र की ही तरह चतुर्थ गणतंत्र में भी राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए, जनता द्वारा नहीं बल्कि फ्रांसीसी संसद् के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन द्वारा निर्वाचित किया जाता है। वह किसी भी कार्यपालिकासंबंधी मामले में कोई कार्यवाही अपने मंत्रियों के द्वारा ही कर सकता है अन्यथा नहीं; उसकी प्रत्येक आज्ञप्ति पर संविधान के अनुसार मंत्रियों के प्रतिहस्ताक्षर होने चाहिए। शक्तियों की एक लम्बी सूची के बावजूद, जिनसे सन् १९४६ के संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति विभूषित रहता है, संविधान में स्पष्टतः कहा गया है (जैसा कि सन् १८७५ के संविधान में भी कहा गया था) कि राष्ट्रपति केवल राज-द्रोह के मामले में ही 'उत्तरदायी' है (अनुच्छेद ४२)। जैसा कि हम बता चुके हैं, फ्रांस में एक मंत्रिपरिषद् है जिसका नाममात्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, परन्तु चूंकि यह परिषद् सभा के प्रति उत्तरदायी होती है अतएव यह मंत्रिमंडल का रूप धारण कर लेती है जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है। संविधान में कहा गया है कि राष्ट्रपति राष्ट्रीय सभा को

संबोधित संदेशों के द्वारा संसद् से सम्पर्क स्थापित करेगा किन्तु इससे मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व को ही बल मिलता है; क्योंकि ऐसा संदेश ब्रिटेन के राजा के अभिभाषण के ही समान होता है जो कि प्रत्येक संसदीय सदन के आरम्भ में तत्कालीन सरकार की नीति की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, जैसा कि एक महान् फ्रांसीसी लेखक ने कहा है, राष्ट्रपति "मंत्रिमंडल का और संसद् का बंदी है।" वह ठीक एक सांविधानिक राजा की जैसी स्थिति में है। "वह नाममात्र का कार्यपालक है जो नाममात्र के लिए बड़ी शक्तियों से विभूषित है और जो उनका प्रयोग करने से एक उत्तरदायी संसदीय मंत्रिमंडल के कार्य से अवरुद्ध होता है।" संक्षेप में वह "सात वर्ष के लिए सांविधानिक राजा है।"

फ्रांस का मंत्रिमंडल कई बातों में ब्रिटेन के मंत्रिमंडल से भिन्न है। विधि में यह लिखित नहीं है कि मंत्रिगणों को दोनों सदनों में से किसी एक का सदस्य होना चाहिए किन्तु व्यवहार में ऐसा ही होता है; क्योंकि किसी भी हालत में उनको सदनों में बोलने की आवश्यकता प्रतीत होती है और वास्तव में यह उनका अधिकार भी है; और अपने मंत्रिमंडल के निर्माण में प्रधान मंत्री को अपने साथियों के राजनीतिक बल के महत्व का ध्यान रखना होता है। दूसरे, नए संविधान में पुराने की ही तरह यह उपबन्ध है कि मंत्रिगण सरकार की सामान्य नीति के लिए सामूहिक रूप से और अपने वैयक्तिक कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मतभेद के लिए मार्ग खुला हो किन्तु व्यावहारिक रूप में मंत्रिमंडल एक निकाय की तरह काम करता है और सदनों में व्यक्तिगत रूप से किसी मंत्री की निन्दा किए जाने पर उसकी रक्षा के लिए सामूहिक रूप से अग्रसर होता है। तीसरे, फ्रांस में प्रधान मंत्री की स्थिति ब्रिटेन के प्रधान मंत्री से कुछ भिन्न है। वह मंत्रियों को नियुक्त और पदच्युत कर सकता है, किन्तु फ्रांस की विचित्र दल-प्रणाली के कारण उसे बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। कोई भी दल इतना शक्तिशाली नहीं होता कि वह सदनों में बहुमत का निर्माण कर सके। इसलिए वह अपने अस्तित्व के लिए संसदीय दलों के किसी संयोग के समर्थन पर निर्भर है। प्रधान मंत्री को उसका समर्थन तब तक मिलता है जब तक कि वह उसके किसी अंग के मत के विरुद्ध नहीं जाता। अतएव, उसको सदा यही डर रहता है कि कहीं वह इस प्रकार निर्धारित संकुचित क्षेत्र का उल्लंघन न कर जाए। यही कारण है कि मंत्रिमंडलों का परिवर्तन ब्रिटेन की अपेक्षा फ्रांस में बहुत अधिक होता है।

मंत्रिमंडलीय संकट के इस प्रश्न को और भी स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। ब्रिटेन और डॉमिनियनों में मंत्रिमंडलीय संकट का संबंध सामान्यतया विघटन से होता है; क्योंकि लोकसभा में पराजित मंत्रिमंडल या तो त्यागपत्र देता है या राजा को लोक-सदन भंग करने का परामर्श देता है। यदि वह त्यागपत्र देता है तो साधारणतः यह होता है कि नए मंत्रिमंडल को विद्यमान लोकसभा में पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाता और तब उसे भंग करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में निर्णय निर्वाचकगण पर निर्भर है। ब्रिटेन में

फ्रांस में संसदीय व्यवस्था की सुरक्षा के लिए निरंतर के मंत्रिमंडलीय संकटों से पैदा होने-वाले खतरे के प्रति जागरूक थे और उन्होंने उसके निवारण के प्रयत्न भी किए। इस संविधान के चार अनुच्छेद मंत्रिमंडल पर विश्वास या उसकी निन्दा प्रकट करने के तरीकों और परि-णामों की व्याख्या करते हैं। ऐसे प्रश्न केवल राष्ट्रीय सभा में ही रखे और विचारे जा सकते हैं; क्योंकि गणतंत्र की परिषद् पुरानी सिनेट की तरह मंत्रिमंडल अथवा सभा की अस्तित्वावधि से संबद्ध विषयों में कोई भाग नहीं ले सकती। नए संविधान के अनुसार निर्धारित नियमों के अधीन यदि किसी मंत्रिमंडल के कार्यकाल के पहले अठारह महीनों में विश्वास या निन्दा के प्रश्न पर दो मंत्रिमंडलीय संकट पैदा हों तो मंत्रिमंडल सभा के अध्यक्ष से परामर्श करके सभा को भंग करने का निश्चय कर सकता है, और यदि वह वैसा निश्चय करे तो गणराज्य के राष्ट्रपति को सभा भंग करने की आज्ञप्ति निकालनी होगी और साधारण निर्वाचन का आदेश देना होगा जो सभा के भंग किए जाने के एक महीने के अन्दर ही हो जाना चाहिए। यह उपाय फ्रांसीसी मंत्रिमंडलों को स्थिरता देने के लिए पर्याप्त है या नहीं, यह केवल समय ही बताएगा।

चतुर्थ गणतंत्र के प्रारम्भिक दिनों में मंत्रिमंडल का निर्माण सभा के तीन मुख्य दलों—समाजवादी, साम्यवादी, और मसीही लोकतंत्रवादी—के संयोजन द्वारा हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद उसके स्थान पर अन्य संयोजन बनने लगे। कुछ भी हो, अनेक फ्रांसवासी संसदीय कार्यपालिका के गुणों पर संदेह करते हैं चाहे उसका आधार कितना ही व्यापक क्यों न हो। वे संसद् द्वारा निर्वाचित और केवल नाममात्र की शक्तियों वाले राष्ट्रपति पर सिद्धांतरूप में इस आधार पर आपत्ति करते हैं कि ऐसी प्रणाली देश में शासन की सत्ता और विदेशों में उसकी प्रतिष्ठा को दुर्बल कर देती है। वे लोग अमरीकी प्रणाली[1] को पसन्द करते प्रतीत होते हैं जिसके द्वारा राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित होता है और उसे वास्तविक शक्तियां प्राप्त होती हैं जिन पर विधानमंडल का कोई नियंत्रण नहीं होता। अ-संसदीय अथवा जनमतीय कार्यपालिका की धारणा के प्रति फ्रांसीसियों का यह प्रेम बहुत पुराना है। इसका स्रोत वह नेपोलियनी परम्परा है, जिसने सन् १८४८ में द्वितीय गणतंत्र के राष्ट्रपति के रूप में लुई नेपोलियन के निर्वाचन, सन् १८५१ में उसके द्वारा बलपूर्वक शासन-परिवर्तन, और सन् १८५२ में द्वितीय साम्राज्य की सफल स्थापना को सम्भव बना दिया। यही राजनीतिक भावना जनरल बूलांजे के उस आंदोलन के पीछे भी थी, जिसके द्वारा उसने जनमतीय कार्यपालिका की पुनःस्थापना के प्रयत्न से सन् १८८६ में एक महान् संकट पैदा कर दिया था। गणराज्य की शक्ति ने बूलांजे षड्यंत्र को कुचल दिया, किन्तु फ्रांस में संसदीय नियंत्रणों से रहित एक लोक-निर्वाचित कार्यपालिका को फिर से स्थापित करने की आशा समाप्त नहीं हुई है। यह बात जनरल डि गाल को प्राप्त

[1] जो अगले अध्याय में दी गई है।

उस शक्तिशाली समर्थन से सिद्ध होती है जो सन् १९४७ में उसके द्वारा प्रारम्भ किए गए 'फ्रांसीसी जन-समारोह'[1] नाम से ज्ञात आंदोलन के संबंध में उसे प्राप्त हुआ।

६. इटली के नवीन गणतंत्र में मंत्रिमंडलीय प्रणाली

इटली के नए गणतंत्र के संविधान के अधीन मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व का सिद्धांत पुन: प्रवर्त्तित किया गया है। यह सिद्धांत सन् १८४८ के सार्डीनियन संविधान में निहित था और इटली राज्य की क्रमिक सरकारों के अधीन उसका विकास तब तक होता रहा, जब तक कि फासिस्ट अधिनायकवाद ने उसे समाप्त नहीं कर दिया। मूल संविधान के अनुच्छेद ६५ में कहा गया था कि मंत्रियों को राजा नियुक्त एवं पदच्युत करता है; किन्तु अनुच्छेद ६७ में कहा गया था कि मंत्रिगण संसद् के प्रति उत्तरदायी होंगे और कोई भी विधियां या सरकारी कार्यवाहियां तब तक प्रभावकारी नहीं होंगी जब तक कि उन पर किसी मंत्री के हस्ताक्षर न हों। अनुच्छेद ६६ में कहा गया था कि मंत्रियों को प्रतिनिधि-सदन या सिनेट में मत देने का अधिकार नहीं होगा जब तक कि वे उनमें से किसी एक के सदस्य न हों; किन्तु उनको दोनों सदनों में प्रवेश का अधिकार होगा और प्रार्थना किए जाने पर उनको सुना भी जा सकेगा। इस धारा का साधारणतया यह अर्थ लगाया गया कि प्रधान मंत्री पर यह दायित्व था कि वह किसी सदन का सदस्य न होनेवाले मंत्री को या तो सिनेट का सदस्य नियुक्त करे, या उसे प्रतिनिधि-सदन में प्रथम स्थान रिक्त होने के अवसर पर उसकी सदस्यता के लिए उम्मीदवार बनाए। इस प्रकार इटली में सांविधानिक एकतंत्र के अधीन उस मंत्रिमंडलीय प्रणाली का उदाहरण विद्यमान था जैसी ब्रिटेन में प्रचलित है।

अत:, जब हम यह देखते है कि फासिज्म के सत्तारूढ़ होने तक इटली के लोगों को ५० वर्ष से भी अधिक का ऐसी सांविधानिक प्रणाली का अनुभव था, तो हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि अधिनायकवाद और उसके समस्त अनिष्टकर परिणामों की प्रतिक्रिया के रूप में वे संसदीय कार्यपालिका के सिद्धांत की पुनरावृत्ति चाहते हैं। इटली के नवीन गणतंत्र में राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए राष्ट्रीय सभा (अर्थात् दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन) के द्वारा निर्वाचित होता है। इस निर्वाचन में विभिन्न प्रादेशिक परिषदों के अध्यक्ष और प्रत्येक परिषद् द्वारा निरपेक्ष बहुमत से निर्वाचित एक-एक सदस्य भी भाग लेते हैं। किन्तु राष्ट्रपति को कोई प्रत्यक्ष राजनीतिक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं क्योंकि संविधान के अनुच्छेद ८५ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसका

---

[1] सन् १९५१ के साधारण निर्वाचन में उस वर्ष की नई निर्वाचन-विधि के अधीन विभाजित स्थानों से पृथक्, वास्तविक मतदान से यह प्रकट हुआ कि फ्रांस के निर्वाचकगण में से लगभग आधे मतदाताओं को चतुर्थ गणतंत्र के अधीन क्रियान्वित संसदीय सरकार की अपेक्षा दक्षिण या वामपक्ष की किसी अधिक सर्वसत्तावादी प्रणाली में विश्वास था।

कोई भी कार्य प्रधान मंत्री या किसी उपयुक्त मंत्री, जो उत्तरदायित्व ग्रहण करता है, की पुष्टि के बिना मान्य नहीं है और राष्ट्रपति राजद्रोह अथवा संविधान के उल्लंघन में किए गए कार्यों के सिवाय किसी बात के लिए उत्तरदायी नहीं है। राजद्रोह और संविधान के उल्लंघन की अवस्था में उस पर राष्ट्रीय सभा द्वारा महाभियोग चलाया जा सकता है।

नए गणतंत्र के संविधान के अध्याय तीन के पांच अनुच्छेद मंत्रिमंडल अथवा मंत्रि-परिषद् की हैसियत, उसके स्वरूप और कृत्यों की विवेचना करते हैं। इसमें कहा गया है कि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री का निर्देशन करता है जो मंत्रियों के नामों को प्रस्तुत करता है और इस प्रकार गठित मंत्रिमडल को अपने निर्माण के आठ दिनों के अन्दर निरपेक्ष बहुमत द्वारा राष्ट्रीय सभा का विश्वास प्राप्त कर लेना चाहिए। दोनों सदन शासन के प्रति अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव पेश करने के लिए समान रूप से सक्षम है, किन्तु यदि विप-रीत मत के फलस्वरूप मंत्रिमंडल त्यागपत्र देने को तैयार न हो तो वे राष्ट्रीय सभा के रूप में दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकते हैं जो कि मामले का निर्णय करता है। मंत्रिगण मंत्रिमंडल के कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं और प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के कार्यों के लिए उत्तरदायी है। अतएव, यह स्पष्ट है कि इटली के नवीन गणतंत्र का राष्ट्रपति केवल नाममात्र का कार्यपालक है और वास्तविक कार्यपालक तो प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल है जो संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं। दूसरे शब्दों में, इटली गणतंत्र में संस-दीय कार्यपालिका है और इस सम्बन्ध में उसका संविधान इटली के प्रारम्भिक सांविधानिक राज्य, ग्रेट ब्रिटेन और तृतीय तथा चतुर्थ फ्रांसीसी गणतंत्रों के संविधानों के समान ही है।

७. प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी और अन्य राज्यों द्वारा अंगीकृत मंत्रिमंडलीय प्रणाली

मंत्रिमंडलीय प्रणाली, जो प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व यूरोप के अधिकतर सांविधानिक राज्यों का विशिष्ट लक्षण बन गई थी, युद्ध द्वारा विस्तारित अथवा निर्मित नए राज्यों के द्वारा तथा वेमर गणतंत्र संविधान के अधीन जर्मनी द्वारा भी सामान्यतया अपनाई गई थी। चाहे हम उस निमित्त आस्ट्रिया, पोलैंड, युगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया जैसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों पर विचार करें या अपेक्षाकृत छोटे और महत्त्वहीन फिनलैंड, इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया जैसे राज्यों पर विचार करें, सभी में वही बात दिखाई देगी। इन राज्यों मे से अधिकतर गणतंत्र थे और वास्तव में केवल बाल्कन राज्यों ने ही अपने वंशानुगत एकतंत्रों को जारी रखा, किन्तु इन राज्यों में से प्रत्येक ने संसदीय कार्यपालिका को अपनाया। युद्ध के पश्चात् के प्रारम्भिक काल में प्रचलित राज-नीतिक आशावाद के प्रभाव के अधीन अनेक सांविधानिक व्यवस्थाओं को बाद के वर्षों में, जर्मनी में ही नहीं बल्कि दिन-प्रतिदिन बढ़नेवाली उसी सामाजिक और राजनीतिक बेचैनी से प्रभावित आसपास के अधिकतर राज्यों में भी, बड़ी उथल-पुथल का सामना करना

पड़ा। इसके पश्चात् द्वितीय विश्वयुद्ध में उन सबको नाजी-आधिपत्य की यातना सहन करनी पड़ी। उस दासता से मुक्ति और पूर्वी यूरोप में रूस के प्राधान्य के मुकाबले में सांविधानिक पुनर्वास के लिए उनके संघर्ष की अवस्था में, अपनी पिछली स्वाधीनता के समय उनमें से कुछ राज्यों के द्वारा स्थापित संसदीय कार्यपालिका के स्वरूप का संक्षेप में अवलोकन करना लाभदायक होगा।

वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मन राष्ट्रपति जनता के मतदान द्वारा सात वर्ष के लिए निर्वाचित होता था। संविधान ने बीस वर्ष या उससे अधिक की आयु के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, मताधिकार दे रखा था। राष्ट्रपति एक और अवधि के लिए निर्वाचित हो सकता था या वह कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व ही लोकसभा में दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित प्रस्ताव पर जनता के मतदान द्वारा पद से हटाया जा सकता था। ऐसी अवस्था में यदि जनता का मतदान लोकसभा के विरुद्ध होता तो उस मतदान के फलस्वरूप दो बातें प्राप्त होती थीं: पहली, राष्ट्रपति का पुनर्निर्वाचन, और दूसरी, लोकसभा का विघटन।

फ्रांस की ही तरह जर्मन संविधान में भी राष्ट्रपति की शक्तियों की एक लम्बी सूची निर्धारित की गई थी, किन्तु व्यवहार में वह उन पर अमल नहीं कर सकता था क्योंकि सभी कार्यों के लिए संघीय चांसलर और उसका मंत्रिमंडल उत्तरदायी था। संविधान की कुछ धाराओं द्वारा कार्यपालिका का संसदीय स्वरूप बड़े स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया था। अनुच्छेद ५० में कहा गया था कि राष्ट्रपति के समस्त आदेशों और आज्ञप्तियों पर किसी मंत्री के प्रतिहस्ताक्षर आवश्यक हैं; और प्रतिहस्ताक्षर में उत्तरदायित्व निहित था। अनुच्छेद ५४ में कहा गया था कि "संघ के चांसलर और संघीय मंत्रियों को अपने पद के कार्य के लिए लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। किसी भी मंत्री को, एक स्पष्ट प्रस्ताव द्वारा व्यक्त, लोकसभा के अविश्वास पर त्यागपत्र दे देना चाहिए।" अनुच्छेद ५५ और ५६ में मंत्रिमंडलीय प्रणाली तथा प्रधान मंत्री (अर्थात् संघीय चांसलर) के पद पर बल दिया गया है। इनमें कहा गया है कि संघीय चांसलर संघीय शासन का अध्यक्ष है तथा उसके कार्य का संचालन करता है और वह नीति की मुख्य बातों को निर्धारित करता है, जिसके लिए वह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। अन्त में अनुच्छेद ५८ के अनुसार लोकसभा को गणतंत्र के राष्ट्रपति के सहित संघीय कार्यपालिका के समस्त या किन्हीं सदस्यों पर, गणतंत्र के सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष "संघीय संविधान के या किसी संघीय विधि के दण्ड्य उल्लंघन" के लिए अभियोग चलाने का अधिकार था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध के फलस्वरूप पुरानी साम्राज्यिक शक्ति के छिन्न-भिन्न हो जाने से जर्मनी में कितना बड़ा परिवर्तन आ गया था। सन् १९१८ के परिवर्तनों तक सम्राट् नाममात्र का और वास्तविक दोनों तरह का कार्यपालक होता था। उसका मुख्य मंत्री, जो कि साम्राज्यिक चांसलर कहलाता था, केवल उसी के प्रति उत्तरदायी था और

प्राचीन संविधान के द्वारा लोकसभा जो कुछ करने के लिए समर्थ थी उसका साम्राज्यिक चांसलर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किन्तु गणतंत्री संविधान के अधीन वास्तविक कार्यपालिका-शक्तियों वाले वंशानुगत सम्राट् के स्थान पर केवल नाममात्र की शक्तियों वाला एक निर्वाचित राष्ट्रपति ही आसीन नही किया गया, बल्कि पुराना साम्राज्यिक चांसलर सम्राट् की इच्छानुसार हटाया जा सकनेवाला सम्राट् का प्रत्यक्ष सेवक होने की बजाय लोकसभा का सेवक बन गया। इसके फलस्वरूप लोकसभा को वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई जब कि इससे पहले बहुत व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होने के बावजूद वह केवल एक परामर्शदाता निकाय के रूप में ही विद्यमान थी।

रूमानिया के विस्तारित राज्य में भी पुराना युद्धपूर्व का संविधान लागू रहा जिसके अनुसार वहां एक वंशानुगत राजा होता था जिसके कार्यों को वास्तव में एक मंत्रि-मंडल निष्पादित करता था जो निर्वाचित सभा के प्रति उत्तरदायी होता था। युगोस्लाविया अथवा सर्ब, क्रोट और स्लोवीनों के राज्य में, जैसा कि वह उस समय कहलाता था, सन् १९२० में एक संविधान-सभा ने नया संविधान तैयार किया जो सन् १९२१ में प्रवर्तित हुआ। किन्तु कुछ मामलों में वह वास्तव में बिलकुल भी नया संविधान नहीं था। वह सन् १८८६ के सर्बिया के मूल संविधान का विस्तृत रूप ही था, जो सन् १९०३ में पुनः अधिनियमित किया गया था। उसके अनुच्छेद ४७ में कहा गया था कि "कार्यपालिका-शक्ति का निष्पादन राजा अपने उत्तरदायी मंत्रियों के द्वारा करता है।" सन् १९२० के संविधान का सन् १९३१ में संशोधन किया गया किन्तु, जैसा कि हम अध्याय ५ में देख चुके हैं, सन् १९४६ के संघीय जनगणतंत्र के सोवियत्-प्रेरित संविधान ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् निर्मित नए गणतंत्रों में से चार अर्थात् आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और फिनलैंड महत्त्वपूर्ण हैं। आस्ट्रिया में सन् १९२० का संविधान ऐसी संविधान सभा द्वारा बनाया गया जिसने आशा की थी कि नया आस्ट्रिया अन्ततः जर्मन संघीय गणतंत्रों में शामिल हो जाएगा। इस बीच संविधान आठ प्रांतों को लागू होना था जो स्वयं एक अर्द्ध-संघीय राज्य का निर्माण करते थे। किन्तु शांति-संधियों ने आस्ट्रिया को जर्मनी में शामिल करने का निषेध कर दिया और आस्ट्रिया के सन् १९२० के संविधान का रूप स्थायी न रहा। फ्रांस की तरह यहां भी राष्ट्रपति दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन द्वारा निर्वाचित होता था, किन्तु केवल चार वर्ष की अवधि के लिए। वह कुछ कार्यपालिका कृत्यों का वास्तव में निष्पादन करता था और शेष कार्यपालिका कृत्य निम्नसदन द्वारा निर्वाचित संघीय मंत्रिमंडल द्वारा निष्पादित किए जाते थे। फलस्वरूप, यदि वह सदन किसी मंत्री या समस्त मंत्रिमंडल पर से अपना विश्वास उठा लेता तो उस मंत्री अथवा समस्त मंत्रिमंडल को तुरन्त त्यागपत्र देना पड़ता था और नया मंत्रिमंडलीय निर्वाचन होता था। किन्तु ये सब बातें सन् १९३८ में जर्मनी में आस्ट्रिया के शामिल कर लिए जाने के पूर्व के नाजीकरण

के दौरान में समाप्त कर दी गई और शामिल होने के पश्चात् उनका कोई प्रभाव नहीं रहा। किन्तु जिस पृष्ठभूमि की संक्षिप्त रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है, हो सकता है वह आस्ट्रिया के राजनीतिक भविष्य को प्रभावित करे।

नाजी बलात्कार से पूर्व चेकोस्लोवाकिया में राष्ट्रपति का निर्वाचन सात वर्ष के लिए प्रतिनिधि-सदन और सिनेट के संयुक्त अधिवेशन द्वारा किया जाता था। किन्तु शर्त यह थी कि दोनों सदनों का निरपेक्ष बहुमत उपस्थित हो और उम्मीदवार को कम-से-कम ६० प्रतिशत मत प्राप्त हों। राष्ट्रपति अपने-आपको दूसरी अवधि के लिए प्रस्तुत नहीं कर सकता था, यद्यपि यह उपबन्ध प्रथम राष्ट्रपति मसारिक पर लागू नहीं होना था। उनके प्रति लोगों की श्रद्धा और देश के प्रति उनकी सेवा ने उन्हें इस पद को सम्भवतः आजीवन धारण करने के सर्वोच्च सम्मान के योग्य बना दिया था। एक प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल भी होता था जो प्रतिनिधि-सदन के प्रति उत्तरदायी होता था, किन्तु शासन की अस्थिरता के विरुद्ध, फर्वरी सन् १९२० के संविधान के अनुच्छेद ७५ और ७६ के अनुसार, एक विशेष व्यवस्था की गई थी। इन अनुच्छेदों में कहा गया था कि प्रतिनिधि-सदन द्वारा मंत्रिमंडल पर 'अविश्वास' का प्रस्ताव तभी मान्य होगा जब कि आधे से अधिक सदस्य उपस्थित हों; ५० प्रतिशत का बहुमत प्राप्त हो और मतदान नाम पुकार-कर कराया जाए। इसके अतिरिक्त 'अविश्वास' के ऐसे प्रस्ताव को पेश करने से पूर्व उस पर कम-से-कम १०० प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होने आवश्यक थे। इस विस्तृत योजना का उद्देश्य स्पष्टतः यह था कि चेकोस्लोवाकिया गणतंत्र के प्रारम्भिक संकटपूर्ण दिनों में शासन की केवलमात्र विवेकहीन आक्रमणों द्वारा समाप्त किए जाने से रक्षा की जा सके।

यह संविधान सितम्बर सन् १९२८ में म्यूनिख के घातक आत्मसमर्पण द्वारा जर्मनी को सुडेटनलैंड सौंप देने के लिए चेकोस्लोवाकिया के बाध्य हो जाने से बहुत कमजोर पड़ गया और उसके बाद के मार्च में हिटलर द्वारा बोहीमिया और मोरेविया प्रांतों को हड़प लिए जाने पर पूर्णरूपेण समाप्त हो गया। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में चेकोस्लोवाकिया की मुक्ति के पश्चात् निश्चित सांविधानिक पुनर्निर्माण होने तक के लिए वह संशोधित रूप में अस्थायी तौर पर पुनः जीवित किया गया किन्तु जब यह पुनर्निर्माण हुआ तब वह पुराने सांविधानिक रूपों से बिलकुल भी मिलता-जुलता नहीं था; क्योंकि सन् १९४८ का नया संविधान सोवियत् शक्ति की छत्रछाया में प्रख्यापित किया गया था। वास्तव में उसके मूल सिद्धांत सन् १९१८ के गणतंत्र के संस्थापकों की भावना से इतने दूर थे कि राष्ट्रपति बेन्स अपने-आपको उसे स्वीकार करने के लिए समर्थ नहीं समझ सके और उन्होंने सार्वजनिक जीवन से संन्यास ले लिया। नए संविधान के अधीन अब भी एक राष्ट्रपति है जो राष्ट्रीय सभा द्वारा, जो एकसदनी संसद् है, सात वर्ष के लिए निर्वाचित किया जाता है। किन्तु राष्ट्रपति को चौबीस सदस्यों वाले एक मंत्रिमंडल के द्वारा काम करना होता है जिसे अध्यक्ष-मंडल (प्रेजीडियम) का अशुभसूचक नाम दिया गया है। यह कहना कि सन् १९४८ का चेकोस्लोवाकिया का

संविधान कम-से-कम कागजी रूप में सोवियत् प्रणाली की स्थापना करता है, कुछ ज्यादती होगी, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यद्यपि राज्य को 'लोकतंत्रीय जनगणतंत्र' कहा गया है फिर भी उसने पाश्चात्य आदर्शों का, जिनका पहले का संविधान अनुसरण करता था, त्याग कर दिया है और उसमें रूसी प्रकार के राजनीतिक सर्वसत्तावाद की ओर प्रबल प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इसी प्रकार पोलैंड में भी राष्ट्रपति का निर्वाचन दोनों सदनों और डायट के सम्मिलित अधिवेशन द्वारा सात वर्ष के लिए किया जाता था। सन् १९२१ के संविधान के अनुच्छेद ४३ में कहा गया था कि राष्ट्रपति कार्यपालिका-शक्ति को निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के द्वारा निष्पादित करता है और मंत्रिगण राष्ट्रपति के ही कार्यों के लिए नहीं बल्कि उसके द्वारा नियुक्त अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों के लिए भी उत्तरदायी हैं। परन्तु यह उदार संविधान सन् १९३५ में उसके स्थान पर नए संविधान की प्रतिष्ठा से पूर्व ही कुछ समय से निलम्बित था। पोलैंड के सन् १९३५ के संविधान के अधीन राष्ट्रपति को अधिनायकों जैसी शक्तियों से स्पष्ट रूप में विभूषित किया गया था, जिसके अन्तर्गत सिनेट के एक-तिहाई सदस्यों को निर्देशित करने का अधिकार भी था। इसके साथ ही नवीन निर्वाचन-विधि के द्वारा शासन का विरोध करनेवाले दल वास्तव में मताधिकार से वंचित कर दिए गए। इस तरह सितम्बर सन् १९३९ में जर्मन आक्रमण से पूर्व ही पोलैंड में संसदीय कार्यपालिका-प्रणाली लुप्त हो चुकी थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में रूस के पश्चिमी अभियान के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करने पर तुरन्त ही पोलैंड में रूसी प्रभावाधीन अस्थायी सरकार और उन पोलों के बीच संघर्ष आरम्भ हुआ जिनमें से अधिकतर देश के बाहर थे और जो मूल संविधान के संसदीय लोकतंत्र का पुनःस्थापन चाहते थे। परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि रूसविरोधी पोल व्यर्थ संघर्ष कर रहे थे और रूसी प्रकार के राजनीतिक संगठन के समर्थकों की विजय निश्चित हो गई। रूसी प्रणाली की निकटता और पोलैंड मे उसके अनेक दृढ समर्थकों को देखते हुए यह कहना आसान नहीं है कि पोलैंड में पाश्चात्य प्रकार के संविधानवाद और विशेषकर संसदीय कार्यपालिका के सिद्धांत की पुनरावृत्ति किस तरह हो सकती है।

फिनलैंड में सन् १७८९ में संशोधित सन् १७७२ के पुराने स्वीडिश संविधान का स्थान सन् १९१९ के जुलाई के संविधान ने लिया और बाद में सन् १९२८ के एक संसद् अधिनियम ने सन् १९०६ की विधि को संशोधित किया जिससे डायट की स्थापना हुई थी। अतः, यह संविधान खंडों में होते हुए भी दस्तावेजी है। इसके अधीन प्रातिनिधिक एकसदनी विधानमंडल और एक राष्ट्रपति है जिसका निर्वाचन जनता द्वारा किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता है (यद्यपि पहले राष्ट्रपति को सदन ने निर्वाचित किया था)। इस सम्बन्ध में अपनाई गई स्थायी योजना अमरीका के संविधान में निर्धारित प्रणाली के अनुरूप थी जहां कि वह अब व्यवहार में नहीं

आती। फिनलैंड के संविधान के अनुच्छद २३ में कहा गया है कि जनता को तीन-सौ राष्ट्रपति-निर्वाचकों का निर्वाचन करना चाहिए। इनके निर्वाचन में मतदान का अधिकार वैसा ही होना चाहिए जैसा कि प्रतिनिधि-सदन के सदस्यों के निर्वाचन में, अर्थात् आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अधीन सार्वलौकिक वयस्क-मताधिकार के द्वारा। उपर्युक्त तीन-सौ निर्वाचकों द्वारा मतदान गुप्त होता था और यदि राष्ट्रपति पद के लिए किसी उम्मीदवार को मतदाताओं के आधे से अधिक मत प्राप्त न हों तो दूसरी बार मतदान होता था और यदि इस पर भी किसी उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत न मिले तो अधिक-से-अधिक मत प्राप्त करनेवाले दो उम्मीदवारों के लिए पुनः मतदान होता था। इस प्रकार निर्वाचित राष्ट्रपति को कुछ वास्तविक शक्तियां थीं; किन्तु उसके अधिकतर कार्य तब मान्य हो सकते थे जब कि उन पर किसी मंत्री के प्रतिहस्ताक्षर हों। ऐसे मंत्री के लिए राज्य-परिषद् या मंत्रिमंडल का सदस्य होना और निर्वाचित सदन का विश्वास प्राप्त होना आवश्यक था (अनुच्छेद ३६ और ४३)। राष्ट्रपति और राज्य-परिषद् के बीच संघर्ष की अवस्था में अंतिम निर्णय राज्य-परिषद् का ही होता था जब तक कि वह संविधान के निबन्धनों के अन्दर काम कर रही हो जिसकी कि अन्तिम व्याख्या सर्वोच्च विधिन्यायालय ही कर सकता था। सन् १९३० के पश्चात् प्रारम्भ में मामूली फासिस्ट उपद्रव हुए, किन्तु सन् १९३२ में वे समाप्त हो गए। मंत्रिमंडलीय प्रणाली पर उनका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ा और जब फिनलैंडवासी जर्मनी के साथ दुर्भाग्यपूर्ण मैत्री में घसीट लिए गए तब भी उनकी शासकीय प्रणाली पर नाजियों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १९४४ के पश्चात् रूसी दबाव में सर्वसत्तावाद के कुछ तत्त्व प्रकट हुए, किन्तु सन् १९४७ में वे दूर कर दिए गए और फिनलैंड के लोग अपनी संसदीय कार्यपालिका-प्रणाली को बनाए रखने में सफल रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप निर्मित सभी राज्यों ने संसदीय कार्यपालिका के सिद्धांत को समान रूप से अंगीकार किया; किन्तु युद्धों के बीच के काल में उसे क्रियान्वित करने के अपने थोड़े-से अनुभव के पश्चात् लगभग सभी राज्य द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों से उत्पन्न परिस्थितियों में उसे पुनः स्थापित करने में असफल हुए हैं। युगोस्लाविया ने ऐसे संविधान को अंगीकार किया है जिसकी कार्यपालिका खुले रूप से रूसी अध्यक्ष-मंडल (प्रेजीडियम) के नमूने की है। इस मामले में चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड भी इसी तरह रूसी प्रभाव में आ गए हैं। केवल फिनलैंड ऐसा देश है जो अपने-आपको अब तक बचा सका है। किन्तु तीन बाल्टिक राज्यों इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के सामने तो अपनी पसन्द की कोई गुजाइश ही नहीं थी। उन्हें सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ की संघीय व्यवस्था में शामिल होना ही पड़ा। जर्मनी और आस्ट्रिया की यह स्थिति है कि जहां तक पाश्चात्य शक्तियां उन्हें प्रभावित कर सकी हैं, दोनों को अपनी पुरानी संसदीय व्यवस्था को, जैसी कि उनके नाजी-आधिपत्य के पूर्व के संविधानों में

थी, पुनर्जीवित करने और संसदीय कार्यपालिका की पुनरावृत्ति करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् १९४९ में पश्चिमी जर्मनी में प्रख्यापित बॉन संविधान संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों वाली मंत्रिमंडलीय प्रणाली पर आधारित है और आस्ट्रिया में भी कार्यपालिका इसी प्रकार राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी है।

प्रश्न

१. विधानमंडल के इस वर्णन की कि वह "प्रत्येक स्वतंत्र समुदाय में एक महान् और सर्वोपरि शक्ति" है, आधुनिक राज्य की कार्यपालिका से तुलना कीजिए।

२. वंशानुगत अथवा निर्वाचित किसी भी प्रकार की नामधारी और वास्तविक कार्यपालिकाओं का अन्तर समझाइए।

३. 'शक्तियों के पृथक्करण' के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। आधुनिक राज्यों में कार्यपालिका के विकास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

४. संसदीय कार्यपालिका के मुख्य लक्षण क्या हैं?

५. ब्रिटेन में मंत्रिमंडलीय (केबिनेट) प्रणाली के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

६. ब्रिटेन के वर्त्तमान मंत्रिमंडलीय शासन की विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

७. मंत्रिमंडलीय शासन के सिद्धान्त को ब्रिटेन की डॉमिनियनों पर लागू करने का महत्त्व समझाइए।

८. फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र की कार्यपालिका-प्रणाली में मंत्रिमंडल का क्या महत्त्व है?

९. इटली के नए गणतंत्र में मुसोलिनी के अधिनायकतंत्र से पूर्व की मंत्रिमंडलीय प्रणाली को कहां तक पुनःस्थापित किया गया है?

१०. जिन राज्यों ने प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् मंत्रिमंडलीय प्रणाली को अपनाया, उनमें से कुछ के उदाहरण दीजिए और यह बताइए कि इस संबंध में उनमें द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् क्या हुआ है।

अध्याय ११

अ-संसदीय या स्थायी कार्यपालिका

१. स्थायी कार्यपालिका का लोकतंत्रीय महत्त्व

यदि सावधानी के साथ विचार न किया जाए तो मन्त्रिमंडलीय तथा राष्ट्रपतीय शासन---ये शब्द भ्रमात्मक हो सकते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके है, हो सकता है कि निर्वाचित राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालक न हो और उस दशा में कार्यपालिका वास्तव में ऐसे मंत्रिमंडल के हाथों में होती है, जिसका अध्यक्ष प्रधान मंत्री होता है और जो संसद् के प्रति उत्तरदायी होती है। पुनः यह आवश्यक नहीं है कि मंत्रिमंडलीय सरकार एक व्यक्ति का शासन न होते हुए एक निकाय का ही शासन हो। जैसा कि हम बता चुके हैं, इंगलैंड का मंत्रिमंडल वास्तव में प्रधान मंत्री के द्वारा ही नियंत्रित होता है और इस शर्त के अलावा उसके मंत्रिमंडल के समस्त सदस्यों को संसद् के एक या दूसरे सदन का सदस्य होना चाहिए और कि वे साधारणतया उसके दल के सदस्य होंगे, उसकी पसन्द पर कोई और निर्बन्ध नहीं है। इसके अलावा राष्ट्रपतीय शासन के अन्तर्गत भी मंत्रियों का एक निकाय होता है जो कम-से-कम अमरीका के संयुक्तराज्य में मंत्रिमंडलीय पदाधिकारी कहे जाते हैं। वास्तव में व्यक्तियों के एक निकाय में कार्यपालीय शक्ति का वितरण बड़ा कठिन है। कार्यपालीय शक्ति की सम्पूर्ण प्रवृत्ति एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रीभूत होने की ओर है, और एकमात्र निर्वाचन-प्रणाली ही इस बात की गारंटी नहीं है कि उसका वितरण होगा। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में चूंकि मंत्रिमंडल के अधिकतर सदस्य लोकसभा के सदस्यों में से होते हैं (आजकल मंत्रिमंडल के केवल दो या तीन सदस्य लॉर्ड-सदन में बैठते हैं)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मंत्रिमंडल में अधिकांश में जनता के प्रतिनिधि ही होते हैं। परन्तु यह किसी भी प्रकार तदर्थ निर्वाचित निकाय नहीं है। अतएव, इस अर्थ में तो मंत्रिमंडलीय और राष्ट्रपतीय शासन अथवा संसदीय और अ-संसदीय कार्यपालिकाएं एक समान हो सकती हैं। ऐसे गणराज्यों के भी उदाहरण हैं, जैसे स्विट्जरलैंड, जहां वास्तव में विधानमंडल के द्वारा ही कार्यपालिका का निर्वाचन होता है, परन्तु ऐसा निर्वाचन संसदीय अथवा अस्थायी कार्यपालिका दोनों में से किसी का भी आवश्यक लक्षण नहीं है।

वास्तविक स्थायी कार्यपालिका केवल वह है जो या तो वास्तव में वंशानुगत कार्यपालिका हो या निर्वाचित कार्यपालिका हो जो विधानमंडल की कार्यवाही से हटाई न जा सकती हो। अतः, यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थायी कार्यपालिका अनिवार्यतः लोकतंत्रात्मक नहीं होती। परन्तु आज के पाश्चात्य जगत् म वास्तविक वंशानुगत

कार्यपालिका का उदाहरण नहीं मिलता, अतः हमें स्थायी कार्यपालिका की परीक्षा लोकतंत्रीय उपकरण के रूप में करनी पडेगी। इस प्रकार का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण संयुक्त-राज्य की कार्यपालिका है, परन्तु लैटिन-अमरीका के अधिकांश राज्यों ने इसका अनुकरण किया है।[१] निर्वाचित कार्यपालिका का, जो वास्तविक भी होती है महत्त्व यह है कि निर्वाचित व्यक्ति वास्तव में वैसा ही होता भी है, जैसा कि वह नाम में है। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जहां कि निर्वाचित वास्तविक कार्यपालिका एक संसदीय कार्यपालिका बन जाती है (हालांकि अब तुर्की इसका एक अपवाद है)। इसी प्रकार ऐसी भी कोई मिसाल नहीं है जहां कि विधानमंडल के लिए निर्वाचित व्यक्तियों से उद्भत कार्यपालिका एक संसदीय कार्यपालिका से भिन्न हो। यदि कार्यपालिका निर्वाचित है तो वह या तो विधानमंडल के हस्तक्षेप से रहित कार्यपालिका अर्थात् अ-संसदीय या स्थायी है या फिर वह वास्तव में कार्यपालिका ही नहीं है और वास्तविक कार्यपालिका शक्ति सभा के प्रति उत्तरदायी किसी व्यक्ति या निकाय के हाथों में है।

इस लोकतंत्रात्मक महत्त्व की खोज, जो इस स्थायी कार्यपालिका में निहित समझा जाता है, हमें शक्तियों के पृथक्करण के पुराने सिद्धांत तक पहुंचा देती है। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि यदि राष्ट्रपति कार्यपालिका के कृत्यों को सम्पादित करने के लिए जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है, तो अन्य प्रयोजन के लिए निर्वाचित निकाय के द्वारा उसके कार्यपालीय कृत्य सीमित नहीं होने चाहिए।[२] कृत्यों का ऐसा निरपेक्ष विभाजन केवल सिद्धांतरूप में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि कार्यपालिका के कार्य के एक भाग का सम्बन्ध विधायिनी शक्ति की आज्ञप्तियों के निष्पादन से भी होता है। परन्तु जहां कार्यपालिका अ-संसदीय होती हैं, वहां वे सब शक्तियां, जो कि संविधान के अनुसार कार्यपालिका की होती हैं, वास्तव में उनके पालन करने के लिए निर्वाचित व्यक्ति के पद की होती हैं। इसके विपरीत, जहां कार्यपालिका संसदीय होती है वहां वे शक्तियां, जो कि संविधान में कार्यपालिका के लिए निर्धारित होती हैं, वास्तव में उस व्यक्ति की नहीं होतीं जो उनके निष्पादन के लिए वंशानुगत आधार पर नियुक्त होता है या निर्वाचन द्वारा चुना जाता है।

जिन संविधानों की अब हम इस दृष्टिकोण से परीक्षा करेंगे वे पर्याप्त मात्रा में विभिन्न हैं। इनमें प्रथम अर्थात् संयुक्तराज्य का संविधान स्थायी कार्यपालिका का

---

[१] अर्जेण्टाइना में सन् १९४९ के संविधान में जो कि जुआं पेरों के अधिनायकत्व से प्रेरित हुआ, यह उपबन्धित किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन सन् १८५७ के संविधान के अनुसार निर्वाचक-मंडल के द्वारा न होकर प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन के द्वारा होगा और वह सदा ही पुर्ननिर्वाचन के लिए पात्र हो सकेगा।

[२] फ्रांस में चतुर्थ गणराज्य (सन् १९४६) के संविधान के विरोध में जब सन् १९४७ में जनरल डि गाल ने 'फ्रांसीसी जन-समारोह' का आरम्भ किया तब उसके विरोध का आधार यही सिद्धांत प्रतीत होता था।

यथार्थ उदाहरण है, दूसरा अर्थात् स्विट्जरलैंड का संविधान विश्व की सांविधानिक प्रणालियों में एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है; देखने में उसकी कार्यपालिका संसदीय है, किन्तु व्यवहार में उसमें कृत्यों का पृथक्करण प्रदर्शित होता है। तृतीय अर्थात् तुर्की गणतंत्र की कार्यपालिका एक नए ही प्रकार की कार्यपालिका का उदाहरण है, जिसमें संसदीय और स्थायी दोनों प्रकार की विशेषताओं का मेल दिखाई देता है।

२. संयुक्तराज्य की कार्यपालिका में सिद्धान्त का प्रयोग

अमरीका के संयुक्तराज्य में अ-संसदीय या स्थायी कार्यपालिका के सिद्धांत का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। इसके संविधान के निर्माताओं ने विधानमंडल से कार्यपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धांत का चरम व्यावहारिक सीमा तक प्रयोग किया। यद्यपि एक महत्त्वपूर्ण मामले में, जिस पर हम अभी दृष्टिपात करेंगे, वह प्रणाली, जिसे उन्होंने प्रारम्भ में स्थापित किया था, व्यावहारिक रूप में रूढ़ि और प्रथा के द्वारा पर्याप्तरूपेण परिवर्तित हो गई है; फिर भी पृथक्करण का सिद्धांत यथावत् बना हुआ है। संविधान में कहा गया है कि "कार्यपालिका शक्ति अमरीका के संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति में निहित होगी" और "उसी अवधि के लिए चुने गए उप-राष्ट्रपति के साथ वह अपना पद चार वर्ष की अवधि के लिए धारण करेगा।" इन दोनों पदाधिकारियों के निर्वाचन के लिए प्रारम्भिक व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद २ की धारा १ में निर्धारित की गई थी; परन्तु सन् १८०४ में बारहवें संशोधन द्वारा उसका अपाकरण कर दिया गया, जिसके अनुसार राष्ट्रपति के पश्चात् अधिकतम संख्या में मत प्राप्त करनेवाले उम्मीदवार को उप-राष्ट्रपति बनाने के बजाय यह व्यवस्था की गई कि इन दोनों पदों में से प्रत्येक के लिए दो पृथक् मतदान होंगे।

जैसा कि हम तृतीय अध्याय में बता चुके हैं, प्रारम्भिक धारा और संशोधन में की गई विस्तृत व्यवस्था पर प्रयोग बिलकुल बन्द हो गया और संविधान-निर्माताओं का यह उद्देश्य कि ये निर्वाचन प्रत्यक्ष जन-प्रभाव से मुक्त रखे जाने चाहिए, बुरी तरह निष्फल हुआ। संविधान में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य से उतने निर्वाचक चुने जाएंगे जितने कि प्रतिनिधि-सदन और सिनेट में उसके प्रतिनिधि हों अर्थात् कांग्रेस में उस राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या के बराबर ये निर्वाचक प्रत्येक राज्य में समवेत होकर राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पदों के उम्मीदवारों का निर्देशन करेंगे और उनके लिए मत डालेंगे। ऐसा कर लेने के पश्चात् वे उम्मीदवारों के नामों और उनके द्वारा प्राप्त मतों को सिनेट के अध्यक्ष के पास भेजेंगे, जो कि कांग्रेस के दोनों सदनों की उपस्थिति में मतों को खोलकर उनकी गणना करेगा।

परन्तु व्यवहार में ऐसा बिलकुल नहीं होता। वास्तव में वे दो अवसर ही, जिनपर प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन का निर्वाचन हुआ था, ऐसे थे जिनमें यह बात हुई। उसके

उपरांत से तो दलीय परम्परा के विकास ने राष्ट्रपति के निर्वाचन को पूर्णरूपेण लोक-निर्वाचन बना दिया है। अब तो वास्तव में यह होता है कि निर्वाचनों के लिए नियत तारीख से बहुत पहले ही विभिन्न दल अपने अधिवेशन करते हैं और उनमें से प्रत्येक दल हर एक पद के लिए उम्मीदवार चुनता है। अतएव, जब प्रत्येक राज्य के लोग निर्वाचकों का निर्वाचन करते हैं, तो वे यह भी जानते हैं कि वे राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पद के लिए किस उम्मीदवार के लिए मतदान कर रहे हैं, और इस तरह बाद में उन्हीं निर्वाचकों का अधिवेशन औपचारिक मात्र ही रह जाता है। प्रत्येक पद का वह उम्मीदवार, जिसको किसी एक राज्य में बहुमत प्राप्त होता है, उस राज्य का उम्मीदवार होता है, और वह इस भांति उतने निर्वाचक-मत प्राप्त करता है जितने कि उस राज्य के कांग्रेस सदस्य होते हैं। इसमें बहुमत की बहुलता या अल्पता का कोई विचार नहीं होता, क्योंकि निर्वाचकों के निर्वाचन की इस पद्धति में राज्य में के समस्त मतदाताओं के उतने ही मत होते हैं जितने कि निर्वाचक उस राज्य मे से चुने जाने होते हैं। इस भांति इस प्रसंग में सम्पूर्ण राज्य निर्वाचन-क्षेत्र बन जाता है, और निर्वाचकों का निर्वाचन उस उम्मीदवार के अनुसार, जिसके लिए मत देने को वे प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं, सामूहिकरूपेण होता है।

इस योजना का व्यावहारिक रूप दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। हम दो राज्यों को लेते हैं, एक विशाल जनसंख्या वाला राज्य न्यूयॉर्क और दूसरा अल्प जनसंख्या वाला राज्य मेन। कल्पना कीजिए कि राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार **क** और **ख** हैं तथा उप-राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार **ग** और **घ** हैं। न्यूयॉर्क राज्य की जनसंख्या लगभग नब्बे लाख है और वह प्रतिनिधि-सदन में तेंतालीस प्रतिनिधि भेजता है, और इस भांति वहां से राष्ट्रपति पद के पेंतालीस निर्वाचक चुने जाते हैं (इसमें सिनेट के प्रतिनिधित्व के आधार पर दो निर्वाचक बढ़ाए गए है)। इसके विपरीत, मेन राज्य की जनसंख्या लगभग साढ़-सात लाख है, और वहां से राष्ट्रपति पद के छह निर्वाचक चुने जाते हैं। यदि न्यूयॉर्क राज्य को नब्बे लाख व्यक्तियों के मत देनेवाले भाग का अधिकांश राष्ट्रपति पद के लिए क को और उप-राष्ट्रपति पद के लिए ग को मत देता है तो क्रमशः क और ग को राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों के रूप मे न्यूयॉर्क राज्य के पूरे पेंतालीस मत प्राप्त हो जाते है। इसी भांति, यदि मेन राज्य के साढ़े-सात लाख मतदाताओं का अधिकांश राष्ट्रपति पद के लिए ख को और उप-राष्ट्रपति पद के लिए घ को मत देता है तो क्रमशः ख और घ ही राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के पदों के लिए मेन राज्य के समस्त छह मतों को प्राप्त करेंगे। इससे यह समझ लेना कठिन नहीं होगा कि राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए छोटे राज्यों की अपेक्षा बड़े राज्यों में सफलता प्राप्त करना कितना महत्त्वपूर्ण है। किसी एक उम्मीदवार के लिए वास्तव में यह सम्भव हो सकता है कि वह संघ के ग्यारह लघुतम राज्यों में सफलता प्राप्त कर ले; परन्तु उस उम्मीदवार से पराजित हो जाए जिसने न्यूयॉर्क में सफलता प्राप्त की है।

इस विशिष्ट व्यवस्था का परिणाम बहुधा यह होता है कि प्रारम्भिक जन-मतो और अन्तिम परिणाम के बीच भारी अन्तर देखने में आता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति लिंकन को ही लीजिए। सन् १८६० में उनके विरुद्ध तीन उम्मीदवार थे और उनका निर्वाचन १८० निर्वाचक-मतों से हुआ जब कि उनके तीनों विरोधियों को प्राप्त निर्वाचक-मतों की कुल संख्या १२३ थी, परंतु वे लोग, जिन्होंने उन निर्वाचकों के लिए जो कि लिंकन के पक्ष के थे, मत दिए संख्या में १,८६०,००० थे, जब कि उनके विरोधियों के लिए मत देनेवालों की संख्या २,८१०,००० थी। दूसरे शब्दों में, लिंकन को अपने देश के मतदाताओं के केवल ४० प्रतिशत का ही समर्थन प्राप्त था। सन् १९१२ के एक निर्वाचन में राष्ट्रपति विल्सन को ४३५ निर्वाचक-मत मिले, जब कि उनके तीन विरोधियों ने मिलकर ९६ मत ही प्राप्त किए। परन्तु उसे केवल ६,२९८,८५९ व्यक्तियों के ही जन-मत मिल सके जब कि उसके विरोधियों ने ८,५११,३१२ मत प्राप्त किए थे। सन् १९२८ के राष्ट्रपति-निर्वाचन के आंकड़े तो और भी अधिक उल्लेखनीय है, क्योंकि उस प्रसंग में केवल दो उम्मीदवारों का ही सीधा संघर्ष था। हूवर के निर्वाचक-मतों की संख्या ४४४ (४० राज्यों की) थी, जब कि गवर्नर स्मिथ के निर्वाचक-मतों की संख्या ८७ (८ राज्यों की) थी। किन्तु जन-मतों की संख्या हूवर की लगभग २१,०००,००० और स्मिथ की १६,०००,००० के ऊपर थी। और जब कि हूवर के निर्वाचक-मतों की संख्या उस समय तक संयुक्तराज्य के इतिहास में किसी भी दल के द्वारा प्राप्त किए गए मतों में अधिकतम थी, वहां गवर्नर स्मिथ के जन-मतों की संख्या उस वर्ष तक लोकतंत्रीय दल द्वारा प्राप्त किए गए मतों में अधिकतम थी। और भी हाल के निर्वाचनों में भी ऐसी ही असंगति दिखाई देती है। सन् १९३२ के राष्ट्रपति के चुनाव में यद्यपि हूवर ने लगभग १६,०००,००० मत प्राप्त किए, जब कि उसके विरोधी रूजवैल्ट ने २३,०००,००० मत प्राप्त किए थे, परन्तु उसे केवल ५९ निर्वाचक-मत प्राप्त हुए, जब कि रूजवैल्ट को ४७२ मत प्राप्त हुए थे। पुनः, सन् १९३६ में लैंडर ने रूजवैल्ट की अपेक्षा ड्योढ़े जन-मत प्राप्त किए थे, परन्तु रूजवैल्ट को दो के सिवाय समस्त राज्यों में सफलता प्राप्त हुई और उसने ५२३ निर्वाचक-मत प्राप्त किए, जब कि उसके विरोधी को केवल ८ निर्वाचक-मत प्राप्त हो सके। सन् १९४० में रूजवैल्ट ने वेंडेल विल्की के विरोध में कुल ४९,०००,००० मत-संख्या में से केवल ५,०००,००० का जन-बहुमत प्राप्त किया था, परन्तु उसके निर्वाचक-मतों की संख्या ८२ के विरुद्ध ४४९ थी। सन् १९४४ में रूजवैल्ट के अन्तिम निर्वाचन में डिवी के विरुद्ध उसको प्राप्त जन-मत केवल २,५००,००० अधिक थे, परन्तु उसके निर्वाचक-मत २९ के विरुद्ध ४३२ थे। सन् १९४८ में ट्रूमेन को प्राप्त जन-मत सन् १९४४ के रूजवैल्ट के बहुमत से भी कम था, परन्तु उसके दो विशालतम राज्यों में असफल हो जाने पर भी उसके निर्वाचक-मतों की संख्या ३०४ थी, जब कि उसके विरोधी डिवी को १८९ निर्वाचक-मत मिले थे।

किन्तु यह सब होते हुए भी वास्तविकता यह है कि संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति का

निर्वाचन अब जनता के द्वारा होता है (अर्थात् अप्रत्यक्ष के बजाय, जैसा कि संविधान के निर्माताओं का आशय था, प्रत्यक्ष होता है); परन्तु विश्व के अग्रगण्य राज्यों में यह राज्य ही एक ऐसा उदाहरण है जहां राष्ट्रपति का चुनाव जनता के द्वारा होता है और वह वास्तविक कार्यपालक भी है। इन दोनों तथ्यों से मिलकर एक अ-संसदीय कार्यपालिका अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि यदि कांग्रेस स्वेच्छा से राष्ट्रपति को हटा सकती (उसे केवल महाभियोग के द्वारा ही हटाया जा सकता है) तो निर्वाचक-व्यवस्था, चाहे संविधान में उल्लिखित मूल रूप में या व्यवहार में अपनाए हुए लोकाभिमत रूप में, बिलकुल ही निरर्थक हो जाती।

राष्ट्रपति की शक्तियां बड़ी वास्तविक है, हालांकि उनके प्रयोग में राष्ट्रपति के व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक्य होता रहता है और संकट के समय तो वे और भी अधिक हो सकती हैं। उसका कार्य तो कांग्रेस द्वारा पारित की गई विधियों का निष्पादन करना होता है, किन्तु वह उनके बनाने में कांग्रेस की कार्यवाहियों पर प्रभाव भी डाल सकता है और डालता है। प्रथम, वह कांग्रेस को एक वार्षिक संदेश या तो स्वयं या अपने एक प्रतिनिधि के द्वारा, जो कि उसे पढ़ता है, देता है। परन्तु यदि परिस्थितियों की गंभीरतावश आवश्यक हो तो वह एक से अधिक बार भी संदेश देने के आशय से कांग्रेस को आमंत्रित कर सकता है। उसके इस अधिकार का विधिनिर्माण पर बड़ा प्रभाव हो सकता है, विशेष रूप मे उस समय जब कि उसका प्रयोग किसी सफल वक्ता द्वारा किया जाए जो कि कांग्रेस को स्वयं ही संबोधित करना पसन्द करे, जैसा कि, उदाहरणस्वरूप, वुड्रो विल्सन और फ्रेंकलिन रूजवैल्ट दोनों ने किया था। दूसरे, राष्ट्रपति कांग्रेस के किसी सदस्य के द्वारा किसी विषय पर अपने विचारों को विधेयक के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्रपति और उसके मंत्रिमंडल के पदाधिकारियों में से कोई भी न तो सिनेट के और न प्रतिनिधि-सदन के कार्य में ही भाग ले सकता है, और इस दृष्टि से कांग्रेस को प्रभावित करने की राष्ट्रपति की शक्ति अधिकतर सदनों में दलों की स्थिति पर निर्भर रहती है। जहां राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्येक चौथे वर्ष होता है, वहां प्रतिनिधि-सदन का और सिनेट के तृतीयांश का प्रत्येक दूसरे वर्ष होता है। इसलिए, जहां यह संभव है कि किसी दल की लोकप्रियता, जिसने किसी व्यक्तिविशेष को राष्ट्रपति के पद पर आसीन किया हो, सदनों में उसको बहुमत प्राप्त करा दे, वहां यह भी हो सकता है कि आगामी निर्वाचन पर वह राष्ट्रपति, जिसे दो वर्ष और कार्य करना है, अपना समर्थन खो दे।[1]

फिर भी राष्ट्रपति के पास विधिनिर्माण-प्रक्रिया के दूसरे छोर पर एक महत्त्वपूर्ण

---

[1] सन् १९४६ के कांग्रेस के निर्वाचन के फलस्वरूप ठीक यही हुआ। गणतंत्रीय दल का सिनेट और प्रतिनिधि-सदन दोनों में बहुमत हो गया, जब कि लोकतंत्र दल के राष्ट्रपति ट्रूमेन को, जो कि उप-राष्ट्रपति होने से सन् १९४५ में फ्रेंकलिन रूजवैल्ट की मृत्यु पर राष्ट्रपति बने थे, अपनी अवधि के दो वर्ष और काटने थे।

शक्ति होती है, जो सदनों में उसके दल के अल्पमत के प्रभाव को आसानी से दूर कर सकती है। कोई भी विधेयक दोनों सदनों में पारित हो जाने के पश्चात् भी तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर न कर दे। ऐसे हस्ताक्षर करने से वह इनकार कर सकता है (उसे दस दिनों के भीतर अपनी इनकारी की सूचना देनी चाहिए), और यदि वह ऐसा करे, तो विधेयक फिर कांग्रेस को लौटाया जाएगा, और प्रत्येक सदन में स्पष्ट दो-तिहाई बहुमत से उसका पारित होना आवश्यक होगा। जैसी कि कल्पना की जा सकती है, ऐसा बहुमत प्राप्त करना बहुत कठिन है, जब तक कि राष्ट्रपति का दल अत्यंत अल्पसंख्यक न हो। व्यवहार में, राष्ट्रपति के द्वारा निषिद्ध विधेयक बाद में कदाचित् ही आवश्यक बहुमत प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार राष्ट्रपति का निषेधाधिकार उसके पास एक बड़ा शक्तिशाली शस्त्र है।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति स्थलसेना और नौसेना का सर्वोच्च सेनापति होता है। संघीय शासन की समस्त महत्त्वपूर्ण नियुक्तियां करना उसी का कार्य है; और विदेशी मामलों का संचालन भी उसके ही हाथ में होता है, हालांकि सिनेट कुछ नियुक्तियों पर अपनी अनुमति देने से इनकार कर सकती है, और राष्ट्रपति के द्वारा की गई संधि पर भी दो-तिहाई सिनेट के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। अंत में, युद्ध की घोषणा करने की शक्ति पूर्णरूप में कांग्रेस की है। परंतु स्पष्टतः कार्यपालिका की कार्यवाही ऐसी अवस्था उत्पन्न कर सकती है कि युद्ध अपरिहार्य हो जाए।

इस भांति, हालांकि संयुक्तराज्य में कार्यपालिका और विधानमंडल के बीच संबंध विद्यमान रहते हैं, जिनकी घनिष्टता दलों की शक्ति तथा राष्ट्रपति के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है, फिर भी ये दोनों शक्तियां बिलकुल पृथक् हैं और यह बात निश्चिन्तता के साथ कही जा सकती है कि विश्व के किसी भी सांविधानिक राज्य में आज ऐसा कोई भी पदाधिकारी विद्यमान नहीं है, जिसकी इतनी विस्तृत शक्तियां हों जैसी कि अमरीका के संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति की हैं। यदि वह पुनर्निर्वाचित होना चाहता है तो वह निस्संदेह, जैसे-जैसे निर्वाचन का समय आता जाता है, दल के महान् गुट्टों के अधीन होता जाता है, जो अमरीका की राजनीति का नियंत्रण करते हैं; परन्तु देश के अन्य किसी राजनीतिज्ञ से अधिक नहीं। किंतु वास्तविक रूप में अपने पद के चार वर्षों में, जब तक कि वह अ-सांविधानिक रूप से कार्य नहीं करता, उसकी शक्ति सिवाय उन बातों के, जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं, अबाधित रहती है और उसकी स्थिति निर्विवाद बनी रहती है। और, अंत में भी, यदि लोकमत उसके साथ है तो वह विरोधी कांग्रेस तक के विरोध पर बहुधा विजय प्राप्त कर सकता है।

३. स्विट्जरलैंड की विशिष्ट कार्यपालिका

विश्व में कोई भी कार्यपालिका-प्रणाली इतनी ध्यान देने योग्य नहीं है, जितनी कि

स्विट्जरलैंड की, क्योंकि स्विट्जरलैंड के सन् १८४८ और १८७४ के संविधानों के संस्थापक उस बृहद् योजना—ऐसी योजना जो संसदीय और अ-संसदीय दोनों प्रकारों की कार्यपालिका-प्रणालियों के गुणों को ग्रहण कर सके और दोषों को छोड़ सके—में सफल हुए प्रतीत होते हैं, जिसने पहले के समस्त, विशेपकर फ्रांस के, राजनीतिज्ञों की कल्पनाशक्ति को परास्त कर दिया था। संघीय परिषद् (फेडरल कौंसिल), जो कि स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका है, प्रत्येक संघीय सभा द्वारा निर्वाचित मंत्रिमंडल है, किंतु वे उसे हटा नहीं सकते। इस भांति स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका फ्रांस की नामधारी तथा वास्तविक कार्यपालिका दोनों से ही मिलती-जुलती है; क्योंकि फ्रांसीसी राष्ट्रपति के सदृश ही स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् का निर्वाचन विधानमंडल के द्वारा होता है, और फ्रांसीसी मंत्रिमंडल के समान ही वह वास्तविक कार्यपालिका है। परंतु सभा द्वारा एक बार निर्वाचित हो जाने पर निश्चित अवधि तक न हटाए जा सकने के कारण वह अमरीकी राष्ट्रपति के सदृश है।

तब स्विट्जरलैंड के गणराज्य का राष्ट्रपति कौन है? इसका यही उत्तर है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है क्योंकि ऐसा कोई पद ही नहीं है। स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् सात मंत्रियों का एक निकाय है, जिनका निर्वाचन विधानमंडल के दोनों सदनों—राष्ट्रीय परिषद् और राज्य-परिषद्—के द्वारा होता है, जो इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय सभा के रूप में एक साथ बैठते हैं। इनका निर्वाचन प्रत्येक नई राष्ट्रीय परिषद् के प्रारंभ पर उस सभा की अवधि, अर्थात् तीन वर्ष, के लिए होता है। यह एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें कार्यपालिका-शक्ति व्यक्तियों के एक निकाय के बीच बिखेर दी गई है, एक ही व्यक्ति में केन्द्रीभूत नहीं है। यह प्रयत्न सफल हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यथार्थ अर्थ में ये सातों मंत्री बराबर मात्रा में शक्ति धारण करते है, परन्तु चूंकि कुछ निश्चित कार्य ऐसे भी होते है, जैसे कि विदेशी प्रतिनिधियों, राजाओ, मंत्रियों आदि का औपचारिक स्वागत करना, जो निश्चय ही सात मंत्रियों द्वारा एक साथ निष्पादित नहीं किए जा सकते, अत: राष्ट्रीय सभा इन सातों में से एक व्यक्ति को केवल एक वर्ष के काल के लिए परिषद् के सभापति के रूप में कार्य करने के निमित्त चुन लेती है। स्विट्जरलैंड का लोकतंत्र आवर्त्तन के सिद्धांत पर जोर दता है, और कोई भी व्यक्ति लगातार दो वर्षों के लिए सभापतित्व के पद को धारण नहीं कर सकता। उसे अपने इस पद के वर्ष में अन्य मंत्रियों के वेतन से प्रति वर्ष ६० पौंड के लगभग अधिक वेतन मिलता है। मंत्रियों की संघीय परिषद् का यह सभापति बहुधा गणतंत्र का राष्ट्रपति कहलाता है, परंतु अन्य मंत्रियों के ऊपर उसकी प्राथमिकता "केवलमात्र औपचारिक प्राथमिकता है: वह किसी भी अर्थ में मुख्य कार्यपालक नहीं है।"

इस भांति, स्विट्जरलैंड की मंत्रि-परिषद्, प्रथम दृष्टि में, अत्यंत निश्चित अर्थ में संसदीय कार्यपालिका है, परंतु यदि हम इसकी कार्यवाही को अधिक गहराई से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि व्यवहार में यह स्थायी कार्यपालिका है। सदन द्वारा निर्वाचित परिपद के सातों सदस्यों के लिए, चुने जाने के पूर्व, इन सदनों में से किसी एक का सदस्य होने की

जरूरत नहीं है, हालांकि वे साधारणतया सदस्य होते हैं। परंतु यदि वे सदस्य हों, तो जैसे ही उनका परिषद् के लिए निर्वाचन होता है, उन्हें सदन में के अपने स्थान से त्यागपत्र देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, कार्यपालिका पद पर निर्वाचित होने के साथ विधायी कृत्य से त्यागपत्र देना आवश्यक है। परिषद् के सदस्य अपनी तीन वर्ष की अवधि के अवसान पर बहुधा पुन-निर्वाचित हो जाते हैं, और उनमें से कुछ तो इस पद पर लगातार पन्द्रह वर्ष से भी अधिक समय तक रहे हैं।

परन्तु कार्यपालिका और विधानमंडल के संबंध के विषय में स्विट्जरलैंड की प्रथा अमरीकी प्रथा के बिलकुल विपरीत है। जहां संयुक्तराज्य में कार्यपालिका और विधानमंडल के बीच में एकमात्र संपर्क राष्ट्रपति के संदेश के द्वारा ही होता है, और मंत्रियों में से किसी को भी विधानमंडल के किसी भी सदन में आने की आज्ञा नहीं होती, वहां स्विट्जरलैंड में मंत्रिगण, विभागाध्यक्षों के रूप में, दोनों में से किसी सदन की बैठकों में उपस्थित हो सकते और वाद-विवाद में स्वतंत्रतापूर्वक भाग ले सकते हैं। निस्संदेह, संसद् भी विधियों के पारण के अपने कार्य में पथप्रदर्शन के लिए उनकी ओर देखती है। परन्तु फिर भी ये मंत्रिगण सदनों के नेता नही होते, उनके सेवक होते हैं। मंत्रिमंडल का रूप दलीय नहीं होता, वह दल से परे होता है, वह दल का काम भी नहीं करता और न सदन के विभिन्न दलों की नीति का ही निर्धारण करता है। उसका कार्य तो विशुद्ध रूप से प्रशासकीय है। उसका संबंध मुख्य रूप से ऐसे संघीय कार्यों से होता है, जैसे राष्ट्रीय आय का संग्रहण, अथवा रेलवे जैसे राष्ट्रीय व्यवसायों का प्रबन्ध।

स्विट्जरलैंड में कार्यपालिका की सबसे महत्त्वपूण विशेपता उसकी स्थिरता है। जैसा कि हम कह चुके हैं, यद्यपि मंत्रियों का निर्वाचन सदनों के ही द्वारा होता है, परन्तु वे उन्हें निम्न सदन की अवधि के भीतर पदच्युत नहीं कर सकते। और, इसके साथ ही, यह प्रथा है कि यदि वे चाहें तो पुनर्निर्वाचित भी कर लिये जाते हैं। यदि राष्ट्रीय परिषद् सामान्य तीन वर्ष की अवधि के अन्त के पूर्व ही भंग कर दी जाती है, तो नई राष्ट्रीय परिषद् और राज्य-परिषद् का सर्वप्रथम कर्त्तव्य संघीय परिषद् का निर्वाचन करना होता है, परन्तु व्यवहार में साधारणतया पिछली संघीय परिषद् के सदस्यों का ही पुनर्निर्वाचन कर लिया जाता है। इस प्रकार संघीय परिषद् का स्थायित्व और उसकी स्थिरता बेलजियम और फ्रांस जैसे राज्यों में विद्यमान मंत्रिमंडलीय सरकार की अपेक्षा अमरीका जैसे स्थायी कार्य-पालिका वाले देशों से अधिक मिलती-जुलती है। हालांकि इसका निर्वाचन संसद् द्वारा होता है, फिर भी यह संयुक्तराज्य अमरीका की कार्यपालिका की अपेक्षा अधिक स्थायी है। डायसी ने स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् को ज्वॉइण्ट स्टॉक कम्पनी के निर्देशक-मंडल के समान बताया है और कहा है कि यदि वह सामान्य हित के लिए कुशलता के साथ काम कर रही हो तो उसे परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार वैसी ही परिस्थिति में कम्पनी के बोर्ड की सदस्यता में परिवर्तन करने का कोई कारण नहीं होता।

यह कहा जाता है कि कार्यपालिका विभाग में एकमात्र गंभीर सुधार, जो कि स्विट्जरलैंड में सुझाया गया है, यह है कि मंत्रियों का निर्वाचन राष्ट्रीय सभा के अधिकार से लेकर जनता के हाथों में दे दिया जाना चाहिए। यदि ऐसा हो जाता है तो वह एकमात्र कारण, जिससे हम अब तक स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका को संसदीय कहते आए है, लुप्त हो जाएगा; क्योंकि ऐसी अवस्था में वह समस्त अभिप्रायों और प्रयोजनों के लिए अमरीकी अर्थ में एक स्थायी कार्यपालिका बन जाएगी; केवल यही फर्क रहेगा कि स्विट्जरलैंड का कठोर गणतंत्रवाद अपनी कार्यपालिका का बिखरा हुआ स्वरूप बनाए रखेगा और ऐसे एक व्यक्ति के स्थान पर, जो कि अपनी पसन्द का मंत्रिमंडल बनाए, लोक-निर्वाचन के द्वारा एक निकाय का निर्वाचन करेगा। इस भांति, जहां फ्रांस में वह अर्द्ध-संसदीय कार्यपालिका, जिसकी कि तृतीय फ्रांसीसी गणतंत्र के स्थापक प्रतिष्ठा करना चाहते थे, अत्यन्त उग्र प्रकार[1] की संसदीय कार्यपालिका सिद्ध हुई, वहां यह संसदीय कार्यपालिका जिसकी कि स्विट्जरलैंड का संविधान परिकल्पना करता है, परीक्षा किए जाने पर यूरोप में किसी भी अन्य कार्यपालिका की तुलना में अपने कार्यचालन में अधिक स्थायी और अ-संसदीय पाई जाती है।

४. तुर्की का रोचक उदाहरण

आधुनिक तुर्की प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के तुर्की से अत्यन्त भिन्न है। उस युद्ध के फलस्वरूप तुर्की साम्राज्य भंग हो गया था और उसके पूर्ववर्त्ती बाह्य प्रदेश तुर्की से भिन्न अन्य संरक्षकों के अधीन नए राज्यों में और सफल मित्रराष्ट्रों में से किसी एक के द्वारा शासित आदिष्ट क्षेत्रों (Mandates) में विभाजित हो गए। आज तुर्की एक काफी सुगठित और लगभग राष्ट्रीय राज्य है। यह बहुत हद तक अपने निकट पूर्वी असली प्रदेश अनातोलिया तक सीमित है और इसकी वास्तविक राजधानी अंगोरा है। परन्तु इससे बढ़कर बात यह हुई है कि वहां प्राचीन निरंकुश सल्तनत के स्थान पर गणतंत्र शासन स्थापित हो गया है; और मुस्लिम धर्म की प्राचीन प्रधानता—ख़िलाफ़त—का भी, जो कि सुल्तान में विहित थी, सुल्तान पद की ही तरह अन्त हो गया है। हालांकि तुर्की के पुराने शासन को हमेशा निरंकुश एकतंत्र ही समझा जाता था, फिर भी उसे सांविधानिक रूप देने के प्रयत्न किए गए थे। सन् १८७६ में अब्दुलहमीद द्वितीय ने, यूरोप की महाशक्तियों के दबाव से, एक संविधान की उद्घोषणा की थी, परन्तु यह तब तक प्रभावहीन रहा जब तक कि सन् १९०८ के 'युवा तुर्क आन्दोलन' ने अब्दुलहमीद को सिंहासनच्युत नहीं कर दिया। तब कहीं जाकर संविधान प्रयोग में आया। हालांकि इसके पश्चात् संसद् का अधिवेशन हुआ, फिर भी शासन वास्तव में निरंकुश ही बना रहा और प्रतिनिधि-सभा (चेम्बर ऑफ

---

[1] यह विशिष्टता, जैसा कि हम बता चुके हैं, चतुर्थ गणतंत्र सन् १९४६ के संविधान में पुनः प्रकट हुई है।

डिपुटीज) का वास्तव में कोई नियंत्रण नहीं था। प्रथम विश्वयुद्ध में "गलत पक्ष की सहायता करने के कारण" तुर्की का रोष, और शांति-वार्त्ता के दौरान में उसे जिस प्रकार अपमान सहन करने के लिए बाध्य किया गया था, उसका विरोध करने में सुल्तान की असमर्थता से चिढ़कर तुर्कों ने पुनः नई कार्यवाही की। सन् १९१९ में जब सुल्तान ने कुस्तुन्तुनिया में सेवरे की संधि पर हस्ताक्षर किए, तो तुर्की राष्ट्र ने उसकी पुष्टि करने से इनकार कर दिया और अपने नए केन्द्र अंगोरा से एक ऐसे बलशाली प्रतिरोध का संगठन किया कि उससे मित्रराष्ट्रों को दो सम्मेलनों के पश्चात् लौजां में सन् १९२२-२३ में नई संधि करने के लिए विवश होना पड़ा। बाद की इस संधि से तुर्की को कुस्तुन्तुनिया और थ्रेस वापस मिल गए।

इसी दौरान में सन् १९०८ में पुनरुज्जीवित संविधान की व्यवस्थाओं के अधीन अंगोरा में एक संसद् का अधिवेशन हुआ और उसने सांविधानिक सत्ता ग्रहण कर ली, जिसका उसे अधिकार प्राप्त नहीं था। उसने प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक तुर्की के थोड़े-से महान् पुरुषों में से एक के अधीन कार्य किया। यह मुस्तफा कमाल थे, जो बाद में कमाल अतातुर्क के रूप में प्रसिद्ध हुए : कमाल अतातुर्क तुर्की की सर्वोत्तम सम्मानसूचक उपाधि थी। मुस्तफा कमाल एक ऐसे सैनिक और राजनीतिज्ञ थे, जिनकी विचारधारा पश्चिमी विचारों से बहुत-कुछ प्रभावित थी। इस सभा ने मूल संविधान का संशोधन करके वास्तव में उसको निरस्त कर दिया और एक नया ही संविधान बना दिया। २९ अक्तूबर सन् १९२३ को केवल आधे सदस्यों (१५८) की उपस्थिति में ही उसने तुर्की गणतंत्र के राष्ट्रपति पद पर कमाल अतातुर्क को सर्वसम्मति से निर्वाचित किया।

उस संविधान के अधीन राष्ट्रपति को बड़ी व्यापक शक्तियां प्रदान की गई थीं। 'महा-राष्ट्रीय सभा' नामक एकसदनी विधानमंडल द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है और उसकी अवधि महा-राष्ट्रीय सभा की अवधि अर्थात् चार वर्ष की होती है, परंतु उसका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है। यहां तक कुछ बातों में वह फ्रांस के राष्ट्रपति से मिलता-जुलता है और कुछ अन्य बातों में वह स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् के तुल्य है। इसके अतिरिक्त, वह मंत्रिमंडल के द्वारा, जिसमें एक प्रधान मंत्री भी होता है, अपना कार्य करता है। वही प्रधान मंत्री चुनता है और मंत्रिमंडल के प्रत्येक सदस्य की नियुक्ति का अनुमोदन भी करता है। इसके अतिरिक्त, सभा के द्वारा पारित समस्त विधानों पर उसको निषेधाधिकार होता है, जिसका उसे अमरीकी राष्ट्रपति के समान दस दिनों के भीतर ही प्रयोग करना चाहिए। परंतु चूंकि विधान-सभा साधारण बहुमत से ही विधि का पुनः पारण करके उसकी आपत्तियों को निष्फल कर सकती है, इसलिए इस विषय में तुर्की का राष्ट्रपति उतना शक्तिशाली नहीं होता जितना कि अमरीकी राष्ट्रपति होता है जिसका निषेधाधिकार, जैसा कि बताया जा चुका है, तभी निष्फल हो सकता है जब कि दोनों सदनों में दो-तिहाई का निषेधात्मक बहुमत हो। परन्तु व्यवहार में

तुर्की का राष्ट्रपति बहुत अधिक शक्तिशाली होता है, क्योंकि वह उस सभा के, जो कि उसका निर्वाचन करती है, बहुमत-दल के दलीय संघटन का नेता होता है, और इस तरह वास्तव में उस विधानसभा को अपनी इच्छा के अनुसार चला सकता है। इसके अतिरिक्त, विधानसभा के अध्यक्ष का चयन भी वह ही करता है, जो इंगलैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष के समान होता है। इस भांति तुर्की का राष्ट्रपति चतुर्विध अध्यक्ष है—गणतंत्र का, मंत्रिमंडल का, विधानसभा का और उसके बहुमतीय दल का। मंत्रिमंडलीय सरकारों से युक्त संविधानों में यह एक अनुपम संविधान है, क्योंकि यही एक ऐसा संविधान है जिसमें निर्वाचित राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल के द्वारा काम करते हुए भी, वास्तविक कार्यपालक बना रहता है। फिर भी यह अमरीकी अर्थ में पूर्णरूपेण स्थायी कार्यपालिका नहीं है, क्योंकि विधानसभा के विघटन के साथ ही राष्ट्रपति की अवधि भी समाप्त हो जाती है।

कमाल अतातुर्क के अधीन, जिसकी मृत्यु सन् १९३८ में हुई, तुर्की गणतंत्र यदि अधिनायकवादी नही तो प्रबुद्ध निरंकुशवादी तो था ही। और इस संबंध में उसमें कमाल अतातुर्क के उत्तराधिकारी जनरल इस्मेत इनोनू के अधीन भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, हालाकि कमाल अतातुर्क के मुकाबले में उसका व्यक्तित्व कुछ भी नहीं था। दीर्घकाल तक एकदलीय सरकार ही कायम रही, जिसकी प्रवृत्ति सर्वसत्तावादी व्यवस्था की ओर थी। इसके परिणामस्वरूप, निर्वाचकों में ऐसी गहन उदासीनता छा गई कि सन् १९३०-३९ के अंतिम वर्षो में राष्ट्रीय सभा में एक सरकारी विरोधी पक्ष की अनुज्ञा देनी पड़ी। प्रारंभ मे विरोधी सदस्यों की संख्या बहुत सीमित रखी गई थी, परंतु वह बन्धन बाद में हटा दिया गया। इस नई स्वतंत्रता ने तुर्की के राजनीतिक जीवन को स्फूर्त्ति प्रदान की और, जैसा कि सन् १९५० के निर्वाचन मे सिद्ध हुआ, लोकतंत्रवादियों ने जनगणतंत्रीय दल पर, जिसकी स्थापना अतातुर्क ने की थी, असाधारण विजय प्राप्त करके सभा में ४३८ स्थान प्राप्त कर लिए। इस पर राष्ट्रपति इनोनू ने लोकतंत्रवादियों के नेता के पक्ष में पदत्याग कर दिया। आधुनिक इतिहास में यह पहला उदाहरण है जब कि अधिनायकवाद ने लोकमत का आदर करते हुए स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति का समर्पण किया। यह निस्संदेह ही संविधानवाद की मार्के की विजय है।

५. संसदीय और स्थायी कार्यपालिकाओं के तुलनात्मक लाभ

आधुनिक संसार की मूल रूप से भिन्न दो प्रकार की कार्यपालिकाओं की इस विवेचना से एक-दो ऐसी बात पैदा होती है जिन पर बल देना आवश्यक है। प्रथम, हम देखते हैं कि जहां कहीं भी संसदीय प्रणाली है, वहां सामान्य रूप से इंगलैंड ही इसका प्रेरक रहा है, और समस्त अन्य देशों की प्रणालियों के लिए यही आदर्श रहा है। अतएव, यह एक बड़ी रोचक बात है कि इंगलैंड में कार्यपालिका मूल रूप में अ-संसदीय थी और वह नाम में आज भी वैसी ही है, क्योंकि प्रत्येक मंत्री मुकुट का सेवक होता है और अब भी उसकी नियुक्ति और

पदच्युति नाम के लिए उसी के द्वारा होती है। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, वास्तव में आधुनिक लोकतंत्रीय निर्वाचक-समूह प्रधान मंत्री और लोकसभा इन दोनों का ही निर्वाचन करने लगा है। हालांकि यह भी सच है कि भावी प्रधान मंत्री का निर्वाचन प्रधान मंत्री के रूप में न होकर संसद् के सदस्य के रूप में होता है, फिर भी संविधान की परम्परा के अनुसार यह सुनिश्चित रहता है कि बहुमत-दल का नेता ही, वास्तव में, सरकार का प्रमुख होगा।

तब हम यह पूछ सकते हैं कि कार्यपालिका के इन प्रकारों में से लोकतंत्र के प्रयोजनों और कल्याण के लिए कौन अधिक उत्तम है। जहां तक संसदीय कार्यपालिका का प्रश्न है, चूंकि जहां यह वास्तविकतम है, वहां यह दल-प्रणाली पर आधारित है, और इस कारण इस बात का भय है कि कही यह विधानमंडल का, जो इसका सृजन करता है, दास न बन जाए। इस प्रणाली में विधानमंडल और कार्यपालिका के बीच गम्भीर संघर्ष की संभावना तो नहीं रहती, किन्तु हो सकता है कि कार्यपालिका विधानमंडल की स्थायी इच्छा को ही नही, वरन् उसकी बदलती हुई और परिणामस्वरूप निर्वाचक-समूह की और भी अस्थिर भावनाओं को तथा उत्तेजनाओं को भी प्रतिबिम्बित करने लगे। स्थायी कार्यपालिका से यही लाभ है कि उससे यह डर नहीं रहता, क्योंकि प्रथम तो कार्यपालिका की कार्यवाही के लिए बहुधा यह आवश्यक होता है कि, राज्य की भलाई के निमित्त, वह निर्बाधित हो, और दूसरे संयुक्त-राज्य के राष्ट्रपति के समान पद धारण करनेवाला व्यक्ति ऐसे नियंत्रण से मुक्त होने के फलस्वरूप वास्तविक नेता बन सकता है और इस भांति लोकतंत्र को उसके सबसे बड़े संकट——संपूर्ण लोकतंत्र के अपने निकृष्टतम सदस्य के समान हो जाने के भय——से बचा सकता है।[1]

फिर भी जनता द्वारा निर्वाचित स्थायी कार्यपालिका पर, जैसी संयुक्तराज्य में है, जनता की भावनाओं का प्रभाव विधानमंडल पर अवलम्बित कार्यपालिका की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक रहता है। किन्तु इसका एक बड़ा लाभ यह है कि एक बार निर्वाचित हो जाने पर, उसे दलबन्दी की सनकों और उप-निर्वाचनों के परिवर्तनशील परिणामो मे कोई बाधा नहीं पहुंचाई जा सकती। जैसा कि हम कह चुके है, स्थिरता प्राप्त करने के लिए संसदीय कार्यपालिका को सुस्थापित और सुनिश्चित दलीय प्रणाली की आवश्यकता होती है। ब्रिटेन की तरह, जहां पर यह स्थिति विद्यमान है वहां यह प्रणाली अच्छा काम करती है, परन्तु जहां पर ऐसा नहीं होता; उदाहरणार्थ फ्रांस में, वहां कार्यपालिका के संगठन में बराबर परिवर्तन होते रहते है जो कि किसी भी प्रकार की सरकार के लिए बुरा है। जो संरक्षण हम चेकोस्लोवाकिया के मूल संविधान में देखते हैं, जहा सरकार की गम्भीर पराजय मात्र ही पदत्याग के लिए बाध्य नहीं कर सकती, वह एक अच्छी योजना है, विशेषकर

[1] उदाहरण के लिए एमिली फेग्वे का 'कल्ट ऑफ इनकॉम्पिटेंस' देखिए।

नवसंस्थापित राजनीतिक संगठन के लिए, जिसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता लोक-तंत्रात्मक उपकरण के संचालन के अभ्यास की है। परंतु स्वतः सांविधानिक संरक्षण का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। संसदीय कार्यपालिका ऐसी सभा की, जो कि स्वयं भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो, उपेक्षा से आसानी से भ्रष्ट हो सकती है, जैसा कि कुछ अंशों में वाल्पोल के अधीन इंगलैंड में हुआ था। साथ ही, दो विश्वयुद्धों के बीच के यूरोप के राजनीतिक इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि उस राज्य में, जहां संविधान शक्तिरहित होता है, संसदीय कार्यपालिका पहले स्थायी और फिर निरंकुश बन जाती है, जैसा कि मुसोलिनी के अधीन इटली और हिटलर के अधीन जर्मनी में हुआ।

मुसोलिनी ने, प्रधान मंत्री बनने के पश्चात्, तुरन्त ही एक विधि पारित की, जिसके द्वारा उसने अपने-आपके लिए शासन के अध्यक्ष की उपाधि प्राप्त कर ली, और इस भांति अपने को किसी भी प्रकार की संसदीय निन्दा अथवा अविश्वास के प्रस्ताव से स्वतंत्र कर लिया। इसके अतिरिक्त, सन् १९२८ में उसने "सन् १९२२ की क्रांति से उत्पन्न शासन के समस्त कार्यों को एक सूत्र में बद्ध करनेवाली सर्वोच्च संस्था" के रूप में फासिस्ट महा-परिषद् की स्थापना करके वास्तव में मंत्रियों के उत्तरदायी निकाय के रूप में मंत्रिमंडल को समाप्त कर दिया। संक्षेप में, फासिस्ट इटली का विधानमंडल इंगलैंड में ट्यूडरों की अपने ही आदमियों से भरी हुई संसदों के अथवा क्रांतियुग के पूर्व फ्रांसीसी राजाओं की संसदों के समान, निरंकुश शासन की आज्ञप्तियों की रजिस्ट्री करनेवाला कार्यालय मात्र बन गया। हिटलर के अधीन जर्मनी में भी ऐसा ही हुआ। जो समिति हिटलर के मंत्रिमंडल के नाम से पुकारी जाती थी, वह कोई 'मंत्रिनिकाय' अथवा परिषद् नहीं थी जिसमें कि चान्सलर का स्थान 'समान व्यक्तियों में प्रथम' होता, जैसा कि वेमर गणतंत्र में था। वह तो नेताओं की एक परिषद् थी जिन्हें फ्यूरेर नेता (हिटलर) अपने पास इसलिए एकत्रित करता था कि उसे सूचना मिलती रहे कि राज्य के मुख्य विभागों में क्या हो रहा है। निर्वाचित सभा या निर्वाचक-मंडल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। ये दोनों उदाहरण उस तरीके के हैं जिसमें संसदीय कार्यपालिका को बिगाड़कर अधिनायकवाद का रूप दिया जा सकता है। इनसे प्रकट होता है कि यदि निर्वाचक-मंडल और विधानमंडल कार्यपालिका के प्रति निरन्तर रूप से सतर्कता नहीं बरतते, जो कि स्वतंत्रता का मूल्य है, तो सांविधानिक अधिकार किस आसानी से खोए जा सकते हैं।

हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं को, उचित रूप में कार्य करने के लिए, ऐसे राजनीतिक अनुभव की आवश्यकता होती है, जिसका विश्व के नए राज्यों में निश्चय ही अभाव है। अतः, इन नए राज्यों के लिए समस्या अनुभव को प्राप्त करने के लिए आवश्यक काल में शासन के ऐसे स्थिरतम रूप को ढूंढ़ निकालने की है जिसमें जनता के अधिकार सुरक्षित रह सकें। और यह संभव है कि ऐसा स्थायित्व अ-संसदीय कार्यपालिका की बजाय संसदीय कार्यपालिका के द्वारा अधिक निश्चय के साथ प्राप्त किया

जा सकता है, क्योंकि संसदीय प्रणाली कार्यपालिका पर राजनीतिक दृष्टि से अशिक्षित जन-समूह से एक मंजिल आगे (प्रतिनिधि-सदन द्वारा) नियंत्रण लगाती है। प्रतिनिधि-सभा, जो इस प्रणाली में कार्यपालिका पर ऐसा नियंत्रण रखती है, इसी दौरान में संसदीय कार्यों के निरन्तर प्रयोग से अनुभव प्राप्त करती है। अन्त में जब संसदीय निर्वाचक-गणों को निर्वाचनों समुचित का अभ्यास हो जाता है, तो वे एक अयोग्य कार्यपालिका की उपेक्षा करनेवाले भ्रष्ट प्रतिनिधि-सदन को नष्ट करने के लिए स्थायी कार्यपालिका की अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक समर्थ होंगे। यदि निर्वाचित कार्यपालिका अपने कार्यकाल में नियंत्रण से मुक्त हो तो निर्वाचक-गण, उसके निरंकुश आचरण को रोकने में उतने समर्थ नहीं हो सकते जितने कि संसदीय शासन में उतने ही समय के उपरान्त हो सकते हैं।

प्रश्न

१. "स्थायी कार्यपालिका की प्रवृत्ति लोकतंत्रीय अथवा निरंकुश, किसी भी प्रकार की हो सकती है।" व्याख्या कीजिए।

२. अमरीका के संविधान ने राष्ट्रपति के निर्वाचन की जो प्रणाली प्रारंभ में निर्धारित की थी, व्यावहारिक रूप में रूढ़ि और प्रथा ने उसमें क्या परिवर्तन कर दिए हैं?

३. संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति की शक्तियां बताइए। वह किस अर्थ में वास्तविक कार्यपालक है?

४. "अमरीका का राष्ट्रपति यदि चाहे तो कांग्रेस के मत के विरुद्ध भी जा सकता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. कार्यपालिका शक्ति को बिखेरने का क्या तात्पर्य है? सिद्ध कीजिए कि यह कार्य किसी आधुनिक राज्य की अपेक्षा स्विट्जरलैंड में अधिक सफल हुआ है।

६. आधुनिक राज्यों की कार्यपालिकाओं में स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका किस माने में अद्वितीय है?

७. तुर्की गणतंत्र के राष्ट्रपति की शक्तियों की विवेचना कीजिए।

८. ब्रिटेन के मंत्रिमंडलीय शासन की अमरीका के राष्ट्रपतीय शासन से तुलना कीजिए।

९. फासिस्ट और नाज़ी अधिनायकतंत्रों ने किन अर्थों में स्थायी कार्यपालिका की स्थापना की?

१०. संसदीय और अ-संसदीय, इनमें से किस प्रकार की कार्यपालिका को आप लोकप्रभुता के अधिक अनुकूल समझते हैं?

अध्याय १२

न्यायपालिका

१. शासन के न्यायिक विभाग की स्वतंत्रता

विधि के शासन और प्रशासनिक विधि के बीच के अन्तर के आधार पर वर्गीकृत (जैसा कि हमने किया है) न्यायिक प्रणालियों की चर्चा प्रत्यक्षतः कार्यपालीय प्रणालियों के विवेचन से उत्पन्न होती है, क्योंकि यह वर्गीकरण विशेषकर न्यायपालिका और कार्यपालिका के भेद के आधार पर ही किया गया है। ब्रिटेन जैसे राज्यों की, जिन्हें हमने सामान्य विधि वाले राज्य कहा है और जिनमें विधि के शासन का विकास हुआ है, विशेष पहचान यह है कि उनमें न्यायिक विभाग प्रशासनीय (अथवा कार्यपालीय) हस्तक्षेप से पूर्णतः स्वतंत्र होता है; जब कि उन राज्यों में जिन्हें हमने विशेषाधिकार वाले राज्य कहा है, प्रशासनिक विधि कही जानेवाली विधि की एक शाखा पर कार्यपालिका का नियंत्रण रहता है। इस अध्याय में मुख्य रूप से इसी अन्तर पर विचार किया जाएगा किन्तु इस पर विस्तृत रूप से विचार करने के पहले न्यायपालिका के कुछ अधिक सामान्य लक्षणों पर विचार करना हमारे लिए लाभदायक होगा। शासन के न्यायिक विभाग का अध्ययन एक उच्च कोटि का प्राविधिक विषय है, और उसे राजनीति की अपेक्षा न्यायशास्त्र का विषय कहना अधिक ठीक होगा। परन्तु स्पष्ट है कि तुलनात्मक राजनीति का परिचय तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक कि न्यायपालिका के विषय में भी कुछ विचार न किया जाए; क्योंकि हर जगह यह शासन के तीन बड़े अंगों में से एक है और अन्य दो की शक्तियों तथा प्रजा के अधिकारों और कर्त्तव्यों से इसका घनिष्ठ संबंध है।

अध्याय १० में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर विचार करते समय हम यह बता चुके हैं कि आत्यंतिक व्याख्या के अनुसार इस सिद्धांत का तात्पर्य तीनों विभागों का एक-दूसरे से पूर्ण पृथक्करण है, परन्तु व्यापक रूप में इसका तात्पर्य केवल यही है कि ये तीनों शक्तियां पृथक्-पृथक् अधिकारियों के पास होंगी। आधुनिक दशाओं में इसके आत्यंतिक अर्थ को व्यावहारिक रूप देना असंभव है, क्योंकि सांविधानिक सरकार का कारबार इतना जटिल होता है कि प्रत्येक विभाग के क्षेत्र का ऐसी रीति में निरूपण नहीं हो सकता कि प्रत्येक विभाग अपनी निर्दिष्ट सीमा में स्वतंत्र तथा सर्वोच्च रह सके; क्योंकि, जैसा एच०जे० लास्की का कथन है, "शक्तियों के पृथक्करण का तात्पर्य शक्तियों का समान संतुलन नहीं है।" एक सच्चे सांविधानिक राज्य में अ-संसदीय कार्यपालिका के होते हुए भी विधानमंडल को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए तथा वह ऐसा सुनिश्चित करता भी है कि कार्यपालिका के

कार्य मोटे तौर से उसकी इच्छा को कार्यान्वित करें। हम यह भी देख चुके हैं कि फ्रांस में भी, जहां शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत उसके प्रथम संविधान का मूल आधार था, इस सिद्धांत में तब से इतना परिवर्तन हो चुका है कि तृतीय और चतुर्थ गणतंत्रों के संविधान में संसदीय कार्यपालिका की प्रणाली का सूत्रपात हो गया जिससे कार्यपालिका विधानमंडल का एक भाग—वास्तविक रूप में उसकी एक समिति—बन गई है। इसके अतिरिक्त, सरकार की अच्छी प्रणाली में कार्यपालिका के पास क्षमा अथवा प्रविलम्बन के विशेषाधिकार होने चाहिए तथा होते हैं, जिससे कार्यपालिका न्यायपालिका के अत्यन्त कठोर निर्णयों को रोक सके अथवा निष्फल कर सके। इसके अलावा, अपनी क्षमता की सीमाओं के भीतर विधानमंडल का यह सुनिश्चित करना हमेशा ही एक कार्य रहा है कि यदि न्यायपालिका की प्रवृत्ति अच्छी नीति के विरुद्ध मालूम हो तो वह विधान द्वारा उलट दी जाए। इन उदाहरणों से इन तीन विभागों का पारस्परिक संबंध प्रकट होता है।

परन्तु इस व्यापक अर्थ में कि तीनों शक्तियां पृथक् अधिकारियों के पास होंगी, समस्त आधुनिक सांविधानिक राज्य शक्तियों के पृथक्करण के आदर्श के अनुकूल हैं; क्योंकि आज कहीं भी इनमें से एक कृत्य का सम्पादन करनेवाला निकाय अन्य दो कृत्यों का सम्पादन करनेवाले निकायों से अभिन्न नहीं है। जहां तक विधानमंडल और कार्यपालिका का प्रश्न है, यह पृथक्करण अ-संसदीय कार्यपालिका वाले राज्य में स्पष्टतया विद्यमान होता है। यह कतिपय मात्रा में उस राज्य में भी विद्यमान है, जिसकी कार्यपालिका संसदीय प्रकार की है; क्योंकि यहां कार्यपालिका विधानमंडल का एक भाग है, संपूर्ण विधानमंडल नहीं। जहां तक कार्यपालिका और न्यायपालिका का संबंध है, ऐसे एक या दो ही अपवाद हैं, जिनका इस मुख्य सत्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि वे विभिन्न निकाय हैं। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड में, लॉर्ड चान्सलर जो कि अपने देश का उच्चतम न्यायिक पदाधिकारी होता है, सामन्त सभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) का पदेन सभापति होने के अतिरिक्त मंत्रिमंडल का सदस्य भी होता है, और इसीलिए सरकार के परिवर्तन के साथ उच्चतम न्यायाधिकारी के पद में भी परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अपीलीय सामन्त (लॉर्ड्स ऑफ अपील) भी हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्य होते हैं, परन्तु यह केवल इस कारण ही कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स आज भी अपील का अन्तिम न्यायालय बना हुआ है, और जिस भांति एक साधारण सामन्त को इस न्यायिक निकाय के कार्य से कोई मतलब नहीं, इसी भांति अपीलीय सामन्त भी सामान्यतया हाउस ऑफ लॉर्ड्स के राजनीतिक कार्य में कोई भाग नहीं लेते। यूरोप महाद्वीप के अधिकांश मंत्रिमंडलों में भी न्यायमंत्री होता है, परन्तु वह हमेशा न्यायाधीश नही होता। केवल संयुक्तराज्य ही ऐसा है जहां कार्यपालिका में न्यायिक निकाय का कोई भी प्रतिनिधि नहीं होता और इसी भांति न्यायपालिका में कार्यपालिका का कोई प्रतिनिधि नहीं होता। परन्तु ये अपवाद हैं, जो कि नियम को सिद्ध करते हैं और यह संविधानवाद का एक मूल सूत्र है कि न्यायपालिका को स्वयं

अपने विभाग में नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए, हालांकि यह प्रश्न उठता है कि उस विभाग की सीमाएं क्या हों।

इस स्वतंत्रता-सूत्र के अनुसार अधिकांश सांविधानिक राज्यों में न्यायाधीशों का पद स्थायी होता है, अर्थात् वे तब तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक कि वे 'सदाचारी' रहते हैं—अर्थात् विधि द्वारा उल्लिखित किसी अपराध के दोषी नहीं होते—और इसीलिए उनका पद निर्वाचन के परिणामों के फलस्वरूप परिवर्तनाधीन नहीं होता जैसा कि शासन के अन्य दो भागों में होता है। इसके दो बड़े अपवाद हैं: एक स्विट्जरलैंड, जहां न्यायाधीशों का निर्वाचन दो संघीय सदनों के संयुक्त अधिवेशन के द्वारा छह वर्ष के लिए होता है (परन्तु यहां भी अधिकतर उसी न्यायाधीश का बार-बार पुनर्निर्वाचन हो जाता है जिससे व्यावहारिक रूप में पद का स्थायित्व प्राप्त हो जाता है); दूसरा अपवाद संयुक्तराज्य के कुछ विभिन्न अंगभूत राज्य है, जहां अवधिविशेष के लिए (कहीं-कहीं दो वर्ष जैसी अल्प अवधि भी होती है) जन-निर्वाचन की प्रणाली को अपनाया गया है। ऐसी प्रणाली से अनेक प्रकार की बुराइयां और भ्रष्टाचारों को प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु यह बात संयुक्त-राज्य की संघीय न्यायपालिका पर लागू नहीं होती, जहां कि राष्ट्रपति सिनेट के परामर्श तथा स्वीकृति से न्यायाधीशों को जीवनभर के लिए नियुक्त करता है।

फ्रांस में न्यायाधीश-मंडल के लिए उम्मीदवार न्यायमंत्री के अधीन संचालित प्रतियोगिता-परीक्षा के द्वारा चुने जाते हैं (नियुक्ति की यह पद्धति फ्रांस में व्यापक रूप से समस्त स्थायी शासकीय पदों के लिए—यहां तक कि स्कूल के शिक्षकों के लिए भी—प्रचलित है); वरिष्ठता तथा गुण के आधार पर न्यायालय की एक श्रेणी से दूसरी में उनकी पदोन्नति होती है। वे न तो विधानमंडल के द्वारा और न कार्यपालिका के ही द्वारा हटाए जा सकते हैं; वे केवल उच्चतर न्यायालय के द्वारा ही, जिसका अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, और चतुर्थ गणतंत्र के संविधान के अधीन, जिसमें चौदह सदस्य होते हैं, पृथक् किए जा सकते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में न्यायाधीशों की नियुक्ति सैद्धांतिक रूप में राजा परन्तु व्यवहार में लॉर्ड चान्सलर करता है, और एक्ट ऑफ सेटिलमेंट (सन् १७०१) के द्वारा यह निश्चित किया जा चुका है कि जब तक वे सदाचारी रहें तब तक पद को धारण करने का उनका अधिकार बना रहेगा। उनको पद से हटाने का तरीका यही है कि संसद् के दोनों सदन उस आशय का निवेदन करें; परन्तु इस अधिनियम के पारित होने के बाद से आज तक ऐसा कोई निवेदन नहीं किया गया, अतएव उनके पद का स्थायित्व स्पष्ट है। संयुक्तराज्य में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कांग्रेस के समक्ष महाभियोग की प्रक्रिया के द्वारा ही हटाए जा सकते हैं।[1]

[1] सन् १९३७ में प्रेसिडेंट रूजवेल्ट ने प्रयत्न किया था कि न्यायाधीशों की निवृत्त होने की आयु ७० वर्ष निश्चित कर दी जाए, किन्तु यह प्रयत्न असफल हुआ। देखिए पूर्व पृष्ठ ९९।

इस प्रकार यद्यपि अधिकांश में कार्यपालिका या उसका कोई भाग ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, तथापि सामान्यतया उनको हटाना विधानमंडल के ही हाथों में होता है; किसी भी दशा में यह अधिकार कार्यपालिका के नियंत्रण में नहीं है। इस भांति, अधिकांश सांविधानिक राज्यों में शासितों के अन्तिम अधिकार दोहरे रूप से सुरक्षित रहते हैं; क्योंकि उन न्यायाधीशों की नियुक्ति, जिनके ऊपर अधिकारों की सुरक्षा अन्ततः अधिकांश में अवलम्बित है, उस प्रक्रिया द्वारा नहीं होती जिसमें लोकतंत्र की कुख्यात चंचलता प्रभावशील रहती है, और चूकि उनका कार्यकाल सुरक्षित होता है, इसलिए वे राजनीतिक आवश्यकताओं से ऊपर रहते हैं। यह बताने के उपरान्त कि न्यायपालिका अन्य दो विभागों से किन अवस्थाओं में स्वतंत्र रहती है, अब हम यह देखेंगे कि न्यायपालिका (१) विधानमंडल और (२) कार्यपालिका को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है।

२. न्यायपालिका और विधानमंडल

हम यह बता चुके हैं कि विधानमंडल का कार्य विधि का निर्माण है, और न्यायपालिका का कार्य "वैयक्तिक मामलों में विद्यमान विधि के उपयोजन का विनिश्चय करना" अर्थात् विधि का उल्लंघन करनेवालों को दंड देना है। परन्तु हम यह भी देख चुके हैं कि अनेक राज्यों में न्यायाधीश अपने निर्णयों द्वारा भी वास्तव में विधि का निर्माण करते हैं। यह 'वादजन्य विधि' या न्यायाधीश-निर्मित विधि फ्रांस के सदृश विशेषाधिकारयुक्त राज्यों की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन के सदृश 'सामान्य विधि राज्यों' का विशिष्ट लक्षण है (हालांकि यह एक आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांस में न्यायिक न्यायालयों से भिन्न रूप में प्रशासकीय न्यायालय, वास्तव में, इस प्रक्रिया का उपयोग करते हैं)।

न्यायाधीश-निर्मित विधि का सिद्धांत पूर्वदृष्टांत के बल पर आधारित है, अर्थात् न्यायाधीशों के पूर्वनिर्णय समान मामलों में पश्चात्वर्त्ती न्यायाधीशों को बाध्य करनेवाले समझे जाते हैं; हालांकि समय के साथ इन निर्णयों में परिवर्तन होता जाता है, और पूर्व के निर्णय केवल पथप्रदर्शक के रूप में रह जाते हैं। इस भांति एंग्लो-सेक्सन राज्यों में विधानमंडल के कार्य से बिलकुल भिन्न रूप में, पुरानी विधि में नई विधि जोड़ दी जाती है। इस प्रकार न्यायाधीश चाहे पूर्वदृष्टांत का अनुसरण करे, अथवा स्वयं उसका सृजन करे, उसे उपयुक्त रूप से विधिनिर्माता कहा जा सकता है। इसीलिए, महान् अंगरेज विधिविशेषज्ञ स्वर्गीय प्रोफेसर डायसी ने न्यायाधीशों को 'सारतः विधिनिर्माता प्राधिकारी' कहा है। इसी प्रकार, महान् अमरीकी न्यायाधीश स्वर्गीय जस्टिस होम्स ने भी कहा था कि "न्यायाधीश विधिनिर्माण करते हैं और उन्हें वैसा करना ही चाहिए।"

यह वादजन्य विधि सामान्य-विधि राज्यों की इस महत्त्वपूर्ण विशिष्टता को उपलक्षित करती है कि ऐसे राज्यों में विधि संहितावद्ध नहीं होती, अर्थात् विधि की कोई ऐसी संगठित व्यवस्था नहीं होती जिसकी किसी एक समय में ऐसी सीमा निश्चित कर दी गई हो,

जिससे परे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, न्यायाधीश कार्य नहीं कर सकते । परन्तु उन राज्यों में, उदाहरणार्थ अधिकांश यूरोपीय राज्यों में, जहां विधि बहुत पूर्व ही संहिताबद्ध हो चुकी है, न्यायाधीशों द्वारा विधि की रचना संभव नही है । उदाहरण के लिए फ्रांस में ही, जहां नेपोलियन के समय से ही विधि को संहिताबद्ध किया जा चुका था, न्यायाधीशों को वाद-जन्य विधि के निर्माण के लिए स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया गया है । संहिता उनका पथ-प्रदर्शन करती है, और यदि संहिता किसी विशिष्ट मामले के संबंध में न्यायालय की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण हो, तो न्यायाधीश निर्णय दे सकता है, परन्तु वह किसी भी रूप में भावी मामलों में बाध्य नहीं होगा । परन्तु, सामान्य विधि प्रणाली में ऐसा निर्णय भविष्य के लिए स्वस्थ विधि समझा जाएगा । इन दोनों प्रणालियों से लाभ भी है और हानि भी । सामान्य विधि राज्यों में पूर्वदृष्टांतों की चर्चा करते समय वकील को अपने आधार का निश्चय होता है, और वह न्यायाधीश की सनक या संहिताबद्ध विधि की संदिग्ध शब्दरचना के अधीन नहीं रहता । दूसरी ओर, पूर्वनिर्णयों का संकलन इतना उलझा हुआ, भ्रमात्मक और विरोधयुक्त हो गया है कि वकीलों के लिए यह मालूम कर लेना बहुधा कठिन हो जाता है कि वास्तव में विधि क्या है । संहिताबद्ध विधि वाले राज्यों में न्यायाधीश ब्रिटेन जैसे राज्यों के न्यायाधीशों की अपेक्षा एक अर्थ में अधिक स्वतंत्र हैं; क्योंकि उन पर पूर्वदृष्टांतों का अंकुश नहीं होता और जब कोई मामला विद्यमान संहिता से परे उपस्थित होता है तो वे अपना ध्यान न्याय करने पर ही केन्द्रित कर सकते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती कि किसी विद्वान् पूर्वाधिकारी के पूर्वनिर्णय का अनुसरण हो रहा है या नहीं । इसके साथ ही, ऐसे राज्यों के न्यायाधीश अधिक मर्यादित भी रहते हैं, क्योंकि केवल विधानमंडल ही या तो विशेष विधियों के पारण के द्वारा या नए संहिताकरण की अनुमति देकर विधि में परिवर्तन कर सकता है । इसके विपरीत, सामान्य विधि वाले न्यायाधीश अपने तर्कों तथा निर्णयों के द्वारा नई विधि बना सकते हैं, जब तक कि उनके निर्णय विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के प्रतिकूल न हों । किन्तु ये सब बातें किन्हीं भी न्यायाधीशों के, चाहे वे कितने ही प्रख्यात क्यों न रहे हों, किन्हीं भी पूर्वनिर्णयों को, चाहे वे कितने ही श्रद्धेय क्यों न हों, विधि द्वारा परिवर्तित करने की अथवा किसी विधिसंहिता को संशोधित करने की विधानमंडल की शक्ति को प्रभावित नहीं करतीं; बशर्ते कि विधानमंडल सदा ही उन शक्तियों के अन्दर काम करे जो कि उसे संविधान द्वारा प्रदत्त होती है । अतः, कुछ ऐसे विषयों का जिनकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं, जैसे कि एकात्मक तथा संघीय राज्य, नमनीय तथा अनमनीय संविधान, न्यायपालिका और विधानमंडल के बीच के संबंध, अध्ययन अत्यन्त लाभदायक होगा ।

हम यह बता चुके है कि एकात्मक राज्य में केन्द्रीय विधानमंडल केवल उन निर्बन्धों के सिवाय, यदि कोई हों, जो कि संविधान द्वारा उस पर लगाए गए हों, सर्वोच्च होता है; परन्तु संघराज्य में संघीय विधानमंडल सीमित रहता है क्योंकि एक तो उसकी शक्तियों के साथ अंगभूत राज्यों की भी शक्तियां होती हैं और दूसरे उसका संविधान अनमनीय होता है ।

संविधान के विषय में हम बता चुके हैं कि जहां वह नमनीय होता है, वहां विधानमंडल की सर्वोच्चता निर्विवाद रहती है; परन्तु जहां वह अनमनीय होता है, वहां उसकी सर्वोच्चता, सांविधानिक विधिनिर्माण के विषय में, उसके ऊपर आरोपित निर्बन्धनों द्वारा मर्यादित रहती है। इन शर्तों का पालन कराने में न्यायपालिका का क्या कार्य है ? एकात्मक राज्यों का परीक्षण करते समय, उदाहरणार्थ इंगलैंड के प्रकरण में, हम देख चुके है कि न्यायाधीश संसद् द्वारा पारित विधियों को बिना किसी आपत्ति के लागू करने को बाध्य हैं। यदि संसद् द्वारा निर्मित विधि सामान्य विधि के प्रतिकूल है तो उस विशेष प्रकरण में सामान्य विधि को त्याग नहीं दिया जाएगा। यह सच है कि न्यायाधीशों को किसी भी विधि के विषय में व्याख्या करने की एक निश्चित शक्ति प्राप्त है, क्योंकि "विधि द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत शक्तियां, चाहे वे कितनी भी असाधारण क्यों न हों, वास्तव में कभी भी असीमित नही होतीं क्योंकि वे स्वयं अधिनियम के शब्दों द्वारा मर्यादित रहती है," परन्तु न्यायाधीश शब्दों से बाहर नहीं जा सकते, और यदि शब्द संसद् के अभिप्राय को बुरी तरह अभिव्यक्त करते हैं तो अधिनियम का उपयोग उसे पारित करनेवालों के आशय से बिलकुल भिन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त एकात्मक राज्य में यह सम्भावना कभी भी नहीं होती कि न्यायाधीशों को केन्द्रीय संसद् और राज्य के अन्तर्गत अन्य निकायों के बीच के विवादों को तय करने को कहा जाए; क्योंकि ऐसे अन्य निकायों के पास उन अधिकारों के सिवाय, जो उन्हें केन्द्रीय विधानमंडल से प्राप्त होते हैं, अन्य कोई अधिकार नहीं होते।

परन्तु संघीय राज्यों में स्थिति बिलकुल भिन्न होती है। उनमें से अधिकांश में न्यायपालिका की शक्ति विधानमंडलों की शक्ति की तुलना में एकात्मक राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। उदाहरणार्थ, संयुक्तराज्य में संविधान सर्वोच्च है, विधानमंडल नहीं, और इस तथ्य से न्यायपालिका को एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे वह विधानमंडल तथा कार्यपालिका के समकक्ष हो जाती है। संघीय न्यायाधीश और राज्यीय न्यायाधीश भी, संविधान की रक्षा करना और महासभा (कांग्रेस) अथवा राज्य के विधानमंडल के ऐसे प्रत्येक विधायन-कार्य को शून्य मानना जो संविधान से असंगत हो, अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। निस्संदेह वह ऐसी किसी विधि का उन्मूलन नही कर सकते, परन्तु वे उन सब मामलों के विषयों में जो कि उनके सामने आएं, उसे शून्य समझने को बाध्य हैं। इस भांति संयुक्तराज्य में शासन के न्यायिक विभाग में यूनाइटेड किंगडम की न्यायपालिका की अपेक्षा बहुत अधिक सक्षमता है।

विभिन्न संघीय राज्यों में न्यायपालिका की शक्तियां बहुत अंशों में विभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया में, जहां संघीय न्यायपालिका की स्थिति संयुक्तराज्य की संघीय न्यायपालिका की स्थिति से बहुत मिलती-जुलती है, कॉमनवेल्थ और राज्यों की अधिकांश शक्तियां समवर्त्ती हैं, और इसके परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत सांविधानिक प्रश्नों में से अधिकांश संघीय तथा राज्यीय शक्तियों के बीच सीमा-निर्धारण से संबंधित

रहते हैं। वास्तव में, इस सम्बन्ध में आस्ट्रेलिया और संयुक्तराज्य के बीच में मुख्य अन्तर यही है कि आस्ट्रेलिया का उच्च न्यायालय राज्यविधिविषयक अपीलों को सुन सकता है; परन्तु संयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय में ऐसा करने की शक्ति नही है। वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मनी में संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में संघीय न्यायाधीशों की शक्तियां लगभग उतनी बडी नही थी जितनी कि वे संयुक्तराज्य और आस्ट्रेलिया में है, क्योंकि उस संविधान के अनुसार संघीय विधि राज्यीय विधि की उपेक्षा करती थी; परन्तु जहां यह प्रश्न उटता था कि क्या कोई राज्यीय विधि संघीय विधि से असंगत थी, वहां संघीय न्यायपालिका के समक्ष अपील आवश्यक होती थी। स्विट्जरलैंड में व्याख्या करने की ऐसी कोई शक्ति विद्यमान नही है, और स्विट्जरलैंड अपनी न्यायपालिका की इस निर्बलता के कारण ही संघराज्यो में अनुपम है।

नमनीय संविधानो के विषय में हम यह बता चुके हैं कि उनके अधीन विधायिनी शक्ति से ऊपर न्यायपालिका की शक्ति के लिए स्थान नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन और न्यूजीलैंड सदृश राज्यों मे संसद् का कोई भी अधिनियम अ-सांविधानिक नहीं हो सकता। अनमनीय संविधानों वाले एकात्मक राज्यों में, उदाहरणार्थ फ्रांस और बेलजियम में, ऐसे न्यायालय हो सकते हैं, जो विधानमंडल द्वारा संविधान की शर्तों का उल्लंघन किए जाने और संसद् द्वारा संविधान में निर्धारित क्षमता के आगे बढ़ जाने की अवस्था के विधानमंडलों के अधिनियमों की अ-सांविधानिकता पर निर्णय देने की शक्ति रखते हों। उदाहरण के लिए यदि फ्रांसीसी सदन राष्ट्रपति की कार्यवाही में वृद्धि करनेवाली कोई विधि पारित करें, तो यह निश्चय ही संविधान का उल्लंघन होगा। संविधान में तब तक परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक कि संविधान में निर्धारित संशोधन की विशेष प्रक्रिया का अनुसरण न किया जाए। फिर भी सच यह है कि फ्रांस या बेलजियम में ऐसा कोई न्यायालय नहीं है, और न दोनों राज्यों में ही कभी ऐसा हुआ कि किसी न्यायाधीश ने किसी विधि को अ-सांविधानिक घोषित किया हो। डायसी ने न्यायपालिका-शक्ति के इस अभाव को यह कहकर स्पष्ट किया है कि अधिकांश फ्रांसीसी (और बेलजियन) राजनीति-विशारदों ने "शायद यह सोचा हो···कि··· संविधान पर संभव संसदीय आक्रमण, राजनीतिक विवादों में न्यायाधीशों के हस्तक्षेप की अपेक्षा, कम बुरा है।" फिर भी अनेक फ्रांसीसी आलोचकों ने आग्रह किया है कि संसद् की क्षमता को निर्बन्धित करने की शक्ति न्यायपालिका को प्रदान की जानी चाहिए, उसे विधि को अ-सांविधानिक घोषित करने का अन्तिम अधिकार होना चाहिए; यह वही शक्ति है जो उदाहरण के लिए नॉरवे में सन् १९०४ में, रूमानिया में सन् १९१२ में, और सन् १९४७ के गणतंत्रीय संविधान के अधीन इटली में न्यायपालिका को प्रदान की गई थी।

उपर्युक्त बातों का निष्कर्ष स्पष्ट है। वह यह है कि (अ) समस्त सांविधानिक राज्यों में न्यायिक निकाय की हैसियत ऐसी है कि वह बेतुके और मनमाने हस्तक्षेप से मुक्त होता है और उसकी अवधि सुरक्षित रहती है जिससे कि वह अपने विवेक के विरुद्ध कार्य करने की

आशंका के अधीन नहीं रहता; (आ) संघीय राज्यों के सिवाय अधिकांश राज्यों में सरकार का न्यायिक विभाग विधान विभाग के द्वारा पारित विधियों के आरोपित करने को बाध्य होता है; और (इ) अधिकांश संघीय राज्यों में उसे या तो संघीय विधानमंडलों द्वारा पारित किसी विधि को, जिसे वह उसकी सांविधानिक क्षमता के परे समझता है, आरोपित करने में इनकार करने की, अथवा, उन मामलों में जहां संघीय और राज्य के विधानमंडलों में विरोध हो जाता है, निर्णय करने की शक्ति होती है। न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच का संबंध ऐसी सरलता से व्यक्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि अब हम देखेंगे।

३. विधि का शासन

पिछले एक अध्याय में हम बता चुके है कि आंग्ल-सेक्सन---यूनाइटेड किंगडम, ब्रिटिश स्व-शासी डॉमिनियन, तथा संयुक्त राज्य---कहलानेवाले राज्यों के नागरिक जिन कानूनी सुरक्षाओं का उपभोग करते है, उनमें से एक 'विधि के शासन' का सिद्धांत है। महाविशेषज्ञ डायसी ने कहा है कि इससे हमारा तात्पर्य "केवल यही नहीं है कि हममें कोई भी व्यक्ति विधि से ऊपर नहीं है, परन्तु यह भी है (जो कि एक भिन्न बात है) कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका पद या उसकी अवस्था कुछ भी हो, राज्य की साधारण विधि के अधीन है और साधारण न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है।" यह वास्तव में ऐसा अधिकार नहीं है जो सामान्य रूप में समस्त आधुनिक सांविधानिक राज्यों के नागरिकों को प्राप्त हो, जैसा कि हम इस तथा अगले खंड में बताएंगे। हमने इस अधिकार का लाभ उठानेवाले राज्यों तथा शेष राज्यों में पहली प्रकार के राज्यों को 'सामान्य विधि राज्य' और दूसरे प्रकार के राज्यों को 'विशेषाधिकारयुक्त राज्य' कहकर भेद किया है। इन दोनों प्रकार के राज्यों के परीक्षण में हम ब्रिटेन को प्रथम प्रकार के और फ्रांस को द्वितीय प्रकार के उदाहरण के रूप में लेते हैं।

विधि का शासन ब्रिटिश संविधान के मूल में स्थित है, यह इस कारण नहीं कि संविधान द्वारा इसकी गारंटी दी गई है (जैसे कि प्रायः अधिकार दस्तावेजों में सुनिश्चित किए जाते हैं); बल्कि इस कारण कि संविधान का क्रमिक विकास इसकी अविरल मान्यता के आधार पर हुआ है। जैसा कि डायसी का कथन है, "वे नियम जो कि अन्य राज्यों में स्वाभाविकतः सांविधानिक संहिताओं के अंग होते है, अंगरेजी भाषाभाषी राज्यों में व्यक्तियों के न्यायालयो द्वारा परिभाषित और प्रवर्त्तित अधिकारों के स्रोत न होकर उनके परिणाम होते है।" अतः, विधि का शासन न्यायपालिका को कार्यपालिका की ओर से केवल हस्तक्षेप से ही स्वतंत्र नहीं रखता बल्कि उसके व्यक्तिगत सदस्यों के सम्बन्ध में उसे निश्चित वरिष्ठता प्रदान करता है; क्योंकि "प्रधान मंत्री से लेकर पुलिस के सिपाही तक अथवा करों के संग्राहक (कलेक्टर) तक प्रत्येक अधिकारी वैध औचित्य के बिना किए गए प्रत्येक कार्य के लिए उसी भांति उत्तरदायी हैं जैसे कि कोई भी अन्य नागरिक।" इंगलैंड में कर्मचारियों को बराबर

न्यायालय के सामने लाया जाता है और उन्हें अपनी वैध हैसियत में, परन्तु वैध सत्ता की सीमा से बाहर, किए गए कार्यों के लिए दंड दिया जाता है अथवा उनसे हरजाना लिया जाता है। यह बात अत्यन्त प्राचीन काल से अंगरेजों के अधिकारों में उपलक्षित थी। महाधिकार-पत्र (मेग्ना-कार्टा) (सन् १२१५) में यह बात मोटे तौर से मौजूद है; अधिकार-याचिका (पिटीशन ऑफ राइट्स) (सन् १६२८) में और बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (हेबियस कॉर्पस एक्ट) (सन् १६७९) में यह बात और भी अधिक स्पष्ट है। इसको बारबार प्रतिपादित करने का कारण यह था कि पूर्वकाल मे राजा ने हमेशा सामान्य विधि के प्रतिकूल—अर्थात् न्यायाधीशों के निर्णयों के विपरीत—एक कार्यपालीय विशेषाधिकार को हस्तगत करने अथवा न्यायाधीशों के कार्यकाल को अपनी इच्छा पर अवलम्बित करने का प्रयत्न किया था। ट्यूडर काल में यह विशेषाधिकार, जिसका कि राजा समय-समय पर दावा करता रहा, राजा के हाथों में रहने दिया गया; परन्तु स्टुअर्ट राजाओं के उसके दुरुपयोगों के विरोध में संसद् अपने परम्परागत अधिकारों की रक्षा में आवाज बुलन्द करने लगी। जॉर्ज तृतीय ने राजा के विशेषाधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए अन्तिम प्रयत्न किए, परन्तु फिर भी विधि के शासन की स्थापना असंदिग्ध रूप से हो गई जब कि सन् १७६३ में जॉन विल्क्स ने, जिसने कि अपने पत्र **'दि नॉर्थ ब्रिटेन'** में राजा के भाषण की आलोचना की थी, सामान्य वारण्ट पर अपने दोषपूर्ण बन्दीकरण के कारण गृहमंत्री से हरजाने के रूप में १,००० पौंड प्राप्त किए। इस मामले में, एक सामान्य नागरिक को सरकारी कर्मचारी की ओर से किए गए मनमाने कार्य के खिलाफ़ रक्षण ही प्राप्त नहीं हुआ बल्कि उस सरकारी कर्मचारी ने साधारण विधि की प्रक्रियाओं के विरुद्ध अपने को पूर्णरूपेण अरक्षित पाया, वह विशुद्ध रूप से अपनी शासकीय हैसियत में या राज्य के हित में कार्य करता हुआ भले ही समझा गया हो। अतएव, उन राज्यों में, जिनमें विधि का शासन है, ऐसे मामलों में जो सामान्य विधि, संसद् द्वारा निर्मित विधि और (अनमनीय संविधानों के अधीन जो इसे एक विभिन्न शाखा बना देते हैं) सांविधानिक विधि के अधीन पैदा हों, वैयक्तिक अधिकारों के अन्तिम संरक्षक न्यायाधीश ही होते हैं। कोई भी ऐसी बात, जिसे स्वयं कार्यपालिका कर सकती है, राजकीय कर्मचारियों द्वारा विधि के उल्लंघन के प्रति न्यायालयों के रुख को प्रभावित नही कर सकती। यह सत्य है कि किसी भी क्षण कतिपय अधिकार, जो तब विद्यमान हो, संसद् के अधिनियम द्वारा निराकृत हो सकते हैं (ऐसा अधिनियम कार्यपालिका की प्रेरणा से ही पारित हो सकता है और सम्भवतया होता है), और तब इस प्रकार निर्मित विधि का प्रवर्त्तन करना न्यायाधीशों का कर्त्तव्य होगा। यह भी हो सकता है कि ऐसी विधि कतिपय मामलों में कार्यपालिका के कार्यों पर नियंत्रण रखने की शक्ति से न्यायाधीशों को वंचित कर दे। परन्तु असली बात यह है कि ऐसी विधि के पारित होने के पश्चात् ही, और तब भी केवल विधि में बताए गए कार्यों के विशिष्ट वर्ग के संबंध में ही, न्यायपालिका की स्वतंत्रता कम हो सकती है। विधि के शासन के ऐसे रूपान्तरों के विषय में हम इस अध्याय के अन्तिम खंड में विचार करेंगे।

जैसा कि हम प्रकट कर चुके हैं, विधि का शासन अकेले ब्रिटेन में ही नहीं बल्कि स्व-शासी डॉमिनियनों और संयुक्तराज्य के अतिरिक्त बेलजियम में तथा कम-से-कम कागजी रूप में तो लैटिन-अमरीका के अधिकांश राज्यों में भी विद्यमान है। इन समस्त राज्यों में विधि का शासन संविधान के अन्तर्गत है, यद्यपि उन सबके बीच में महान्तम अन्तर है क्योंकि उनमें से कुछ एकात्मक और कुछ संघीय राज्य है; उनमें सबमें अनमनीय संविधान नही हैं और उनमें से कुछ में संसदीय और शेष में अ-संसदीय कार्यपालिकाएं हैं। आंग्ल-सेक्सन राज्यों में विधि का शासन इस कारण है कि उनका मूल स्रोत एक ही अर्थात् इंगलैंड है। बेलजियम में इसका विद्यमान होना इस संबंध में यूरोप के महाद्वीप में अनुपम बात है, और इसका कारण यह है कि उसकी स्वतंत्र सत्ता की, जो कि अंतिम रूप से सन् १८३९ में प्राप्त की गई थी, स्थापना के संकटमय काल में उस पर इंगलैंड का बड़ा प्रभाव रहा। लैटिन-अमरीकी राज्यों में इसके अस्तित्व का कारण यह है कि इन राज्यों ने उन लैटिन राज्यों की, जिनसे उनका उद्गम हुआ, परम्पराओं को जीवित रखने की अपेक्षा संयुक्तराज्य का अनुकरण किया। समस्त अन्य राज्यों में विधि के शासन के अस्तित्व का कारण स्पष्ट है। भूमंडल के विभिन्न भागों में बसने के लिए जानेवाले मूल अंगरेज अपने साथ आंग्ल सामान्य विधि की परम्परा को भी ले गए, और यह तथ्य उनके संविधानों के लेखबद्ध होने से बहुत पहले से ही उनके सामाजिक जीवन का एक अंश था। इस भांति जहां महाद्वीपीय राज्यों ने, जो इस विधि के शासन के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे, अपने संविधानों के द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को प्राप्त किया, वहां इन मूल आंग्ल डॉमिनियनों को अपने इन अधिकारों के संरक्षण की कोई आवश्यकता प्रतीत नही हुई। इस प्रकार इन बाद में उल्लिखित राज्यों में से प्रत्येक में संविधान ने विधि के शासन को प्रभावित नही किया, और यदि किया तो उसे और भी अधिक सशक्त कर दिया है, जैसा कि, उदाहरण के रूप में, संयुक्तराज्य में हुआ जहां संविधान में निश्चयपूर्वक प्रतिपादित किया गया है कि "संविधान के अधीन उत्पन्न होनेवाले विधिसंबंधी तथा न्याय (Equity) संबंधी सभी मामलों में न्यायिक शक्ति लागू होगी।"

अब हम यह परीक्षण करेंगे कि उन राज्यों में जहां विधि का शासन लागू नहीं होता—अर्थात् जिन्हें हमने विशेषाधिकारयुक्त राज्य कहा है—एक विशेष प्रकार की विधि राज्य के कर्मचारियों की उनके शासकीय कर्त्तव्यों के निष्पादन में किस भांति रक्षा करती है।

४. प्रशासनिक विधि

अंगरेजी भाषा में प्रशासनिक विधि (एडमिन्स्ट्रेटिव लॉ) पद का प्रयोग फ्रांसीसी पद *Droit Administratif* के अनुवाद के रूप में होता है। असल में, इस फ्रांसीसी पद का अंगरेजी में यथार्थ अनुवाद नहीं हो सकता है। जैसा कि डायसी ने कहा है, अंगरेजी में इसके सच्चे पर्याय के अभाव का कारण स्वयं इस वस्तु को न मानना ही है। इस विषय में फ्रांसीसी

अधिकारियों की भाषा ऐसे तथ्य का वर्णन करती है जिससे एक अंगरेज बिलकुल ही अनजान है। एक के अनुसार प्रशासनिक विधि नियमों का वह समूह है जो सामान्य नागरिक के प्रति प्रशासकीय प्राधिकारी के संबंधों को विनियमित करता है और राजकीय पदाधिकारियों की स्थिति को तथा राज्य के प्रतिनिधियों के रूप में इन कर्मचारियों के साथ व्यवहारों में सामान्य नागरिकों के अधिकारों तथा दायित्वों को और उस प्रक्रिया को जिसके द्वारा ये अधिकार और दायित्व कार्यान्वित किए जाते हैं, निर्धारित करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि फ्रांस में सार्वजनिक (पब्लिक) तथा निजी (प्रायवेट) विधि में अन्तर है और न्यायपालिका पर विधि के इस विभाजन का प्रभाव यह हुआ है कि सामान्य न्यायालय शासन के कार्यपालीय (या प्रशासकीय) विभाग के कार्यों से उत्पन्न मामलो में कार्यवाही करने के लिए सक्षम नहीं है, चाहे वे मामले राजकीय कर्मचारियों के अधिकारों और दायित्वों के बारे में हों या ऐसे कर्मचारियों के साथ संबंधों के प्रसंग में नागरिक के अधिकारो या दायित्वों के बारे में हों।

इस प्रणाली का प्रभाव "प्रशासन को स्वयं अपने आचरण का स्वच्छंद निर्णायक" बनाना है। यह प्रणाली फ्रांसीसी इतिहास में निहित है। अठारहवीं शताब्दी में राजकीय प्रशासन और न्यायालयों के बीच बार-बार ऐसे विवाद उठते रहे कि क्रांति के समय तक तो अच्छे शासन को हानि पहुंचानेवाले न्यायालयों के हस्तक्षेप को शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा; और शक्तियों के पथक्करण के सिद्धान्त के प्रभाव में क्रांतिकाल के विभिन्न संविधानों ने कार्यपालिका और न्यायपालिका के कृत्यों को बिलकुल पृथक् कर दिया तथा न्यायालयों को ऐसा कोई भी कार्य करने का निषेध कर दिया जो कि कार्यपालिका के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता था। नेपोलियन ने इस अन्तर को कायम रखा और कुछ परिवर्तन के साथ यह आज भी विद्यमान है।

इस भांति फ्रांस में न्यायालय के दो विभिन्न रूप उत्पन्न हो गए : न्यायिक न्यायालय और प्रशासनिक न्यायालय। पहले प्रकार के न्यायालय के सामने आपराधिक मामले तथा निजी विधि के मामले अर्थात् नागरिकों के बीच के मामले आते थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय के सामने सार्वजनिक विधि के मामले अर्थात् शासन और उसके कर्मचारियों के बीच या सामान्य नागरिक और सरकारी कर्मचारियों के बीच के मामले आते थे। इससे प्रकट होता है कि सामान्य नागरिक को राजकीय कर्मचारी के मुकाबले में संरक्षण प्राप्त नहीं था। किन्तु फ्रांस की इस प्रारंभिक स्थिति में कुछ परिवर्तन हो गए हैं, और इस विषय पर लॉवेल के इस कथन को कि "सरकार सर्वदा स्वतंत्र है और यदि वह चाहे तो साधारण न्यायालयों के किसी प्रकार के डर के बिना विधि का अतिक्रमण कर सकती है" पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया जा सकता। सन् १८७२ में फ्रांस में एक स्वतंत्र विवाद न्यायालय (Conflict Court) स्थापित किया गया, जो संदेहास्पद मामलों में यह तय करता था कि कोई मामला न्यायिक विभाग के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है या प्रशासनिक

विभाग के; ताकि न तो न्यायिक न्यायालय स्वयं अपनी सत्ता से प्रशासन का अतिक्रमण कर सके और न प्रशासनिक न्यायालय ही न्यायिक न्यायालयों को अपनी दया पर अवलम्बित रख सकें। निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए विवाद न्यायालय में नौ सदस्य रखे गए, जिनमें से तीन का चुनाव उच्चतम न्यायिक न्यायालय (Court of Cassation) द्वारा, तीन का उच्चतम प्रशासकीय न्यायालय (Council of State) द्वारा होता था; और ये छह मिलकर अन्य दो को चुनते थे, और नवां सदस्य स्वयं न्यायमंत्री होता था (जो कि मंत्रिमंडल का सदस्य था) और जो अध्यक्ष के रूप में कार्य करता था। ये आठ सदस्य तीन साल तक अपने पद पर रहते थे, परन्तु पुनः चुने जाने के योग्य थे और साधारणतया दुबारा चुन भी लिये जाते थे। न्यायमंत्री की अवधि, निःसंदेह, उस मंत्रिमंडल की ही अवधि होती थी जिसमें वह मंत्री होता था।

प्रशासनिक विधि की यह प्रणाली, जैसा कि हम कह चुके हैं, यूरोप महाद्वीप के अधिकांश राज्यों में अंगीकृत की जा चुकी है और उनकी न्यायपालिकाएं इस संबंध में न्यूनाधिक रूप में फ्रांसीसी नमूने के ही सदृश हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी में उन पृथक् राज्यों में से प्रत्येक में जिन्होंने मिलकर साम्राज्य का निर्माण किया था, सरकारी सेवकों की रक्षा के लिए प्रशासकीय विधि पहले से ही मौजूद थी और सन् १८७१ के साम्राज्यिक संविधान के अधीन तत्कालीन उच्चसदन को ही साम्राज्य की मुख्य प्रशासकीय परिषद् बनाया गया था। वेमर गणतंत्र के संविधान के अधीन भी प्रशासनिक और न्यायिक न्यायालयों के बीच का अन्तर कायम रखा गया। स्विट्जरलैंड में भी यह अन्तर किया गया है, परन्तु वहां न्यायपालिका, विधानमंडल और कार्यपालिका के, पूर्णतया अधीनस्थ है और प्रशासकीय क्षेत्राधिकार संघीय परिषद् (कार्यपालिका) के ही हाथ में है जिसके विरुद्ध अपील संघीय सभा (विधानमंडल) के समक्ष होती है। इटली में भी प्रशासकीय और न्यायिक न्यायालयों में परम्परागत रूप में भेद किया गया है, परन्तु वहां यह भेद ऐसा तीव्र नहीं है जैसा फ्रांस में है।

५. दोनों प्रणालियों के अधीन न्यायपालिकाओं की तुलना

यदि हम इन दोनों कानूनी प्रणालियों का, जैसा कि वे थीं और जैसी आज हैं, सूक्ष्म परीक्षण करें तो हमें उनकी ऊपरी विभिन्नताओं के साथ ही उनकी कुछ मौलिक समानताओं पर भी उतना ही आश्चर्य होगा। समय के प्रवाह और सांविधानिक नियंत्रणों के विकास के कारण सांविधानिक राज्यों के प्रशासनिक न्यायालय, विशेषकर फ्रांस में, अपनी पूर्व की निरंकुशता का अधिकांश खो चुके हैं। उदाहरणार्थ, नेपोलियन के अधीन प्रशासकीय मामलों में निर्णय करने के लिए राज्य-परिषद् की शक्तियां लगभग निरंकुश-सी ही थीं, और सन १८३० और १८४८ की लोकतंत्रीय प्रवृत्ति वाली क्रांतियों के होते हुए भी कार्यपालिका को विधि की साधारण प्रक्रियाओं से प्राप्त उन्मुक्ति लगभग अछूती ही रही। परन्तु, द्वितीय

साम्राज्य (सन् १८५२-७१) के पतन के पश्चात् और तृतीय गणतंत्र के अस्तित्व के दौरान में बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ। जैसा कि हम बता चुके हैं, विवाद न्यायालय में साधारण न्यायिक निकाय और प्रशासनिक न्यायपालिका का समान रूप में प्रतिनिधित्व था; हालांकि इस बात से कि उसका अध्यक्ष तत्कालीन शासन का एक सदस्य होता था कार्यपालिका के हितों की रक्षा सुनिश्चित हो गई। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस प्रणाली का भी पुनरुद्धार हुआ और ३१ जुलाई सन् १९४५ की एक विशेष आज्ञप्ति द्वारा उसका दृढ़ीकरण हुआ तथा राज्य-परिषद् का पुनर्गठन भी हुआ।

आंग्ल प्रणाली को भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दियों में प्रचलित विचार ऐसे नही थे जो कि विधि की प्रशासनिक प्रणाली से मिलती-जुलती प्रणाली की स्थापना के बिलकुल ही विरुद्ध हों। ट्यूडर और स्टुअर्ट शासकों को उन व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त था जो यह प्रतिपादित करने को तैयार थे कि प्रशासन को विवेक की शक्ति प्राप्त है जिसपर किसी भी न्यायालय का नियंत्रण नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप, स्टार चेम्बर, कौंसिल ऑफ दि नॉर्थ, कोर्ट ऑफ हाई कमीशन जैसे न्यायालय समस्त आशयों और प्रयोजनों के लिए प्रशासनिक न्यायालय ही थे, जो पूर्णतया कार्यपालिका के हाथों में थे और उन दिनों कार्यपालिका वास्तव में राजा ही था। सर फ्रांसिस बेकन जैसे विधिविशेषज्ञ, यदि उन्हें अपनी नीति का अनुसरण करने दिया जाता तो, साधारण विधि से भिन्न प्रशासनिक विधि की इंगलैंड में स्थापना करने में सफल हो जाते। परन्तु उनका उद्देश्य गृहयुद्ध में स्टुअर्टों की पराजय से और विधि के समक्ष समता के सिद्धान्त के प्रति परम्परागत निष्ठा की विजय के फलस्वरूप, जिसकी पुष्टि सन् १६८८ की क्रांति से उत्पन्न वैध व्यवस्थापनों द्वारा हुई, असफल हो गया।

हम यह पहले बता चुके हैं कि राष्ट्रीय बीमा जैसी नई सामाजिक सेवाओं को स्थापित करनेवाले समष्टिवादी विधायन की प्रगति से ब्रिटेन में शासन की कार्यपालिका-शाखा को नई शक्ति प्राप्त हो रही है। आधुनिक लोकतंत्र में ऐसा होना अनिवार्य ही है। ब्रिटेन और संयुक्तराज्य जैसे महान् औद्योगिक समाजों के विधानमंडल, जिनके ऊपर सामाजिक विधिनिर्माण का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भार आरोपित है, ऐसी विधियों का निर्माण नहीं कर सकते जिनमें ब्यौरे की सभी बातें आ जाएं और जिनमें उनके प्रवर्त्तन के दौरान में उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक सम्भव आकस्मिकता का सामना करने के लिए व्यवस्था हो। इसका परिणाम यह होता है कि "प्रशासकीय सस्थाएं न्यायिक कर्त्तव्यों को स्वयं ग्रहण करने को ही नहीं बल्कि उन्हें ऐसी रीति से निष्पादित करने को भी विवश होते हैं कि न्यायालय उनके पालन का निरीक्षण न कर सकें।" उदाहरणस्वरूप, इंगलैंड में यह निश्चय हो चुका है कि यदि संविधि में कोई विशिष्ट पद्धति नहीं दी गई होती तो इसके निष्पादन से संबद्ध सरकारी विभाग, न्यायालयों के हस्तक्षेप के बिना, जिस प्रक्रिया को वह सर्वोत्तम समझे उसे अंगीकार कर सकता है। अथवा जहां कोई पद्धति निर्धारित होती है,

अधिकार खो बैठता है। प्रशासनिक विधि वाले राज्य के नागरिक को आधुनिक परिस्थितियों के अधीन प्राप्त रक्षण को कम बताना आसान है। किन्तु फ्रांस में राजकीय पदाधिकारी के 'सेवा के दोष' और 'वैयक्तिक दोष' के बीच जो अत्यन्त स्पष्ट भेद किया जाता है वह नागरिक को अत्यधिक शासकीय जोश के बुरे परिणाम से बचाता है, और इसके साथ ही राजकीय पदाधिकारी के लिए भी राज्य के एक कुशल सेवक के रूप में कार्य करने में डरने का अधिक कारण नहीं रहता।

इस भांति यह स्पष्ट है कि सामान्य विधि वाले राज्यों में आधुनिक सामाजिक विधायन के विस्तार के कारण विधि के शासन को शिथिल करना ही होगा। किंतु विभागों के अध्यक्षों को न्यायिक शक्तियां प्रदान करने के लिए बाध्य होने से एक प्रकार की प्रशासनिक विधि की हानियां तो सहन करनी पड़ती हैं; परन्तु क्षतिपूर्ति के रूप में इस विधि तथा न्यायिक विधि के बीच के मान्य अन्तर के लाभों का उपभोग नहीं किया जा सकता। अतः, ब्रिटेन में प्रशासनिक प्रवृत्ति के आलोचकों द्वारा सुधार के दो मार्ग सुझाए गए हैं। पहला सुझाव यह है कि प्रशासनिक न्यायालयों को, जहां कहीं भी उनका होना आवश्यक हो, पूर्णरूप से न्यायिक बना देना चाहिए और उन्हें हर प्रकार से कार्यपालिका से स्वतंत्र कर देना चाहिए अर्थात् ऐसे प्रयोजनों के लिए इस भांति के विशेष न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए जिनके न्यायाधीश संबंधित विषय के विशेषज्ञ हों। दूसरा सुझाव यह है कि कुछ मामलों में प्रशासनिक न्यायालयों या मंत्री के निर्णय की न्यायिक न्यायालय के समक्ष अपील की व्यवस्था होनी चाहिए। इस भांति वैयक्तिक स्वाधीनता के लिए उपस्थित खतरे को, जो विधि के शासन की इन आधुनिक परिसीमाओं में छिपा रहता है, कम किया जा सकता है।

अतः, निष्कर्ष यह हुआ कि विधिसंबंधी दृष्टिकोण और ऐतिहासिक विकास में भेद होते हुए भी, सांविधानिक राज्यों में आजकल न्यायिक विभाग के माध्यम से नागरिकों को प्राप्त सर्वोच्च अधिकारों के संबंध में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। सभी सांविधानिक राज्य न्यायाधीश को दलबन्दी की भावना के उतार-चढ़ाव से परे रखकर और अपराध या भ्रष्टाचार की अवस्था में उसके हटाए जाने को असम्भव बनाए बिना उसकी पदावधि सुरक्षित करते हुए उसकी निष्पक्षता सुनिश्चित कर लेते हैं। सामान्य विधि पर आधारित विधि-प्रणालियों वाले राज्यों में विधि का शासन कार्यपालिका को अन्य समस्त निकायों की बराबरी में रखता है तथा उसे उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाता है और कार्यपालीय कृत्यों की सफाई में राज्य के हित की बात स्वीकार नहीं करता। विशेषाधिकार वाले राज्यों में, जहां प्रशासनिक विधि होती है, राजकीय कर्मचारी को प्रशासनिक न्यायालय के सामने उत्तरदायी ठहराकर कार्यपालिका को कुछ सीमा तक साधारण न्याय की प्रक्रियाओं से ऊपर स्थान दिया जाता है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियों में समष्टिवादी विधायन की आवश्यकताओं के कारण विधि के शासन की प्रणाली को कुछ हानि उठानी पड़ती है; क्योंकि

इस तरह के विधायन के अन्तर्गत पदाधिकारियों को कुछ ऐसी निरपेक्ष शक्तिया प्राप्त होती है जो व्यवहार में सरकारी विभाग के अध्यक्षों को विधि के परे कर देती हैं, हालांकि यह बात वहीं तक लागू होती है जहां तक कि संबंधित विधि उसकी इजाजत देती है। दूसरी ओर, विशेषाधिकार वाले राज्यों में, यद्यपि एक विशेष प्रक्रिया राजकीय पदाधिकारी का रक्षण करती है, परन्तु वह निर्बन्धनो से इतनी जकड़ दी गई है कि साधारण नागरिक को उसके संबंध में जरा भी शिकायत नही रहती है।

सामान्यतया, हम यह कह सकते हैं कि सामान्य विधि वाले राज्यों में उन राज्यों की अपेक्षा जहां विधि संहिताबद्ध होती है और जहां प्रशासनिक विधि होती है, विधिवाद (Legalism) का अधिक वातावरण रहता है। इसका कारण यह है कि सामान्य विधि वाले राज्यों में न्यायाधीश विधि का निर्माण कर सकते हैं, जब कि प्रशासनिक विधि वाले राज्यों में संहिता इस विषय मे न्यायाधीशों पर प्रतिबन्ध लगाती है और प्रशासनिक न्यायालयों में, जहां न्यायाधीश कार्यपालिका के निर्देशन के अधीन वास्तव में विधि बनाते हैं, निर्णय के लिए एक विस्तृत क्षेत्र छोड़ देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विशेषाधिकार वाले राज्यों में एक प्रकार का न्यायिक विधायन होता रहता है और उसे संहिताबद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र (अर्थात् पूर्वदृष्टांत के आधार पर विधि) सामान्य विधि वाले राज्यों का विशिष्ट लक्षण है और राजनीतिक निर्णयों का (जो न्यायिक निर्णयों से भिन्न होते हैं) विशेषाधिकार वाले राज्यों में अधिक विस्तृत क्षेत्र है। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है कि न्यायाधीशों और राजनीतिज्ञों में कौन लोकतंत्रीय अधिकारों का अच्छा रक्षक है। परन्तु अब यह प्रश्न केवल सैद्धान्तिक ही रह गया है क्योंकि आज के समस्त लोकतंत्रीय सांविधानिक राज्यों में विधानमंडल को बाध्य करके या उसे परिवर्तित करके या सांविधानिक संशोधन कराने के अपने अधिकार द्वारा या लोकमत-निर्देशन के द्वारा परिवर्तन कर सकने की अपनी क्षमता द्वारा इन निर्णयों को बदलने की अंतिम शक्ति जनता के ही हाथों में होती है।

प्रश्न

१. "शक्तियों के पृथक्करण का तात्पर्य शक्तियों का समान सन्तुलन नहीं है।" शासन के न्यायिक विभाग की अन्य दो विभागों से तुलना करते हुए उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

२. यह नियम क्यों अच्छा समझा जाता है कि न्यायाधीश अपने पद पर तब तक रह सकते हैं जब तक कि वे 'सदाचारी' रहते हैं?

३. "न्यायाधीश विधि-निर्माण करते हैं और उन्हें वैसा करना ही चाहिए।" यह उक्ति आंग्ल-सेक्सन राज्यों पर कहां तक लागू होती है?

४. सामान्य एकात्मक राज्य और सामान्य संघीय राज्य की न्यायपालिकाओं की शक्तियों की तुलना कीजिए।

५. 'विधि के शासन' का क्या अर्थ है ? ब्रिटेन, स्व-शासी डॉमिनियनों और संयुक्तराज्य अमरीका में इसके प्रवर्त्तन पर प्रकाश डालिए।

६. "संविधान के अधीन उत्पन्न होनेवाले सभी विधि तथा न्याय संबंधी मामलों में न्यायिक शक्ति लागू होगी।" अमरीकी संविधान के इन शब्दों का क्या महत्त्व है ?

७. 'प्रशासनिक विधि' पद की परिभाषा कीजिए और उसके प्रवर्त्तन पर प्रकाश डालिए।

८. क्या कारण है कि ब्रिटेन में प्रशासनिक विधि को लागू करने के प्रयत्न सदा असफल रहे जब कि फ्रांस में यह प्रणाली अब भी विद्यमान है ?

९. आधुनिक सामाजिक विधायन की आवश्यकता के कारण आंग्ल-सेक्सन विधि-प्रणाली में प्रशासनिक विधि के तत्त्वों के समाविष्ट होने की सम्भावना किस प्रकार पैदा हो रही है ?

१०. 'विधि के शासन' और 'प्रशासनिक विधि' के गुण-दोषों की तुलना कीजिए।

तृतीय खण्ड

कुछ अन्य विषय

अध्याय १३

प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक नियंत्रण

१. जनमत तथा अल्पसंख्यकों की समस्या

पुस्तक के इस भाग में हमारा मुख्य विषय संयुक्तराष्ट्रसंघ की समीक्षा है, जिसके बिना आजकल सांविधानिक राजनीति का कोई भी अध्ययन पूर्ण नही कहा जा सकता। चूंकि ऐसी समीक्षा आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं के विश्लेषण का स्वाभाविक परिणाम है, अतः हमें पहले किन्हीं ऐसी विषयों की चर्चा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जो उन विषयों के, जिन पर अभी तक विचार किया गया है, अन्तर्गत तो नहीं हैं, पर उनसे ही उत्पन्न होते हैं। इससे दुहरे प्रयोजन की सिद्धि होगी, अर्थात् विद्यमान राज्यों के यंत्र के तुलनात्मक अध्ययन की पूर्ति, और विषय की कठिनाइयों को भली भांति समझते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन की समस्या को समझने में आसानी। तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थी के लिए महत्त्वपूर्ण विषयों में प्रथम, प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक नियंत्रण अर्थात् जनमत-निर्णय, लोक-निर्देशन, लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान; द्वितीय, अ-यूरोपीय समुदायों के सांविधानिक प्रयोग; और तृतीय राजनीतिक लोकतंत्र से संबंधित आर्थिक लोकतंत्र हैं। इन तीनों से हमारे विषय के पहले के एक या अधिक विभागों का विस्तार होता है और इनमें से हर एक का हम एक-एक अध्याय में विवेचन करेंगे।

उपर्युक्त चारों प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक नियंत्रण इस अर्थ में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं कि वे मतदातावर्ग को उनके कल्याण के लिए प्रस्तावित उपायों का अनुमोदन करने या उन्हें अस्वीकृत करने की, विधायन का सूत्रपात करने की और असंतोषजनक प्रतिनिधियों को हटाने की शक्ति प्रदान करके अपने राजनीतिक भविष्य का प्रत्यक्ष नियंत्रण उन्हें ही देने के निमित्त बनाए गए हैं। अतः, इनके विकास को अतिलोकतंत्रात्मक विकास कहा जा सकता है। हालांकि ये कुछ अंश तक सामान्य संसदीय पद्धतियों से, जिनकी कि हमने अभी तक चर्चा की है, कुछ आगे बढ़े हुए हैं, फिर भी वे निश्चय ही सांविधानिक योजनाएं हैं, अतः उनका यहां भी अपना एक स्थान है। 'जनमत-निर्णय' तथा 'लोक-निर्देशन' का अर्थ तो समान ही है, किन्तु इनसे कुछ ऐसे तरीकों के प्रति निर्देश किया जाता है जिनके प्रयोजन कुछ भिन्न होते हैं। अनमनीय संविधानों के संशोधन के संबंध में लोक-निर्देशन के बारे में हम अध्याय ७ में कुछ कह चुके हैं। साधारण विधायन के प्रसंग में हम इसकी चर्चा अगले खंड में करेंगे। यहाँ हम केवल जनमत-निर्णय पर ही, विशेषकर अल्पसंख्यकों की समस्या से संबंधित प्रसंग में, विचार करेंगे।

'जनमत-निर्णय' का शाब्दिक अर्थ जनता की आज्ञप्ति है। यह राजनीतिक महत्त्व के किसी विषय पर प्रत्यक्ष रूप से जनता का मत प्राप्त करने का एक साधन है, परन्तु मुख्यतया इसका उद्देश्य न्यूनाधिक रूप में स्थायी राजनीतिक परिस्थिति पैदा करना है। नेपोलियन बोनापार्ट ने सत्तारोहण की विभिन्न मंजिलों में, उस समय विद्यमान शासनतंत्र की अवज्ञा करने के साधन के रूप में इसका स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया था। इस भांति सन् १७९९ में बलपूर्वक डाइरेक्टरी का तख्ता पलटकर उसने एक संविधान की रचना करके अपने को तीन कांसुलों में से एक के पद पर प्रतिष्ठित कर लिया और उसे सम्पूर्ण जनता के मतदान के लिए प्रस्तुत किया, जिसने विशाल बहुमत के द्वारा उसे स्वीकार किया। पुनः सन् १८०२ में, जब कि वह आजीवन कांसुल बन गया और सन १८०४ में जब कि उसने अपने को सम्राट् बना लिया, उसने इन परिवर्तनों का अनुमोदन करने के लिए जनता से अपील की। उसके भतीजे नेपोलियन तृतीय ने भी अपने उत्थान के लिए इसी युक्ति का प्रयोग किया। उसने उसी प्रकार क्रमवार जनमतों द्वारा सन् १८४८ में द्वितीय गणतंत्र के राष्ट्रपति के रूप में अपना निर्वाचन कराया, उसके पश्चात् सन १८५१ के बलात् सत्तापहरण का जनता द्वारा अनुमोदन कराया जिससे गणतंत्र समाप्त हो गया और, अंत में, आगामी वर्ष में द्वितीय साम्राज्य का अनुमोदन प्राप्त कर लिया।

ऐसे जनमत का दुर्गुण यह है कि यह केवल देखने में ही लोकतंत्रात्मक है, क्योंकि, एक बार मत दिए जाने पर, जनता को प्रतिकार के किन्हीं भी साधनों से रहित होकर समस्त परिणामों को भुगतना पड़ता है। फ्रांस में द्वितीय साम्राज्य के दुःखद परिणामों को देखते हुए, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वहां फ्रांसीसी-जर्मन युद्ध के पश्चात् 'जनमत' पूर्ण-रूपेण बदनाम हो गया, और सन् १८७५ के तृतीय गणतंत्र के संविधान-निर्माताओं को इसके दुरुपयोग से राज्य की रक्षा करने की चिंता हुई और इसलिए उन्होंने कार्यपालिका को संसदीय नियंत्रण के अधीन कर दिया; परन्तु जनमतीय कार्यपालिका की कल्पना को उसके पश्चात् भी कुछ लोगों का समर्थन मिलता रहा है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् १८८६ का राजनीतिक संकट जनरल बूलांजे और उसके अनुयायियों के राष्ट्रपति को संसद् की शृंखलाओं से मुक्त करने के प्रयत्न का परिणाम था और आज भी चतुर्थ गणतंत्र के संविधान को, जो इस सिद्धान्त को मानता है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन सदनों द्वारा हो और वह प्रधान मंत्री तथा मंत्रिमंडल के द्वारा राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी हो, उन लोगों के विरुद्ध जो यह चाहते हैं कि राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित किया जाए और उसे वास्तविक कार्यपालिका-शक्तियां प्रदान की जाएं, अपने को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है।

जनमत का यही दुरुपयोग, जो दोनों नेपोलियनों की चालों में स्पष्ट दिखाई देता था, जर्मनी में हिटलर के सत्तारोहण के प्रयत्नों में भी दिखाई देता है, क्योंकि हिटलर ने अपने राजनीतिक कार्यों के लिए बाद में जनता की अनुमति प्राप्त करने के लिए ऐसे जनमतों का

कई बार आयोजन किया। प्रथम जनमत नवम्बर सन् १९३३ में हुआ, जिसमें जर्मनी द्वारा राष्ट्रमंघ (लीग ऑफ नेशन्स) और निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को छोड़ देने के कार्य के लिए जनता का अनुमोदन प्राप्त किया गया। द्वितीय जनमत अगस्त सन् १९३४ में हुआ, जिसमें हिंडनबर्ग की मृत्यु के उपरांत चांसलर और राष्ट्रपति दोनों के पदों को फ्यूरेर में समाविष्ट कर लेने के हिटलर के कार्य का अनुमोदन करने की जनता से मांग की गई। इन दोनों अवसरों पर ९० प्रतिशत से भी अधिक मत हिटलर के पक्ष में प्राप्त हुए। इन जनमतों के परिणामों के आधार पर ही नाजियों ने यह दावा किया कि हिटलर की विजय बलपूर्वक शक्ति हथियाने से नहीं हुई बल्कि जनता के वैध मत के परिणामस्वरूप हुई। और इससे इनकार भी नही किया जा सकता कि इसके द्वारा जर्मनों ने नाजी निरंकुशतंत्र को वैध रूप प्रदान कर दिया और चार वर्ष के बाद जब, सन् १९३८ में, जर्मनों और आस्ट्रियनों ने ९९ प्रतिशत से भी अधिक मत के द्वारा आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ संयोजन का अनुमोदन किया, तब भी इस तर्क में कोई दुर्बलता नही आई। संयुक्तराज्य में भी आज-कल राष्ट्रपति-प्रणाली सिद्धान्त रूप में तो नहीं किन्तु व्यवहार में कुछ हद तक जनमतीय है, किन्तु इसमें एक बहुत बड़ा अन्तर है। अमरीकी राष्ट्रपति का निर्वाचन, फ्रांस और जर्मनी के जनमतों से, जिनका कि हम उल्लेख कर चुके हैं, भिन्न है। यह सच है कि अमरीका में भी उसके द्वारा एक वास्तविक कार्यपालिका की स्थापना होती है, किन्तु केवल कुछ निश्चित अवधि के लिए। अतः, इससे निरन्तर जन-नियंत्रण की पुनरावृत्ति सुनिश्चित हो जाती है और जनता को केवल एक बार के मतदान से स्थापित सत्ता के जुए को सदा के लिए सहन नही करना पड़ता। वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मनी में भी राष्ट्रपति के पद का निर्वाचन इसी भांति होता था, परन्तु वहां, जैसा कि हम देख चुके हैं, राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका न होकर केवल नामधारी कार्यपालक था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यदि लोकतंत्र में वास्तविक कार्यपालिका की स्थापना में इस साधन का उपयोग होना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके साथ ही कार्यपालिका को नियंत्रित करने के वैधानिक साधन भी सुनिश्चित हों।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् भी जनता के उन छोटे-छोटे समूहों के, जो महायुद्ध के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करने पर भी अपनी पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना में असमर्थ थे, राजनीतिक भविष्य को निश्चित करने के लिए जनमत के साधन का अबाध रूप से प्रयोग किया गया था। यह उस आत्मनिर्णय की मांग का तार्किक परिणाम था जो युद्ध-विराम के दिनों में राष्ट्रपति विल्सन के शांति-कार्यक्रम का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग थी। उसके कथनानुसार यदि संयोजन नहीं किया जाना था तो यह अनिवार्य था कि कुछ जन-समूह, जिनके लिए अपने-आपको प्रभुसत्तात्मक राज्यों के रूप में स्थापित करना सम्भव नहीं था, स्वयं इस बात का निर्णय करें कि उन्हें किस राज्य से सम्बद्ध किया जाए। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया जैसे प्रदेशों में स्वतंत्र राज्य स्थापित किए गए। अल्सास,

लोरेन, ट्रेंटीनो तथा ट्रांसिलवेनिया जैसे प्रदेशों में इस बारे में कोई सन्देह नहीं था कि वे किस राज्य में सम्मिलित होना चाहते हैं, क्योंकि बहुत पहले से ही उनका लक्ष्य अपने-अपने राष्ट्रों—फ्रांस, इटली या रूमानिया—में सम्मिलित या पुनः सम्मिलित होना था। परन्तु कुछ अन्य मामलों में प्रश्न इतना सरल नहीं था। श्लेस्विग को, जो कि पहले प्रशा का अंग था, यह निश्चित करना था कि वह उसकी अधीनता में रहना चाहता है या डेनमार्क की अधीनता में। एलेन्स्टीन को, जो कि पहले जर्मन था, पूर्व प्रशा और पोलैंड में से; दक्षिणी साइलेशिया को, जो कि पहले प्रशियन था, जर्मनी और पोलैंड के बीच में से, और क्लेनफुर्ट नामक जिले को आस्ट्रिया तथा युगोस्लाविया के बीच में से किसी एक के पक्ष में निश्चय करना था। इन सबके संबंध में जनमत लिए गए और दक्षिणी साइलेशिया के सिवाय, जिसका विभाजन बाद में पंच-निर्णय के द्वारा जर्मनी और पोलैंड के बीच में किया गया, जनमत-निर्णयों को बड़ी शक्तियों ने मान लिया।

ऐसे जनमत से इस प्रकार की राजनीतिक निष्ठा के तात्कालिक प्रश्नों का समाधान भले ही हो गया हो, परन्तु उससे वास्तव में यूरोप के नए अथवा अभिवर्द्धित राज्यों में अल्प-संख्यकों की समस्या हल नहीं हो सकी। इस संबंध में जनमत ने उसी भांति की कमजोरी दिखाई जैसी कि हम पहले फ्रांसीसी जनमतों के विषय में देख चुके थे। मतदान हो जाने के पश्चात् यह प्रतीत होता था कि जनता को इस भांति की गई व्यवस्था का सदैव के लिए समर्थन करते रहना चाहिए। कूटनीति के द्वारा जनमत का प्रबन्ध भले ही कर लिया जाए, किन्तु इस बात की पक्की व्यवस्था किस प्रकार हो सकती थी कि जिस राज्य में अल्पसंख्यक-वर्ग सम्मिलित हों उसमें उन्हें मूल नागरिकों के साथ अधिकारों की समानता प्राप्त होगी। यह समस्या केवल उन क्षेत्रों में ही उत्पन्न नहीं हुई जहां कि जनमत लिया गया परन्तु उन क्षेत्रों में भी हुई जिनके विषय में, सम्पूर्ण क्षेत्र के संबंध में या उसके किसी भी भाग के संबंध में, कोई विवाद ही नहीं था। उदाहरणार्थ, अल्सास और लॉरेन प्रांतों के फ्रांस में सम्मिलित होने के बारे में कोई सन्देह नहीं था, किन्तु वहां अधिकांश में धार्मिक मतभेदों के कारण यूरोप की एक विषमतम राजनीतिक समस्या पैदा हो गई। ट्रांसिलवेनिया में रूमानियनों की बहुसंख्या थी, परन्तु उसमें रूमानियनों के साथ मेगयार भी आए थे जिनकी संख्या बीस लाख के लगभग थी और उनके अधिकार सुरक्षित करने का प्रश्न पैदा हो गया। यही समस्या अन्य राज्यों में भी उत्पन्न हुई। उदाहरणार्थ, शांति-संधियों द्वारा निर्धारित नई सीमाओं के फलस्वरूप जर्मनों के बड़े-बड़े समूह जर्मनी की सीमाओं के बाहर बिखर गए। चेकोस्लोवाकिया में पैंतीस लाख, पोलैंड में बीस लाख, रूमानिया में पांच लाख, और इटालियन टाइरोल में तीन लाख जर्मन थे। आस्ट्रिया तो स्वयं ही सत्तर लाख के लगभग जर्मन अल्पसंख्यकों का एक पृथक् भाग-सा था, जो जर्मन राज्य में सम्मिलित होने की मांग करता था, परन्तु जिसे शांति-संधियों ने यह अधिकार नहीं दिया था। और भी कई उदाहरण हैं। पोलैंड में बीस लाख तथा रूमानिया में दस लाख

रूसी थे; युगोस्लाविया अल्पसंख्यकों का एक विषम मिश्रण था, क्योंकि उसकी एक करोड़ बीस लाख की आबादी में केवल साठ लाख ही सर्ब थे।

निस्संदेह अल्पसंख्यकों की समस्या प्रथम विश्वयुद्ध के द्वारा छोड़ी गई अत्यन्त विषम राजनीतिक समस्याओं में प्रमुख थी और इसको हल न कर सकने के कारण यूरोप और विश्व को बड़ी हानि उठानी पड़ी। उस समय जनमत ही आत्मनिर्णय का एक आदर्श उपकरण और लोकतंत्र के लिए विश्व को निरापद बनाने का सुनिश्चित साधन प्रतीत होता था। परन्तु वास्तव में उनके परिणामों को ऐसे निरंकुश शासक के आक्रमणों ने विकृत कर दिया जिसने स्वयं इस पद्धति का प्रयोग अपनी निरंकुशता को वैधानिक रूप देने के लिए किया था।

२. लोक-निर्देशन

अध्याय ८ में प्रतिनिधि-सरकार के सामान्य प्रश्न पर चर्चा करते समय हमने कहा था कि स्वयं प्रतिनिधित्व की पद्धति कुछ राज्यों में अपर्याप्त पाई गई और इस पद्धति पर एकमात्र अविश्वास ही ऐसी अनुपूरक योजनाओं को अंगीकार करने का कारण बना, जिनके द्वारा नागरिक विधिनिर्माण के कार्य में प्रतिनिधियों के साथ-साथ स्वयं भी प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकें। इसी लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए तीन अतिलोकतंत्रीय साधनों का विकास हुआ जिन पर हमें अब चर्चा करनी है और जो लोक-निर्देशन, लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान नाम से ज्ञात हैं।

जनमत-निर्णय के साथ ये तीनों केवल इस बात में समान है कि इनमें भी जनता से प्रत्यक्ष परामर्श उपलक्षित है, परन्तु जहां तक पद्धति और प्रयोजन का संबंध है ये उससे बिलकुल विभिन्न हैं; क्योंकि जनमत ऐसा मतदान है जो कि एक बार ऐसे शासन के सृजन के लिए होता है जिसे मतदाताओं को तत्पश्चात् किसी प्रतिकार के बिना स्वीकार करना होता है, किन्तु ये तीनों बार-बार मतदान के द्वारा राजनीतिक यंत्र के ऊपर स्थायी लोक-नियंत्रण स्थापित करने की युक्तियां हैं, क्योंकि लोक-निर्देशन निर्वाचकों को विधानमंडल के कार्यों के विधि के रूप में पारित होने से पूर्व उन पर विचार करने का अधिकार देता है, लोकोपक्रम मतदाताओं को अपने प्रतिनिधियों द्वारा पारित किए जाने के लिए विधान प्रस्तावित करने का अधिकार देता है, और प्रत्याह्वान उन्हें असंतोषजनक प्रतिनिधि को उसके पद की अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही हटा सकने की शक्ति प्रदान करता है।

इस प्रकार इन तीनों प्रत्यक्ष लोकतंत्रीय नियंत्रणों से प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में प्रचलित प्रत्यक्ष या प्राथमिक लोकतंत्र के पुराने स्वरूपों की ओर पुनरावर्त्तन प्रकट होता है। अपने आधुनिक स्वरूप में ये पद्धतियां सैद्धान्तिक रूप से रूसो के दर्शन से प्राप्त होती हैं, जिसकी अविच्छेद्य, अखंड और अभ्रान्त लोक-प्रभुसत्ता सारतः केवल छोटे राज्यों को लागू हो सकती थी जिनमें प्रतिनिधित्व के दुरुपयोग की सम्भावना कम-से-कम होती है, और

स्विट्जरलैंड तथा अमरीकी कॉमनवेल्थ के अल्प जनसंख्या वाले राज्यों जैसे लघु राज्यों में ही प्रधान रूप से ये सिद्धान्त व्यवहार में लाए गए हैं। हालांकि इन पद्धतियों को सामान्यतया अपनाया नहीं गया है, फिर भी उन कतिपय बुराइयों का, जो कि निस्संदेह प्रातिनिधिक लोकतंत्र के व्यवहार में आ जाती हैं, निराकरण करनेवाले साधनों के रूप में इनका व्यापक रूप से समर्थन किया गया है।

अतएव, व्यावहारिक दृष्टि से, प्रातिनिधिक संस्थाओं के संचालन से उत्पन्न असंतोष की तीव्र भावना से ही इन युक्तियों का आविर्भाव हुआ है। पहली बात यह है कि राय की क्रिया अनवरत चलती रहती है, किन्तु मतदान की क्रिया केवल सामयिक होती है, और एक सामान्य निर्वाचन से दूसरे तक के बीच के समय में कई बार राय में परिवर्तन हो सकता है। दूसरे, सामान्य निर्वाचन कब होगा, यह ऐसा विषय है जिसका किसी भी समय निश्चित करना जनता की शक्ति से बाहर है। तीसरे, हो सकता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की जनता की इच्छाओं को या तो निष्कपट भाव से ही गलत समझ ले या जान बूझकर उनके विचारों को मिथ्या रूप में व्यक्त करे। चौथे, आजकल अधिकांश बड़े राज्यों में व्यक्तिगत सदस्य को विधायन का उपक्रम करने या वास्तव में सिवाय तत्कालीन सरकार की नीतियों का समर्थन या विरोध कर सकने के अतिरिक्त कुछ भी करने के लिए बहुत थोड़ा समय या अवसर मिलता है। पांचवें, दलीय गुट्ट या यंत्र सामान्यतया इतना सशक्त होता है कि वह वास्तव में व्यक्तिगत रूप में प्रतिनिधियों की स्वाधीनता को नष्ट कर देता है।

इनमें से कुछ या सभी कठिनाइयां समस्त आधुनिक सांविधानिक राज्यों में वर्त्तमान हैं। बड़े राज्यों में तो वे बिलकुल प्रत्यक्ष हैं, परन्तु इन्हीं में इन कठिनाइयों को दूर करना सबसे कठिन भी है। जहां तक इन कठिनाइयों का अतिक्रमण करने का प्रश्न है, हम कुछ अनमनीय संविधानों के संबंध में लोक-निर्देशन की चर्चा कर चुके हैं जिनके संशोधन के लिए जनता का मत अपेक्षित होता है, जैसा, उदाहरण के लिए, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया, और हाल ही के फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र और इटली के नए गणतंत्र में होता है। कुछ राज्यों में इसका प्रयोग इससे भी आगे बढ़कर अर्थात् मामूली विधायन-कार्य के क्षेत्र में भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैंड में ही, संघीय विधानमंडल द्वारा पारित समस्त विधियों और स्वीकृत प्रस्तावों के लिए लोक-निर्देशन अनिवार्य होता है यदि उसकी मांग या तो ३०,००० नागरिकों द्वारा या किन्हीं भी आठ केण्टनों (प्रांतों) के विधानमंडलों द्वारा की जाए, और यदि संघीय विधानमंडल उस प्रस्ताव को 'अत्यावश्यक' घोषित न कर दे। यदि लोक-निर्देशन होता है और जनता का बहुमत प्रस्तुत विधि के विरोध में हो, तो वह विधि प्रभावशून्य हो जाती है। इसी भांति, आठ केण्टनों में सभी विधियां, अनिवार्य रूप से, लोक-निर्देशन के लिए प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह **अनिवार्य लोक-निर्देशन** कहलाता है। अन्य सात केण्टनों में, यदि नागरिकों की एक निश्चित संख्या

(जो कि विभिन्न केण्टनों में विभिन्न है) लोक-निर्देशन की मांग करे, तो लोक-निर्देशन होना ही चाहिए। यह **वैकल्पिक लोक-निर्देशन** है। तीन अन्य केण्टनों में यह व्यवस्था है कि विशिष्ट प्रकार की कुछ विधियां तो किसी भी दशा में, और अन्य विधियां नागरिकों की संख्या के एक निश्चित अनुपात द्वारा मांग होने पर जनता के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती हैं। शेष केण्टनों के अधिकांश में जनसंख्या इतनी कम है कि वहां प्रत्यक्ष लोकतंत्र वर्त्तमान है (अर्थात् वहां प्रत्येक व्यक्ति विधानमंडल का सदस्य होता है) और ऐसी अवस्था में, निश्चय ही, लोक-निर्देशन अनावश्यक है।

संयुक्तराज्य में संघीय विषयों में किसी भी प्रयोजन के लिए लोक-निर्देशन का प्रयोग नहीं किया जाता, परन्तु उसके कुछ राज्यों में विधिनिर्माणसंबंधी बुराइयां इतनी स्पष्ट और व्यापक हो गई है कि कुछ वर्षों से इन बुराइयों के प्रभाव को नष्ट करने के प्रयास-स्वरूप लोक-निर्देशन और साथ ही लोकोपक्रम तथा प्रत्याह्वान का प्रयोग किया जाने लगा है। लोक-निर्देशन, एक रूप में, अमरीकी राज्यों में कोई नई बात नहीं है, क्योंकि गणतंत्र के प्रारंभिक दिनों में राज्यों के संविधानों का अधिनियमन प्रायः लोकमत से होता था, और विधानमंडल अथवा विशिष्ट सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रथा तब से ही चालू रही है। परन्तु बाद के वर्षों में इसका अधिक विकास हुआ है और अनेक राज्यों में ऐसी व्यवस्था की जा चुकी है जिसके अधीन नागरिकों की एक निर्दिष्ट संख्या को (जो कि निर्वाचकों के पांच से दस प्रतिशत तक होती है) यह मांग करने की अनुज्ञा है कि विधानमंडल द्वारा पारित अधिनियम जनता की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाए। यह व्यवस्था अड़तालीस राज्यों में से इक्कीस में विद्यमान है, परन्तु ये अधिकतर नए या पाश्चात्य राज्य हैं, जैसे आरेगान, कोलोरेडो और केलीफोर्निया, हालांकि मेसेचूसेट्स सदृश पुराने राज्य ने भी इस व्यवस्था और इसके साथ ही लोकोपक्रम को भी अंगीकार किया है। स्विट्जरलैंड के समान, अमरीकी राज्यों में भी अधिकांश, विधानमंडल द्वारा अत्यावश्यक समझे जानेवाले अधिनियमों को लोक-निर्देशन की क्रिया से मुक्त कर देते हैं। इस शक्ति का प्रायः दुरुपयोग किया जाता है और अत्यावश्यकता का ठप्पा बहुधा बिना किसी औचित्य के किसी भी विधि पर इस हेतु लगा दिया जाता है कि वह लोक-अस्वीकृति की सम्भावना से बच सके।

जर्मनी में वेमर गणतंत्र के अधीन भी संविधान में संशोधन करनेवाली विधियो के अतिरिक्त अन्य विधियों क लिए लोक-निर्देशन का प्रयोग किया जा सकता था। लोकसभा द्वारा पारित की हुई तथा राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षरार्थ पहुंचनेवाली कोई भी विधि, पारित होने के एक महीने के भीतर राष्ट्रपति के वैसा आदेश देने पर, जनता के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। लोकसभा (राइखस्टाग) द्वारा पारित किसी भी विधि की (उन विधियों के सिवाय जो दोनों सभाओं द्वारा अत्यावश्यक घोषित की जाती थीं) उद्-

घोषणा लोकसभा के एक-तिहाई की मांग पर दो महीनों के लिए स्थगित कर दी जाती थी, और यदि उसी अवधि में मतदाताओं का बीसवां भाग ऐसी इच्छा प्रकट करता, तो उसे जनता के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता था। उच्च सदन किसी विधि को लोक-निर्देशन के लिए प्रस्तुत करा सकता था, परन्तु ऐसी विधि निर्वाचकों की बहुसंख्या के मतदान में भाग लेने पर ही जनता के बहुमत से रद्द हो सकती थी। यह प्रथा बॉन संविधान में पुनः जारी नहीं की गई है। उस संविधान में लोक-निर्देशन का उल्लेख नहीं है। इटली के नए गणतंत्र के संविधान (सन् १९४७) से इटली में पहली बार लोक-निर्देशन का सूत्रपात हुआ है। संविधान के अनुच्छेद ७० में कहा गया है कि यदि एक सदन दूसरे के द्वारा उसे भेजे गए विधेयक को अस्वीकृत करे तो गणतंत्र का राष्ट्रपति यह निर्देश दे सकेगा कि उसे जनता के निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाए। कुछ अन्य राज्यों में लोक-निर्देशन का उपयोग बहुत ही बिरले अवसरों पर हुआ है; उदाहरण के लिए न्यूजीलैंड में विधानमंडल ने मादक पेय के विक्रय के निषेध के प्रश्न को स्वेच्छापूर्वक जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दिया था; और आस्ट्रेलिया में भी (सांविधानिक संशोधनों से पृथक्) सन् १९१५ और १९१७ में अनिवार्य सैनिक सेवा के विषय पर और पुनः सन् १९२८ में मद्यनिषेध के विषय पर इस साधन के द्वारा जनता की राय ली गई थी।

३. लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान

लोकोपक्रम, जिसका उद्देश्य जनता को ऐसी विधि का सूत्रपात करने या उसे प्रस्तावित करने की शक्ति प्रदान करना है जिस पर विधानमंडल को विचार करना ही चाहिए, संविधानवाद के क्षेत्र मे लोक-निर्देशन से भी बढ़कर अतिलोकतंत्रीय प्रथा का विकास है। यह आवश्यक है कि लोकोपक्रम का अध्ययन लोक-निर्देशन से पृथक् किया जाए, क्योंकि यद्यपि इन दोनों का सैद्धान्तिक मूलाधार एक ही है तो भी जिन परिस्थितियों में इनका प्रयोग होता है, वे विभिन्न है; क्योंकि, जैसा एक विद्वान् का कथन है, जहां लोक-निर्देशन विधानमंडल के अनुचित कामों के अभिशाप से जनता की रक्षा करता है, वहां लोकोपक्रम उसके कार्यलोप के अभिशाप का उपचार है। लोक-निर्देशन के पक्ष में दी जानेवाली युक्तियों के अलावा लोकोपक्रम के लिए यह युक्ति भी दी जाती है कि विधानमंडल उपयुक्त रूप से जनता के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और चूंकि लोक-निर्देशन का संबंध केवल विधानमंडल द्वारा किए गए प्रस्तावों से ही है, इसलिए केवलमात्र उससे बुराइयों के खिलाफ पर्याप्त गारंटी नहीं प्राप्त होती। परन्तु हम कभी-कभी लोकोपक्रम और लोक-निर्देशन दोनों को साथ-साथ क्रियान्वित होते हुए देखते है जिससे जनता द्वारा उपक्रमित प्रस्ताव, विधानमंडल के द्वारा पारित हो जाने के पश्चात् अंतिम अनुमोदन के लिए उसके पास वापस आते है। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है, जहां लोक-निर्देशन से रहित लोकोपक्रम विद्यमान हो।

स्विट्जरलैंड में, जैसा कि हम बता चुके हैं, लोक-निर्देशन का प्रयोग सांविधानिक संशोधनों, विधियों और प्रस्तावों के लिए केण्टन के तथा संघीय दोनों मामलों में किया जाता है, वहां लोकोपक्रम का भी दोनों में प्रयोग होता है, परन्तु यह संघीय मामलों में इतना पूर्ण नहीं है जितना कि केण्टनों के मामलों में। जहां तक सम्पूर्ण संघ का प्रश्न है, कोई भी ५०,००० नागरिक या तो विशिष्ट प्रस्ताव के रूप में या ऐसे निवेदन के रूप में कि विधान-मंडल के द्वारा ऐसा प्रस्ताव तैयार किया जाए, संघीय संविधान के संशोधन का प्रस्ताव कर सकते हैं। पहली अवस्था में उसे सीधे जनमत के लिए पेश करना पड़ता है; दूसरी अवस्था में, जनता से यह पूछना पड़ता है कि क्या उसकी यह इच्छा है कि प्रस्ताव के संबंध में कार्यवाही की जाए, और, यदि वह बहुमत से ऐसी इच्छा प्रकट करे तो, विधेयक तैयार किया जाता है और अंतिम रूप से स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। केण्टनों (प्रांतों) में लोकोपक्रम के प्रयोग के लिए विनियम और भी व्यापक हैं और उनके अन्तर्गत केवल सांविधानिक विषय ही नहीं वरंच साधारण विधियां और प्रस्ताव भी सम्मिलित हैं। जेनेवा के सिवाय (जिसके संविधान का प्रत्येक पन्द्रह वर्षों में अपने-आप ही पुनरीक्षण होता है) समस्त केण्टनों में नागरिकों की एक निर्दिष्ट संख्या, जो विभिन्न केण्टनों में विभिन्न है, या तो संविधान के सामान्य पुनरीक्षण की मांग कर सकती है अथवा विशिष्ट संशोधनों का प्रस्ताव कर सकती है। इसके अलावा, तीन के सिवाय समस्त केण्टनों में नागरिकों की एक निर्दिष्ट संख्या या तो पूर्णरूप से तैयार किए गए मसौदे के रूप में एक नई विधि या प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है, या केण्टन की परिषद् द्वारा मसौदा तैयार कराने के लिए किसी विधि या प्रस्ताव का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकती है। पहली दशा में, विधेयक सीधे ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है; दूसरी दशा में परिषद् लोक-निर्देशन द्वारा जनता से पूछती है कि क्या विधेयक का मसौदा तैयार करने का काम हाथ में लिया जाए, और, यदि वह सहमत हो जाती है तो, विधेयक तैयार करके जनता के अनुमोदन या अस्वीकृति के लिए अंतिम रूप से उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

संयुक्तराज्य में लोकोपक्रम का प्रयोग उतने राज्य नहीं करते जितने लोक-निर्देशन का करते हैं। इस समय लोकोपक्रम विधियों के लिए उन्नीस राज्यों में और सांविधानिक संशोधनों के लिए चौदह राज्यों में प्रचलित है। लोकोपक्रम की व्यवस्था के अधीन प्रस्ताव को प्रस्तुत करनेवाले नागरिकों की संख्या किसी भी संबंधित राज्य के निर्वाचकों की पांच से लेकर पन्द्रह प्रतिशत तक होती है, परन्तु कुछ राज्यों में एक निश्चित संख्या निर्दिष्ट है। परन्तु अमरीका में इन अधिकारों का बड़ा दुरुपयोग होता है। राजनीतिक संस्थाओं के एजेंट किन्हीं प्रस्तावों के पक्ष में हस्ताक्षर प्राप्त करने, यहां तक कि खरीदने के लिए भी, चारों तरफ भेजे जाते हैं और बहुत-से हस्ताक्षर तो जाली भी होते हैं। उन राज्यों में जो लोकोपक्रम का प्रयोग सांविधानिक तथा साधारण दोनों विधियों के लिए करते हैं, प्रक्रिया के

संबंध में कोई भी अन्तर नहीं है। फलस्वरूप, प्रायः साधारण विधियों को सांविधानिक संशोधनों के रूप में रखा जाता है; और इस भांति, यदि वे पारित हो जाती हैं, तो वे बाद में विधानमंडल की मामूली कार्यवाही से निरस्त नहीं की जा सकतीं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ राज्यों में संविधान, जो समस्त अवस्थाओं में विशेष गरिमा वाला आधारभूत दस्तावेज होना चाहिए था, ऐसे दस्तावेज के लिए बिलकुल अनुपयुक्त छोटे-छोटे और तुच्छ उपबन्धों का एक समूह मात्र बन जाने के खतरे में पड़ गया है। निस्संदेह, यह इस योजना के प्रवर्त्तकों का उद्देश्य नही था; क्योंकि इस योजना का स्पष्ट प्रयोजन राजनीति का शुद्धीकरण है।

वेमर गणतंत्र के अधीन जर्मनी में लोकोपक्रम के सिद्धान्त को स्थापित करनेवाली संविधान में एक मार्के की धारा (७३) है। इसमें कहा गया है कि यदि मतदान के अधिकारी व्यक्तियों का दशमांश किसी विधेयक के (जिसका मसौदा पूरी तरह तैयार किया हुआ होना चाहिए) पेश किए जाने के लिए निवेदन करता है, तो सरकार को उसे राइख्स्टाग में प्रस्तुत करना पड़ेगा। यदि राइखस्टाग उसे पारित कर देती थी तो विधि को बिना किसी अन्य कार्यवाही के प्रख्यापित कर दिया जाता था, किन्तु यदि वह इसे पारित नहीं करती, तो विधेयक को लोक-निर्देशन के लिए प्रस्तुत करना पड़ता था। लोकोपक्रम का एक इसी प्रकार का उदाहरण इटली के गणतंत्र के नए संविधान में है। उस संविधान के अनुच्छेद ६८ के अनुसार कोई भी पचास हजार निर्वाचक उचित रूप से तैयार किया हुआ कोई भी विधेयक विचार के लिए प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रतिनिधियों या अन्य निर्वाचित पदाधिकारियों का प्रत्याह्वान आधुनिक राजनीति में हाल ही में प्राप्त हुई जनशक्ति है, हालांकि यह बिलकुल ही नई युक्ति नहीं है। उदाहरण-स्वरूप, फ्रांसीसी क्रांति के दौरान में असंतोषजनक प्रतिनिधि के उसके निर्वाचकों द्वारा हटाए जाने के लिए व्यवस्था करने का एक सुझाव दिया गया था, यद्यपि वह फलीभूत नहीं हुआ था। परन्तु वर्त्तमान समय में संयुक्तराज्य के कुछ राज्यों में ही इसका पूर्णरूप से प्रयोग हुआ है। उदाहरण के तौर पर आरेगान राज्य की विधि मे यह व्यवस्था है कि यदि निर्दिष्ट संख्या में नागरिक किसी निर्वाचित पदाधिकारी की, चाहे वह विधानमंडल का हो या कार्यपालिका का, पदच्युति की मांग करते हुए आवेदनपत्र प्रस्तुत करे, तो इस विषय पर लोकमत लिया जाएगा और यदि मतदान में बहुमत उस अधिकारी के विरुद्ध हो, तो वह पदच्युत किया जाएगा और उसके पद की अवधि के शेष भाग के लिए उसके स्थान की पूर्ति के लिए नया निर्वाचन होगा। इस प्रक्रिया को अन्य अमरीकी राज्यों ने भी अंगीकार किया है और उसे प्रायः सफलता प्राप्त हुई है, यद्यपि विधानमंडल के सदस्यों के मामले में वह बहुत कम सफल हुई है। अन्य राज्यों में इसका प्रयोग और भी व्यापक है तथा यह न्यायाधीशों को भी लागू की गई है जो निर्वाचित होते हैं, यहां तक कि एक राज्य (कोलोरेडो) में तो न्यायाधीशों के निर्णयों के संबंध में भी इसका प्रयोग किया

जाता है। इस योजना के अंतिम-वर्णित प्रयोग में तो न्यायाधीश का वास्तविक निर्णय भी लोकमत के द्वारा पलटा जा सकता है। न्यायाधीशों सहित समस्त निर्वाचित पदाधिकारियों के विषय में प्रत्याह्वान अमरीकी संघ के छह राज्यों में और न्यायाधीशों को अपवर्जित करके अन्य पदाधिकारियों के विषय में दस राज्यों में प्रचलित है। लोक-निर्देशन और लोकोपक्रम की भांति प्रत्याह्वान भी, साधारण रूप से, पश्चिमी अमरीकी राज्यों में सीमित है और जिन कतिपय पूर्वी राज्यों ने उपर्युक्त अन्य दो युक्तियों को अपनाया है, वे प्रत्याह्वान की ओर संदेह की दृष्टि से ही देखते रहे हैं।

संसार में किसी भी अन्य राष्ट्र ने प्रत्याह्वान को इस रूप में नहीं अपनाया है। यह सत्य है कि रूसी सोवियत् गणतंत्र के मूल संविधान में इसकी व्यवस्था थी; परन्तु सोवियत रूस के सन् १९३६ के संविधान में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। स्विट्जरलैंड में एक योजना है जो व्यवहार में प्रत्याह्वान से कुछ मिलती-जुलती है। वहां के सात केण्टनों में जनता एक विशिष्ट बहुमत के द्वारा यह मांग कर सकती है कि केण्टन की विधानसभा का उसकी अवधि की समाप्ति के पूर्व ही विघटन और पुनर्निर्वाचन किया जाए। संयुक्तराज्य से बाहर प्रत्याह्वान का विस्तार यहीं तक है, हालांकि ऐसे सुधारक भी हैं जो उन राज्यों में जहां इसका कभी भी प्रयोग नहीं किया गया है, इसको ग्रहण करने के लिए आग्रह करते हैं।

लोक-निर्देशन, लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान, प्रथम दृष्टि में, लोकतंत्र के ऐसे युक्तियुक्त विकास दिखाई देते हैं कि इस बात पर आश्चर्य होता है कि उन्हें अंगीकार किए जाने की अधिक व्यापक मांग नहीं की गई। जैसा कि हम कह चुके हैं, वे बड़ों की अपेक्षा छोटे राज्यों के लिए ही अधिक उपयुक्त हैं और उनको किसी सीमा तक स्विट्जरलैंड और अमरीकी संघ के कतिपय राज्यों में ही अपनाया गया है। स्विट्जरलैंड में तो लोकोपक्रम की अपेक्षा लोक-निर्देशन अधिक प्रचलित है, क्योंकि वहां के लोग असंतोष की सक्रिय भावना की अपेक्षा लोकतांत्रिक सिद्धान्त से अधिक प्रभावित हैं और इसलिए वे अपने विधि-निर्माताओं को निर्देश देने की अपेक्षा उनपर रोक लगाना अधिक पसन्द करते है। परन्तु अमरीकी राज्यों में इसके विपरीत बात है। वहां ये युक्तियां भ्रष्ट विधायकों की बुराइयों के विरोध में सुनिश्चित साधनों के रूप में अपनाई गई है। फिर भी, स्विट्जरलैंड में लोक-निर्देशन का, हालांकि यह एक पूर्णरूपेण सजीव साधन है, सदा ही सोच-समझकर कभी-कभी ही प्रयोग किया जाता है। अमरीका के राज्यों में पहले की अपेक्षा अब उसका कम प्रयोग होता है। जहां तक लोकोपक्रम की बात है, इसका प्रयोग स्विट्जरलैण्ड में सम्पूर्ण संघ की अपेक्षा, जहां इसका उपयोग सांविधानिक संशोधनों तक ही सीमित है, उसके केण्टनों (प्रान्तों) में बहुत अधिक होता है। दूसरी ओर, अमरीकी राज्यों में लोकोपक्रम का प्रयोग बराबर होता रहता है और जनता के दृष्टिकोण से इसका समारम्भ इसके प्रयोग की मात्रा को देखते हुए निश्चितरूपेण उचित सिद्ध हुआ है।

४. इन साधनों के पक्ष और विपक्ष में दलीलें

लोक-निर्देशन, लोकोपक्रम और प्रत्याह्वान के, उन राज्यों में, जिनमें इनका प्रयोग हुआ है, प्रयोग से हम किन निष्कर्षो पर पहुंचते है और बृहत् राज्यों में उनकी उपयोगिता के विषय में क्या सुझाव दिए जा सकते है ? प्रथम, लोक-निर्देशन विधानमंडलों की, जो भ्रष्ट रूप से या अपने निर्वाचकों द्वारा दिए गए आदेश की उपेक्षा करते हुए कार्य करते हैं, त्रुटियों को ठीक करता है । द्वितीय, यह निर्वाचित और निर्वाचकों के बीच एक लाभदायक और स्वस्थ सम्पर्क—ऐसा सम्पर्क जो कभी-कभी ही होनेवाले सामान्य निर्वाचनों द्वारा सर्वदा सुनिश्चित नहीं होता—कायम रखता है । तृतीय, इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि ऐसी कोई भी विधि जो लोक-भावना के विरुद्ध हो, पारित नहीं की जाएगी । लोकोपक्रम के पक्ष में भी यही तर्क दिए जा सकते है; परन्तु उसके उपयोग के लिए एक कारण और भी है । लोक-निर्देशन से विधानमंडल द्वारा विचारित विषयों पर ही लोगों को मतदान करने की अनुज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु उसमें प्रतिनिधि-संस्था से स्वतंत्र रूप में जनता के प्रस्तावों के लिए कोई स्थान नहीं मिलता । यह तर्क दिया जाता है कि यदि जनता किसी विधि का अनुमोदन या अननुमोदन करने के लिए समर्थ है तो वह स्वयं ही प्रस्तावों को प्रस्तुत करने के लिए भी समर्थ क्यों नहीं समझी जाती ? यही बात प्रत्याह्वान के संबंध में भी है । यदि लोगों को प्रतिनिधि चुनने की शक्ति दी गई है तो उन्हें उसे हटाने का भी अधिकार क्यों न दिया जाए यदि उनके मत में वह अपने कर्त्तव्यपालन में असफल हो । क्या यह अधिकार पहले अधिकार का स्वाभाविक परिणाम नहीं है ?

दूसरी ओर इन साधनों के उपयोग के विरुद्ध कई तर्क प्रस्तुत किए जा सकते है । जहां तक लोक-निर्देशन की बात है, यदि बड़े राज्य में उसका सामान्यतया प्रयोग किया जाए, तो संभव है कि इससे विधियों के प्रख्यापन में इतना विलम्ब हो जाए, जिससे समाज उन लाभों से वंचित रह जाएगा, जिनके लिए उन विधियों का निर्माण किया गया है, अथवा वे बुराइयां, जिनको दूर करना विधियों का आशय है, चालू रहेंगी । दूसरी आपत्ति यह है कि इंगलैंड जैसे सघन जनसंख्या वाले समाज में इस बात की संभावना रहेगी कि वे विभिन्न मत, जो इसके कारण प्रकट किए जा सकेंगे, प्रस्तुत विधियों के संबंध में अन्त में एक-दूसरे को निष्फल कर देंगे, और इस भांति समस्त प्रगतिशील विधायन पूर्णतया निरर्थक हो जाएगा । इसके साथ ही, आधुनिक परिस्थितियों में, विधि-निर्माण इतनी उच्च सीमा तक एक विशिष्ट विषय बन गया है कि एक सुविज्ञ नागरिक भी जनता के विचार के लिए प्रस्तुत समस्त विधेयकों के ब्योरों को समझने की आशा नहीं कर सकता, जिन पर विधान-मंडल में सावधानी के साथ विचार-विमर्श हो चुका होता है। फलस्वरूप, इससे या तो अज्ञान प्रतिष्ठित होगा या उदासीनता उत्पन्न होगी जिससे यह सारी योजना ही बेकार हो जाएगी। इनके अतिरिक्त लोकोपक्रम को अन्य आपत्तियां भी लागू होती हैं । एक लेखक का कथन

है कि "यह लोगों के सामने ऐसे विधेयक प्रस्तुत करता है, जो संसदीय आलोचना की कसौटी पर नहीं कसे गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि उनका मसौदा असावधानी से या अव्यवस्थित रूप से तैयार किया गया हो, और यदि उन्हें अधिनियम बना दिया जाए, तो वे विधि में उलझन और अनिश्चितता उत्पन्न कर देंगे और मुकदमेबाजी को बढावा मिलेगा।" इसके अतिरिक्त लोकोपक्रम से विचारहीन नेताओं अथवा भ्रष्ट दलों को ऐसे अवसर प्राप्त होंगे जिससे वे जनसमूह के अज्ञान और उसकी लापरवाही का अनुचित लाभ उठाकर राज्य को भारी हानि पहुंचा सकेंगे।

लोकोपक्रम के संबंध में ये आपत्तियां और भी अधिक सबल बन जाती है जब कि उसका प्रयोग सांविधानिक विधि के संबंध में किया जाता है। जैसा कि हम अध्याय ६ और ७ में बता चुके हैं, संविधान मूलभूत लेख होता है, और उसमें केवल बड़े विचार-विमर्श के पश्चात् ही परिवर्तन करना चाहिए। यदि वह जनता के द्वारा तैयार किए गए मसौदे और मतदान के द्वारा जोड़े गए विधियों का संकलन बन जाता है, तो वह अपने सारभूत रूप को खो बैठेगा और अव्यावहारिक उपबन्धों का एक झमेला बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति संभवतया पहले अराजकता को और फिर निरंकुशवाद को जन्म देगी, और उस स्थिति में यह लोकप्रिय साधन अपने लक्ष्य को ही निष्फल कर देगा। सांविधानिक प्रश्नों के लिए लोकोपक्रम की अपेक्षा लोक-निर्देशन अधिक उपयुक्त है तथा इसका एक और अच्छा उपयोगी प्रयोग उन गत्य-वरोधों को दूर करने के लिए हो सकता है, जो उन राज्यों के सदनों के बीच उत्पन्न हो जाते हैं, जहां विधानमंडल दो सदनों का होता है और संविधान में यह उपबन्ध नहीं होता कि उनमें से एक का मत निर्णायक होगा। इस तरीके का प्रस्ताव आस्ट्रेलिया में किया गया था, परन्तु वहां यह अस्वीकृत हुआ। यह वेमर गणतंत्र के संविधान में समाविष्ट था और नॉरवे तथा बेलजियम में इसका सुझाव दिया गया है। इंगलैंड में सन् १९०९ में जब लॉर्ड-सभा ने बजट को पारित करने से इनकार कर दिया और संकट उत्पन्न हो गया, उस समय एक बार इसका प्रस्ताव किया गया था।

प्रत्याह्वान के संबंध में आपत्तियां अपेक्षाकृत कम हैं। अमरीका में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इसने अच्छा और राज्य के हित में काम किया है, परन्तु इसके विरोधी यह कहते हैं कि इससे कर्मचारियों में भीरुता तथा दासत्व की भावना उत्पन्न होती है। यदि विधान-निर्माताओं पर इसका प्रयोग किया जाए तो यह खतरा है कि प्रतिनिधि केवल दूत मात्र बनकर रह जाएगा, वह किसी भी सक्रिय तथा कपटपूर्ण गुट्ट के दूषित प्रहारों का शिकार बन जाएगा और इससे लोकसेवा की भावना वाले व्यक्ति सार्वजनिक जीवन से हट जाएंगे। यदि इसका प्रयोग कार्यपालिका पर किया जाए तो इससे निश्चय ही सत्ता निर्बल हो जाएगी और श्रेष्ठ व्यक्ति सरकारी पद ग्रहण नहीं करेंगे। न्यायाधीशों के संबंध में तो इसके प्रयोग करने का कोई औचित्य ही नहीं दिखाई देता, क्योंकि उनका क्षेत्र शासन के अन्य दो विभागों से अधिक विशिष्ट है। यदि प्रत्याह्वान का प्रयोग न्यायाधीशों के संबंध में किया जाए तो

वे जनसमूह की सनक के शिकार बन जाएंगे और इससे उनकी पदावधि की वह सुरक्षा समाप्त हो जाएगी, जो, जैसा हम कह चुके है, राज्य के कल्याण के लिए आवश्यक है। निस्संदेह, तार्किक दृष्टि से न्यायाधीशों का प्रत्याह्वान वहीं प्रयोग में लाया जा सकता है, जहां उनका निर्वाचन जनता के द्वारा होता है। और केवल उन अमरीकी राज्यों में ही जहां ऐसा वास्तव में होता है, न्यायाधीशों के प्रत्याह्वान को व्यवहार में लाया गया है। न्यायिक निर्णयों का प्रत्याह्वान, जैसा हम कह चुके है, कोलोरेडो में अपनाया गया है और कुछ अन्य पश्चिमी राज्यों में भी उसका प्रस्ताव किया गया है, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह और भी अधिक अनुचित है। न्यायाधीशों के सम्बन्ध में प्रयुक्त लोक-निर्वाचन की पद्धति का अधिक व्यापक रूप से अंगीकरण और उनकी पदावधि तथा निर्णयों के संबंध में प्रत्याह्वान का प्रयोग कतिपय अमरीकी राज्यों में न्याय-प्रशासन में निश्चित ही शिथिलता फैला देगा; क्योंकि इसके कारण न्यायाधीश अ-लोकप्रिय निर्णय देने से डरेंगे और वे न्याय के लक्ष्य की पूर्ति की अपेक्षा अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखकर मामलों को सुनेंगे तथा निर्णय देंगे।

अपने अध्ययन के इस अंश से हमारा यह निष्कर्ष निकलता है कि सभ्यता की वर्त्तमान अवस्था में सांविधानिक लोकतंत्र ने जितना भार वह सहन कर सकता है, उससे कहीं अधिक भार ले लिया है। लॉर्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "नागरिक कर्त्तव्य के स्तर को ऊंचा उठाना संस्थाओं में परिवर्तन करने की अपेक्षा अधिक कठिन और लम्बा कार्य है।" राजनीतिक संस्थाओं की उपयोगिता तथा उनका स्थायित्व उस समाज की स्थिति पर निर्भर है जिसे वे लागू होते हैं और यह बात महत्त्वपूर्ण है कि संस्थाएं उनको क्रियान्वित करनेवाली जनता की सामर्थ्य से आगे नहीं होनी चाहिए। संस्थाओं का उतना ही विकास होना चाहिए जितना कि जनता की सामर्थ्य को देखते हुए युक्तियुक्त हो। यदि अत्यधिक वेगपूर्ण प्रगति प्रगतिशील समाजों के लिए खतरनाक है तो पिछड़े हुए लोगों के लिए तो वह और भी अधिक भयकारी है। अतएव, अब उन सांविधानिक प्रयोगों की संक्षिप्त परीक्षा की ओर अग्रसर होना लाभकारी होगा जो अधिक पिछड़े हुए और विशेषतया ब्रिटिश राज्य के अधीन समाजों में किए जा चुके हैं या किए जा रहे है।

प्रश्न

१. फ्रांस की आन्तरिक राजनीति में जनमत-निर्णय-प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार किया गया था? वर्त्तमान काल के अन्य राज्यों में उस प्रकार के प्रयोग के क्या परिणाम होंगे?

२. प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में जनमत-निर्णय-प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार किया गया था और उसका क्या प्रभाव हुआ?

३. हिटलर ने लोकतंत्र का दुरुपयोग करते हुए और निरंकुशतंत्र की स्थापना के

यंत्र के रूप में जनमत-निर्णय का किस प्रकार प्रयोग किया ?

४. स्विट्जरलैंड में लोक-निर्देशन किस प्रकार व्यवहार में लाया जाता है ?

५. अमरीका में लोक-निर्देशन का किस सीमा तक प्रयोग किया जाता है ?

६. कतिपय स्व-शासी डॉमिनियनों में लोक-निर्देशन के प्रयोग को देखते हुए ब्रिटेन में उसके प्रयोग की संभावना पर विचार कीजिए।

७. लोकोपक्रम का क्या उद्देश्य है और जिन राज्यों ने इसको अपनाया है उनमें यह उद्देश्य कहां तक पूरा हुआ है ?

८. आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्यों में शासन के तीनों विभागों में प्रत्याह्वान प्रणाली को लागू करने से क्या लाभ या हानियां होंगी ?

९. लोक-निर्देशन और लोकोपक्रम का सांविधानिक संशोधनों के संबंध में प्रयोग करने से और साधारण विधियों के सम्बन्ध में प्रयोग करने से क्या लाभ हो सकते हैं ? उनकी तुलना कीजिए।.

१०. यह कहां तक सच है कि प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक युक्तियों से होनेवाला फायदा नाममात्र का है न कि वास्तविक ?

अध्याय १४

अ-यूरोपीय लोगों के सांविधानिक प्रयोग

१. निकट और सुदूरपूर्व

जैसा कि हम अध्याय २ में देख चुके हैं, विस्तार और संयोजन की दृष्टि से पाश्चात्य जगत् का राजनीतिक संविधानवाद बहुत आगे बढ़ चुका है। राष्ट्रीय लोकतंत्र के बीज ने कभी-कभी फल उत्पन्न किए हैं और कभी-कभी केवल घास-पात की ही फसल पैदा की है। निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि प्राचीन जगत् तथा नवीन जगत् दोनों में राजनीतिक संस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप के लिए वास्तविक रूप से उपयुक्त सिद्ध हुई भूमि की मात्रा उतनी अधिक नहीं है जितनी उसके प्रयोग के लिए उपयुक्त समझी गई है। परन्तु राजनीतिक पुरुष सघन कृषि की पद्धतियों का आविष्कार करता रहता है और ऐसा करने की उसकी प्रवृत्ति से बड़े महत्त्व की यह राजनीतिक समस्या उत्पन्न होती है कि स्वायत्त शासन की पद्धतियों का राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों पर कहां तक प्रयोग किया जा सकता है। और यह एक ऐसी समस्या है जो केवल पिछड़ी हुई जातियों और उनसे संपर्क रखने-वाले यूरोपियनों के ही भविष्य को नहीं, परन्तु उस अन्तर्राष्ट्रीय शासन के भविष्य को भी प्रभावित करती है, जिसमें, यदि उसे वास्तव में प्रभावकारी होना है तो, उन सबको भी भाग लेना होगा।

स्वायत्त शासन के सिद्धांत का उपयोग उन क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से सरल सिद्ध हुआ है, जिन्हें हम गोरों की बस्तियां कह सकते हैं। संसार के विभिन्न भागों के अधिकतर निर्जन समशीतोष्ण क्षेत्रों में बसनेवाले अंगरेजो ने अपनी स्वायत्त संस्थाओं का क्रमिक विकास करने का तरीका सीख लिया है। बसने के कुछ वर्षों के उपरान्त पश्चिमी गोलार्द्ध, आस्ट्रे-लिया, न्यूजीलैंड और दक्षिणी अफ्रीका में के ये उपनिवेश मातृभूमि की पूर्ण राजनीतिक अधीनता में वास्तव में कभी नहीं रहे। स्वातंत्र्य-युद्ध से पूर्व अमरीकी उपनिवेशों के संबंध में यह बिलकुल स्पष्ट है, जहां, जैसा कि स्वर्गीय प्रोफेसर सीली ने एक बार कहा था, परिस्थिति यह थी कि जहां ब्रिटेन उपनिवेशवासियों को आर्थिक दृष्टि से विजित इंडियनों के एक समूह जैसा समझता था वहां वह राजनीतिक दृष्टि से उनके साथ स्वतंत्र व्यक्तियों जैसा व्यवहार करता था। सच तो यह है कि संसार के राजनीतिक इतिहास में कोई भी बात इतनी शिक्षाप्रद नहीं है जितनी वह पद्धति जिससे अंगरेज उपनिवेशवासी अपने साथ उन लोगों की राज-नीतिक भावना को ले गए जिनसे कि वे स्वयं उत्पन्न हुए थे और उसका वह तब तक प्रयोग करते रहे जब तक कि अन्त में उसने दो बातों में से एक को जन्म नहीं दे दिया। इनमें से एक बात तो ऐसे राजनीतिक संविधान से युक्त पूर्णप्रभुत्वसंपन्न स्वतंत्रता थी, जिसका कम-से-कम

स्थायित्व की दृष्टि से तो संसार के किसी भी संविधान के साथ मुकाबला हो सकता था, जैसा संयुक्तराज्य अमरीका में हुआ; तथा दूसरी बात थी वह स्वायत्त राजनीतिक संगठन जिसे हम अब कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका आदि में देखते हैं।

परन्तु जब उष्ण कटिबन्ध के उन क्षेत्रों में जहां गोरों के बड़े उपनिवेश बसाए नहीं जा सकते थे, और जहां यूरोपीय सरकारें उन विस्तृत देशों की आबादियों में जो कि प्रगति की संभावना में पश्चिमी राष्ट्रों से बहुत पीछे थीं, सर्वोच्च शक्ति बन गई थीं, इन आदर्शों को लागू करने का और इन संस्थाओं को स्थापित करने का अवसर आया, तब एक और ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यूरोप के अधिक पिछड़े हुए लोगों में भी स्व-शासी संस्थाओं के निर्माण में कठिनाइयां बहुधा बहुत बड़ी सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए, सन् १८७८ में निरंकुश तुर्की साम्राज्य के एक भाग के अवशेष से सांविधानिक एकतंत्रों के आकस्मिक सृजन का प्रयोग सर्बिया और रूमानिया जैसे राज्यों में अत्यन्त संदिग्ध था और अन्त में सफल सिद्ध नहीं हुआ। इसी भांति, रूस भी वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रभावकारी राजनीतिक संविधान स्थापित करने में असफल हुआ मुख्यकर इस कारण कि वह एक विस्तृत प्रदेश था, जिसकी जनसंख्या अधिकांश में अशिक्षित कृषकों की थी। इसके अतिरिक्त, प्रथम विश्वयुद्ध के द्वारा निर्मित या विस्तारित यूरोप के कुछ पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी राज्य अपने को उस संविधानवाद के अनुसार, जिस पर हमने इन पृष्ठों में विचार किया है, ढालने में असफल हुए और आसानी से पहले तो फासिस्ट और बाद में साम्यवादी प्रकार की सर्वाधिकारवादी सत्ताओं के चंगुल में फंस गए।

जब हम यूरोप के कतिपय भागों तक में राजनीतिक संविधानवाद की स्थापना की असफलता पर विचार करते हैं तो हमें यूरोप के बाहर के कुछ देशों में इसको सफलतापूर्वक अपनाए जाने की अक्षमता को जानकर आश्चर्य नहीं होता, हालांकि उल्लिखित यूरोपीय राज्यों के समान उन देशों में से कुछ में वास्तविक राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। उदाहरण के लिए, सन् १८७६ से आगे तुर्की में सांविधानिक राज्य के स्थापित करने के प्रयत्न पूर्णरूप मे असफल हुए और केवल प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही वहां राजनीतिक प्रगति के लिए न्यूनतम क्षमता दिखाई देने लगी है। इसी भांति ईरान में भी सन् १९०६ की क्रांति ने एक प्रतिनिधि-सभा को जन्म दिया, परन्तु उसकी इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त रूप से शक्तिशाली कार्यपालिका के अभाव में वह एक प्रभावपूर्ण संस्था न बन सकी।

इन बातों से राजनीतिक रूप से पिछड़े हुए लोगों के बीच स्व-शासी संस्थाओं की स्थापना में क्रमिक नीति का महत्त्व मालूम होता है। परन्तु ऐसी संस्थाओं की स्थापना, एक ऐसी बड़ी शक्ति के, जिसका स्थिति पर नियंत्रण हो और जिसकी अन्ततः अपने अधीन लोगों की राजनीतिक मुक्ति से सहानुभूति हो, निर्देशन के द्वारा ही संभव हो सकती है। इस सम्बन्ध में फारस के मुकाबले में मिस्र की स्थिति बड़ी भिन्न दिखाई देती है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र

ने एक प्रगतिशील विदेशी सत्ता की मौजूदगी से पर्याप्त राजनीतिक लाभ उठाया। उस समय से, जब कि ब्रिटेन ने सन् १८८२ में मिस्र के वास्तविक संरक्षण को (वह संरक्षण जिसकी सन् १९१४ में औपचारिक रूप से घोषणा की गई थी), ग्रहण किया, मिस्र-निवासियों को एक प्रतिनिधि-सभा के द्वारा, जिसकी स्थापना सन् १८८३ में हुई और जिसकी शक्तियों का सन् १९१३ में पर्याप्त रूप से विस्तार किया गया था, अपने को राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करने का अवसर मिला। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् और तुर्की के विघटित हो जाने के उपरान्त इंगलैंड ने अपने को ग्लेडस्टन द्वारा दिए गए इस वचन को कि मिस्र पर अंगरेजों का अधिकार अस्थायी होगा, पूरा करने में स्वतंत्र माना। मिस्र के राष्ट्रीय दल (नेशनल पार्टी) की मांग के उत्तर में, जिसका नारा **'मिस्र मिस्त्रियों का'** था, सन् १९२२ में इंगलैंड मूल खेदीव परिवार के वंशज को राजा के रूप में स्वीकार करते हुए सांविधानिक एकतंत्र की स्थापना के लिए सहमत हो गया। सन् १९३६ के आंग्ल-मिस्री अधिनियम के द्वारा मिस्र प्रभुसत्तात्मक राज्य बन गया और केवल सूडान तथा स्वेज नहर संबंधी आंग्ल हितों के बारे में कुछ संरक्षणों की व्यवस्था को छोड़ ब्रिटेन का सैनिक आधिपत्य समाप्त कर दिया गया। यह संधि बीस वर्ष के लिए थी, परन्तु सन् १९४६ में उसपर पुनर्विचार हो सकता था। संधि के प्रवर्त्तन-काल का यह बीच का समय द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त के महीनों में पड़ा, और, उस समय प्रश्न के पुनर्विचार के फलस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने सन् १९४७ में मिस्र से अपनी अन्तिम अंगरेजी सेनाओं को वापस बुला लेना सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया।[1]

मिस्र के संविधान ने, जो कि सन् १९२३ में प्रवर्त्तनशील हुआ, इंगलैंड के सदृश ही सांविधानिक एकतंत्र की स्थापना की जिसमें शाह, प्रधान मंत्री तथा मंत्रिमंडल के माध्यम से कार्य करनेवाला नामधारी कार्यपालक रहा। ये संसद् के प्रति, जो दो सदनों की थी, उत्तरदायी थे। उनमें एक सिनेट थी, जो कि अंशतः मनोनीत और अंशतः निर्वाचित होती थी, और दूसरी प्रतिनिधि-सभा थी। द्वितीय महायुद्ध के आगमन से पूर्व, जिसका मिस्री प्रदेश केन्द्रविन्दु और आंग्ल युद्धकौशल का अत्यन्त आवश्यक आधार सिद्ध होना था, इस संविधान के पूरी

---

[1] **विस्तृत विचारविमर्श से फिर भी संघर्ष की अनेक बातें सामने आईं, विशेषकर सूडान की (जो सन् १८९९ के आंग्ल-मिस्री संयुक्त नियंत्रण करार के अधीन प्रशासित था) जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की बात। अतएव मिस्त्रियों ने संयुक्तराष्ट्र-संघ से अपील की और सुरक्षा परिषद् से निवेदन किया कि वह सन् १९३६ की संधि को अमान्य घोषित करके मिस्र तथा सूडान से समस्त अंगरेजी फौजों को तुरन्त हट जाने का आदेश दे। परन्तु जब सुरक्षा परिषद् ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो अक्तूबर सन् १९५१ में मिस्री सरकार ने सन् १९३६ की संधि और संयुक्त नियंत्रण करार को रद्द कर दिया, और, राजकीय उपाधि को मिस्र तथा सूडान के शाह के रूप में बदलते हुए, संविधान को संशोधित कर दिया।**

तौर मे कार्यान्वित होने के लिए कोई समय नही मिला। परिणामस्वरूप, युद्ध के ये वर्ष सांविधानिक उन्नति के अनुकूल नहीं थे, और इसमें संदेह नहीं कि मिस्रियों को अब भी संविधानवाद की कला तथा व्यवहार को सीखने में काफी समय लगेगा। परन्तु सब कुछ देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अब तक यह संविधान भलीभांति कार्यान्वित हुआ है और यह निश्चयपूर्वक अनुमान किया जा सकता है कि अन्ततः उसमें स्थिरता आ जाएगी।

सुदूर पूर्व में कुछ समय तक तो यह प्रतीत हुआ कि जापान यूरोपीय राजनीतिक विचारों को सफलतापूर्वक आत्मसात् करके उनका प्रयोग कर सकेगा, क्योंकि सन् १८८९ में उसने सम्राट् के अधीन पश्चिमी आदर्श पर एक संविधान की स्थापना की, जिसमें प्रधान मंत्री तथा मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गई, जो एक द्विसदनी संसद् (डायट) के प्रति उत्तरदायी थे। ससद् का उच्च सदन सामन्तसदन था जो अंशतः वंशानुगत, अंशतः मनोनीत और अंशतः निर्वाचित होता था, और निम्न सदन प्रतिनिधि-सदन था जिसका निर्वाचन सार्वलौकिक पुरुष-मताधिकार के द्वारा चार वर्षो के लिए होता था। परन्तु, सुस्थिर रूप से सांविधानिक प्रगति की यह आशा, जो कि इस संविधान से युक्तिसंगत प्रतीत हो रही थी, जापान के प्रमुख दल की विस्तारवादी नीति के सामने विफल हो गई, क्योंकि इस दल ने भी जर्मनी और इटली के सदृश ही राज्य से बाहर किए गए अपने आक्रमणों की सफलता का उपयोग राज्य के भीतर सर्वाधिकारवादी शासन की शक्ति बढ़ाने में किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानी साम्राज्य के उलट जाने पर जापानी जनता को अमरीका के, जो कि मुख्य आधिपत्यकर्त्ता शक्ति थी, प्रभाव के अधीन लोकतंत्रीय प्रणाली के जरिये अपना शासन आप करने की योग्यता सिद्ध करने का दूसरा अवसर मिला। सन् १९४७ में एक नया संविधान प्रभावशील हुआ जो कि मोटी तौर से पुराने संविधान पर ही आधारित है, अन्तर केवल इतना ही है कि द्वितीय सदन, जो अब 'पार्षदों का सदन' कहलाता है, पूर्णरूप से निर्वाचित है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पार्षदों के सदन और प्रतिनिधियों के सदन दोनों के लिए सन् १९४७ में जो निर्वाचन हुए, उनमें लोगों ने अपने पुनर्प्राप्त अधिकारों के लिए कोई बहुत बड़ा उत्साह प्रकट किया हो, हालांकि उनमें स्त्रियों को पहली बार ही मताधिकार प्राप्त हुआ था। फिर भी जिस हद तक जापानी लोग क्रमिक रूप से राष्ट्रीय राज्य की प्राकृतिक सीमाओं के भीतर अपने आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन का पुनर्निर्माण करते जाएंगे, उस हद तक इस पुनर्जीवित प्रयोग की सफलता पर दृष्टि रखना एक लाभदायक बात होगी।

चीन में भी सांविधानिक सरकार की स्थापना का प्रयत्न जापान की अपेक्षा अधिक सफल नहीं हुआ, हालांकि वहां जिन परिस्थितियों में संविधान का सर्वप्रथम प्रख्यापन किया गया था, वे कहीं अधिक क्रांतिकारी थीं, क्योंकि सन् १९११ में मंचू वंश का सदियों पुराना साम्राज्य बलपूर्वक उलट दिया गया था और उसके स्थान में गणतंत्र की स्थापना हुई थी। फर्वरी सन् १९१२ में प्रख्यापित इस गणतंत्रीय संविधान में निर्वाचित राष्ट्रपति की,

एक मंत्रिमंडल की, जिसका प्रमुख प्रधान मंत्री था, और सिनेट तथा प्रतिनिधि-सदन से युक्त एक द्विसदनी विधानमंडल की स्थापना की गई। परन्तु यह संविधान प्रारम्भ से ही कार्यान्वित न किया जा सका। राष्ट्रपति के निर्वाचन के परिणामों पर विवाद उठ खड़े हुए और संसद् के द्वारा पारित विधियों की उपेक्षा की गई। इसी बीच, सरकार के विरोध में **जनता का राष्ट्रीय दल** (कोमिण्टांग) नामक एक नए दल का निर्माण हुआ, जो इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने सन् १९२८ में चांग काई शेक के नेतृत्व में पीकिंग पर अधिकार कर लिया और एक नए संविधान का प्रख्यापन किया, जिसने एक धनिकतंत्रीय प्रकार की सरकार की स्थापना की। इसमें पांच परिषदें थी, और उनका प्रमुख गणतत्र का राष्ट्रपति था। सन् १९३७ से इस सरकार को बाहर से जापान के आक्रमण और अन्दर से साम्यवादी दल का सामना करना पडा। इस दल ने अपनी एक अलग सरकार बना ली और जापानियों के विरुद्ध फौजी संगठन के रूप में, जो कि राष्ट्रीय सरकार के फौजी संगठन से बिलकुल भिन्न था, युद्ध किया। यदि जापानी साम्राज्यवाद का महान् संकट भी चीनियों को एक नहीं कर सका तो फिर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे अपने मतभेदों को सुलझाने में उस समय भी समर्थ नहीं हो सके जब कि द्वितीय विश्वयुद्ध ने उनके शक्तिशाली पूर्वी पड़ोसी की शक्ति को समाप्त कर दिया था, और चीन फिर भी विभाजित ही बना रहा। सन् १९४५ में चांग काई शेक ने एक नए संविधान का, जो जनता की प्रभुसत्ता पुनः स्थापित करता, मसौदा तैयार करने के लिए जनता की कांग्रेस को बुलाने का वचन दिया, परन्तु इसी बीच साम्यवादियों ने माओत्सेतुग के नेतृत्व में क्रमिक रूप से संपूर्ण चीन पर नियंत्रण कर लिया और सितम्बर सन् १९४९ में उसने जनगणतंत्र की उद्घोषणा कर दी, जिसका संविधान अधिकाश में सोवियत् रूस के संविधान के आदर्श के अनुकूल था।

२. भारत और पाकिस्तान

क्रमिक रूप से राजनीतिक अधिकारों के प्रदान का अच्छा उदाहरण आंग्ल स्व-शासी डॉमिनियनों के विकास के इतिहास की अपेक्षा और कहीं नही मिलता। भारत के विषय में तो यह विशेष दिलचस्पी का प्रकरण है जहां आंशिक स्व-शासी संस्थाओं के धूमिल प्रारम्भ से लेकर डॉमिनियन पद की प्राप्ति तक के क्रमिक विकास में नब्बे वर्ष लग गए, हालांकि उत्तरदायी स्व-शासन का अन्तिम आदर्श, जो अन्त मे सन् १९४७ में प्रकट हुआ, उस रूप मे, जिसका पूर्वाभास पूर्वतर अधिनियमों में हुआ था, बिलकुल विभिन्न प्रकार का था। भारत मे अंगरेजो का प्रारम्भिक इतिहास ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा राजनीतिक उत्तरदायित्वों के ग्रहण और धीरे-धीरे उनके अंगरेजी सरकार के हाथों में पहुंचने की गाथा है। अंगरेज सरकार द्वारा सन् १६०० में प्रदान किए गए आज्ञापत्र (चार्टर) के अधीन विशुद्ध वाणिज्यिक संस्था के रूप में आरम्भ होकर ईस्ट इंडिया कम्पनी को उन बड़ी-बड़ी राजनीतिक कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा जो मुगल साम्राज्य के विघटन तथा फ्रांसीसियों के विरुद्ध प्रभुसत्ता

के लिए संघर्ष के संयुक्त प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। सप्तवर्षीय युद्ध (सन् १७५६-१७६३) में फ्रांसीसी शक्ति के नष्ट हो जाने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा और दो अधिनियम——नॉर्थ का रेग्यूलेटिंग एक्ट (सन् १७७३) और पिट का इंडिया एक्ट (सन् १७८४)——एक के बाद एक शीघ्रता से पास किए गए। इन दोनों अधिनियमों ने भारत के उन भागों के शासन की, जो उन दिनों तक आंग्ल प्रभुसत्ता के अधीन आ चुके थे, व्यवस्था करने का प्रयत्न किया और भारत के गवर्नर-जनरल के पद की स्थापना कम्पनी के सेवक की बजाय राजकीय पदाधिकारी के रूप में की। पिट के अधिनियम ने लन्दन में एक नियंत्रण बोर्ड (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) की स्थापना की, जो आधुनिक भारत कार्यालय (इंडिया ऑफिस) का प्रारम्भिक रूप था।

यह अधिनियम सत्तर वर्ष से अधिक काल तक जारी रहा, जब सन् १८५७ में भारतीय गदर के फैलने के कारण इसका निरसन और आगामी वर्ष में एक नए अधिनियम का पारण आवश्यक हो गया। उस अधिनियम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को समाप्त कर दिया, रानी विक्टोरिया को भारत की प्रभु उद्घोषित किया (सम्राज्ञी की उपाधि सन् १८७७ तक धारण नहीं की गई थी), भारत के सचिव (सेक्रेटरी फॉर इंडिया) का एक पृथक् पद निर्धारित किया और यह भी व्यवस्था की कि लन्दनस्थित भारत कार्यालय के बोर्ड में एक भारतीय व्यक्ति भाग ले। बाद में एक अतिरिक्त भारतीय व्यक्ति के लिए और व्यवस्था की गई। उक्त अधिनियम की मुख्य बातें ब्रिटिश भारत की सरकार का आधार बनी रहीं, हालांकि उसमें समय-समय पर पारित अनेक विधियों द्वारा संशोधन किए गए जिनका उद्देश्य धीरे-धीरे एक कम निरंकुश शासन का विकास करना था। ब्रिटिश भारत के गवर्नर-जनरल और विभिन्न प्रांतों के, जिनमें ब्रिटिश भारत विभाजित किया गया था, गवर्नरों को विधिनिर्माण और प्रशासन तक के कार्य में सहायता के लिए ऐसी संस्थाओं की रचना की गई जिनके सदस्य भारतीय समाज के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए भाग में से लिए जाते थे। सन् १८६१, १८९२, १९०९, और प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान में, भारतीय परिषद् अधिनियमों (इंडियन कौंसिल्स एक्ट्स) के द्वारा आंशिक रूप में प्रतिनिधि-सभाओं के माध्यम से भारतीयों द्वारा अपने देश के शासन के कार्य में वाइसराय की परिषद् और प्रांतीय गवर्नरों की परिषदों दोनों में ही भाग लेने की प्रथा क्रमिक रूप से विकसित हुई। यह व्यवस्था सन् १९१९ के जब लॉर्ड चेम्सफोर्ड वाइसराय और एडविन मॉण्टेग्यू राज्यसचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) थे, भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट) में चरम सीमा को प्राप्त हुई।

इस अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया था कि ब्रिटेन का उद्देश्य प्रशासन में भारतीयों का उत्तरोत्तर अधिक सहयोग प्राप्त करना तथा साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप में ब्रिटिश भारत में स्व-शासी संस्थाओं का क्रमिक विकास करना और भारत के प्रांतों को भारत सरकार से अधिकाधिक ऐसे स्वतंत्र अधिकार देना है, जिससे उसके उत्तरदायित्वों

का सम्यक् निर्वाह भी होता रहे। केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र में इस अधिनियम द्वारा एक उच्च सदन की स्थापना की गई, जो कि राज्य-परिषद् (कौन्सिल ऑफ स्टेट) कहलाया और जिसमें साठ सदस्य थे, जिनमे से कुछ निर्वाचित होते थे और शेष नाम-निर्देशित (तथा इनमें बीस से अधिक सरकारी सदस्य नही हो सकते थे)। इसी अधिनियम द्वारा १४० सदस्यों की एक विधानसभा (लेजिस्लेटिव असेंबली) की स्थापना की गई, जिसके सौ सदस्य निर्वाचित होते थे और शेष नाम-निर्देशित (जिनमें से छब्बीस से अधिक सरकारी नही हो सकते थे)। परिषद् की अवधि पांच वर्षो की तथा विधानसभा की अवधि तीन वर्षो की थी, परन्तु उनमें से कोई भी अथवा दोनों ही इससे पूर्व ही वाइसराय के द्वारा विघटित की जा सकती थीं। पहले तो उनकी शक्तियां बिलकुल नाममात्र की थी। कार्यपालिका परिषद्, जो वास्तविक सत्ता थी और जिसके साथ गवर्नर-जनरल कार्य करता था, उनके प्रति उत्तरदायी नही थी, परन्तु उसका प्रत्येक सदस्य राज्य-परिषद् अथवा विधानसभा में अनिवार्य रूप से स्थान ग्रहण करता था। साधारण विधायन दोनों सदनों द्वारा होता था जिसमें वित्तसंबंधी कुछ विषय भी थे। परन्तु वाइसराय किसी भी ऐसे अधिनियम को बना सकता था, जिसके विषय में वे अपनी अनुमति देने से इनकार करते, और, साथ ही, वह किसी भी ऐसे अधिनियम को जिसे वे बनाते, निषिद्ध कर सकता था।

सन् १९१९ के अधिनियम ने वास्तविक स्व-शासन का सूत्रपात उन आठ मुख्य प्रांतों में किया, जिनमें से हर एक में गवर्नर उन विषयों का प्रशासन करता था, जो गवर्नर-जनरल के अधिकार के अधीन नहीं होते थे। इन प्रांतों में से हर एक में उत्तरदायी सरकार का वह सिद्धांत (हालांकि हलके ही रूप में) अपनाया गया जो कि उन डॉमिनियनों में चालू था जिनके संविधानों का हम अध्ययन कर चुके है। हर एक प्रांत में एक गवर्नर, एक कार्यपालिका परिषद् और एक विधानपरिषद् होती थी। हर एक विधानपरिषद् के सदस्यों के कम-से-कम ७० प्रतिशत निर्वाचित होते थे (यह संख्या हर एक प्रांत में विभिन्न थी; बंगाल में १२५ थी तो असम में ५३ ही थी), और शेष सदस्य निर्देशित होते थे। परिषद् की अवधि, यदि वह पहले ही विघटित न कर दी जाती, तीन वर्ष की थी। प्रांत के विषय दो प्रकारों में विभक्त थे: रक्षित और हस्तांतरित। इनमें से प्रथम प्रकार के विषयों का प्रशासन गवर्नर और कार्यपालिका परिषद् के द्वारा होता था, परन्तु दूसरे प्रकार के विषयों का प्रशासन गवर्नर ऐसे मंत्रियों के परामर्श से करता था जो विधानपरिषद् के निर्वाचित सदस्यों में से लिए जाते थे और जो परिषद् के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस अधिनियम की अवधि दस वर्ष की थी, उसके उपरान्त उसकी कार्यवाही का इस दृष्टि से पुनरीक्षण होना था कि उसे प्रगतिशील दिशा में किस भांति परिवर्तित किया जा सकता है।

इंगलैंड के उदार विचारों वाले पुरुषों तथा महिलाओं को सन् १९१९ के भारत शासन अधिनियम में एक ऐसे बीज के अस्तित्व का दर्शन हुआ, जो पूर्णावस्था में उत्तरदायी संघीय सरकार के मनोरम पुष्प के रूप में प्रस्फुटित हो सकता था। यह सत्य है कि गवर्नर-जनरल की

शक्तियां बहुत बड़ी थीं, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में उसे एक पूर्णतया निर्वाचित विधान-मंडल के प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व की स्थिति में रखना, जो स्व-शासी डॉमिनियनों में उत्तर-दायी सरकार का सार है, खतरनाक होता। परन्तु भारत उन डॉमिनियनों से बहुत भिन्न था और है। यह केवल देश मात्र ही नही बल्कि एक महाद्वीप है, जिसमें तीस करोड से अधिक ऐसे लोग रहते हैं जो सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विरोध की दलदल में फंसे हुए हैं। उसकी जनता का विशाल समुदाय अशिक्षित था और है, तथा उसमें से कुछ अस्पृश्य हैं, जो कि अभी हाल तक[1] जाति-प्रणाली के अधीन मनुष्य से हीन समझे जाते रहे हैं। अतएव, उसमें उन आवश्यक तत्त्वों का अभाव था और है, जिनसे एक राष्ट्रीय राज्य की रचना होती है।

तो भी ब्रिटिश सरकार सन् १९१९ के अधिनियम के पारण से दस वर्षो के भीतर स्थिति का पुनरीक्षण करने के अपने वचन को पूरा करने को तत्पर थी, और सन् १९२८ में इस पुनरीक्षण की संभावनाओं की जांच करने के लिए साइमन कमीशन को भारत भेजा गया। उक्त आयोग के प्रतिवेदन और उसके उपरान्त होनेवाले विचार-विमर्श के फल-स्वरूप एक विशाल जन-समूह के स्व-शासन के क्षेत्र में एक नए रोमांचकारी प्रयास का समारम्भ हुआ, जो उस समय संसार के इतिहास में अत्यन्त साहसपूर्ण राजनीतिक प्रयोग प्रतीत होता था। भारत और ब्रिटेन में सात वर्षो के विचार-विमर्श के पश्चात् सन् १९३५ में एक नया भारत शासन अधिनियम पारित हुआ। यह एक घने छपे हुए लगभग १०० पृष्ठों का विशाल दस्तावेज था। एक दृष्टि से तो इस अधिनियम ने एक बिलकुल ही नवीन प्रयोग का सूत्रपात किया, अर्थात् अखिलभारतीय संघ का प्रयोग। दूसरी दृष्टि से, प्रांतों के संबंध में, इससे उन राजनीतिक अधिकारों और शक्तियों के विकास और विस्तार की व्यवस्था हुई जो सन् १९१९ के अधिनियम के अधीन पहले ही प्रदान किए जा चुके तथा प्रयुक्त हो चुके थे। यह अधिनियम, जहां तक कि उसका सम्बन्ध प्रांतीय स्वायत्त शासन से था, सन् १९३७ के अप्रैल में प्रवर्त्तनशील हुआ। जिन प्रांतों को स्वायत्त शासन प्रदान किया गया था, वे गवर्नर के प्रांत कहलाए (ये उस समय ग्यारह थे)। वे दो वर्गो में विभक्त किए गए। एक वर्ग मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्तप्रांत, बिहार और असम का था, और दूसरा वर्ग शेष पांच प्रांतों का था। उपर्युक्त छह प्रांतों में दो सदन थे: एक विधानपरिषद् और दूसरा विधानसभा, और शेष में केवल एक विधानसभा थी। इनमें से हर एक में गवर्नर राजा का प्रतिनिधित्व करता था और उसकी सहायता और परामर्श के लिए एक मंत्रिपरिषद् जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी थी। गवर्नर को अपने ऐसे मंत्री चुनने होते थे उसके विचार में विधानमंडल का समर्थन मिलने की संभावना हो। उसको उन विषयों

[1] सन् १९५० के भारतसंघ के संविधान के अधीन अस्पृश्यता को समाप्त जा चुका है और उसके निरन्तर व्यवहार को दंडनीय कर दिया गया है। पृष्ठ २८२-८३।

सिवाय, जिनके लिए वह स्वयं सीधे उत्तरदायी था, जैसे कि प्रांत की सुरक्षा अथवा गवर्नर-जनरल से प्राप्त वे आदेश, जो कि उसके मंत्रिगण के विचारों से मेल न खाते हों, समस्त प्रांतीय मामलों में मंत्रियों का परामर्श लेना होता था।

इस अधिनियम में यह निर्धारित था कि प्रांतीय विधानसभाएं किस भांति संगठित की जाएंगी और निर्वाचकगण कौन होंगे। मुख्यतया संपत्ति पर आधारित कतिपय अर्हताओं से युक्त इक्कीस अथवा इससे अधिक वर्षों की आयु के नर और नारियों को मताधिकार प्रदान किया गया था और प्रत्येक प्रांत में निर्वाचन-क्षेत्रों की इस भांति व्यवस्था की गई थी कि विभिन्न प्रजातियों, जातियों और विशेष हितों को प्रतिनिधित्व मिल सके। इस भांति भारत के तीन करोड़ से अधिक देशवासियों को, जिनमें चालीस लाख से अधिक स्त्रियां भी थी, मताधिकार प्रदान किया गया। इस अधिनियम के अधीन प्रथम साधारण निर्वाचन सन् १९३७ में हुआ, और निर्वाचकगणों की विशाल बहुसंख्या अशिक्षित होते हुए भी निर्वाचन से जनता में भारी उत्साह उत्पन्न हुआ और पचास प्रतिशत से भी अधिक मतदाताओं ने मतदान किया। यह एक ऐसा अनुपात था जिसकी तुलना ब्रिटेन के कुछ निर्वाचनों के अनुपात से भलीभांति की जा सकती है।

स्पष्ट है कि यह योजना सन् १९१९ के अधिनियम वाली योजना से बहुत दूरगामी थी। यह उस व्यवस्था के बहुत समीप थी जो डॉमिनियनों में प्रयुक्त उत्तरदायी सरकार के नाम से ज्ञात है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां सन् १९१९ के अधिनियम के अधीन शक्तियां रक्षित तथा हस्तांतरित में विभाजित थीं, और केवल हस्तांतरित शक्तियां ही उत्तरदायी मंत्रियों के अधिकार में थी, सन् १९३५ के अधिनियम में इन शक्तियों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया और उनमें उन विषयों के अतिरिक्त जो गवर्नर के विवेक के लिए सुरक्षित थे, सभी अन्य विषय सम्मिलित हो गए। अतएव, यह स्पष्ट है कि डरहम रिपोर्ट[1] के फलस्वरूप सन् १८४० के पश्चात् कनाडा में जैसी मंत्रिमंडलीय सरकार विद्यमान थी, वैसी ही मंत्रिमंडलीय सरकार का प्रारम्भिक रूप यहां स्थापित हो गया, जो सहानुभूति रखनेवाले गवर्नरों की सहायता एवं पथ-प्रदर्शन से तथा विधानमंडल के दलों की सीखने और सहयोग करने की तैयारी होने पर धीरे-धीरे पूर्ण उत्तरदायी शासन के रूप में विकसित हो सकता था।

भारतीय संघ का विचार बिलकुल नया था। इस अधिनियम के अधीन अखिलभारतीय संघ के सदस्य, गवर्नरों के प्रांत, कमिश्नरों के प्रांत (ऊपर उल्लिखित ग्यारह प्रांतों के अतिरिक्त ब्रिटिश भारत के अन्य भाग) और इसमें सम्मिलित होने में सहमत देशी रियासतें थीं। इस संघ का जन्म राजकीय उद्घोषणा द्वारा सूचित किए जानेवाले दिन होना था और इरादा समस्त देशी राज्यों की संपूर्ण प्रजा के आधे से अन्यून का प्रतिनिधित्व करनेवाले

---

[1] पूर्व के पृष्ठ २०८–०९ देखिए।

राज्यों के शासकों के, जो संघीय विधानमंडल में आधे से अन्यून स्थानों के अधिकारी होते, इसमें सम्मिलित होने के लिए राजी होते ही इस संघीय योजना का समारंभ कर देने का था।

इस अधिनियम के अधीन संघ-सरकार में गवर्नर-जनरल और दो भवनों, अर्थात् राज्य-परिषद् और विधानसभा, वाला विधानमंडल होना था। उच्च सदन में ब्रिटिश भारत के १५६ प्रतिनिधि, जिनमें से अधिकांश का निर्वाचन लगभग १००,००० व्यक्तियों के निर्वाचक-मंडल के द्वारा होना था, और देशी राज्यों के शासकों द्वारा निर्देशित १०४ से अनधिक प्रतिनिधि होने थे। विधानसभा में प्रांतीय विधानमंडलों द्वारा चुने हुए ब्रिटिश भारत के २५० प्रतिनिधि और देशी राज्यों के १२५ से अनधिक प्रतिनिधि होने थे और हर एक राज्य या राज्यों के वर्ग के लिए स्थानों का बंटवारा उनकी अपनी जनसंख्या के अनुपात में होना था। निम्न सदन के निर्वाचन के लिए मताधिकार, जहां तक कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों से सम्बन्ध था, वास्तविक रूप से प्रांतीय विधानमंडलों के ही समान था; केवल शैक्षणिक योग्यता ही बढ़ा दी गई थी। इस भांति मताधिकार प्राप्त करनेवाले भारतीयों की संख्या अनेक लाख नर-नारियों तक पहुंच गई थी।

इस संघ की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर-जनरल के द्वारा होना था, जिसकी सहायता और परामर्श के लिए एक मंत्रिपरिषद् थी जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी थी। परन्तु कुछ विभाग—यथा प्रतिरक्षा, वैदेशिक कार्य तथा चर्च-प्रशासन—गवर्नर-जनरल के वैयक्तिक नियंत्रण में रहने थे। इसके अतिरिक्त आन्तरिक शांति को खतरा, वित्तीय स्थिरता, अल्पसंख्यकों के हित, देशी राज्यों के अधिकारों के संरक्षण और वाणिज्यिक भेदभाव के निवारण जैसे विषयों के सम्बन्ध में 'विशेष उत्तरदायित्व' के निर्वाह का भार भी गवर्नर-जनरल पर था; परन्तु इन मामलों में भी मंत्रि-परिषद् से परामर्श करने से वह तभी इनकार कर सकता था, जब वह अनुभव करता कि ऐसा करना सामान्य हित के विरुद्ध होगा। शेष विषयों के सम्बन्ध में, सन् १९३५ के अधिनियम के अधीन, भारत के संघीय राज्य में सामान्य अर्थ में मंत्रिमंडलीय सरकार को ही काम करना था।

इस भांति आयोजित संघीय प्रणाली की पृष्ठभूमि उस पृष्ठभूमि से बिलकुल विभिन्न थी, जिसपर अन्य संघ, जसा हम पहले देख चुके हैं, साधारणतया आधारित होते हैं। क्योंकि संघबद्ध की जानेवाली इकाइयां केवल अपने इतिहास और मौजूदा स्वरूप में ही बिलकुल विभिन्न नहीं थीं, वरंच वे साम्राज्यिक सरकार के साथ अपने संबंध में भी बिलकुल भिन्न थीं और जब कि ब्रिटिश भारत के प्रांतों की केवल वे ही शक्तियां और कार्य थे जो उन्हें दिए गए थे, वहां देशी राज्यों के ऊपर साम्राज्यिक शक्ति का नियंत्रण साधारणतया बाह्य संबंधों तक ही सीमित था। वास्तव में, अखिलभारतीय संघ का अभिप्राय ऐसे महाद्वीप का संगठन था, जो उदाहरणार्थ यूरोप के महाद्वीप की तुलना में भी प्रजाति, इतिहास, भाषा, संस्कृति और धर्म में अधिक बहुरूपीय था।

ब्रिटिश भारत को स्व-शासी डॉमिनियन बनाने की योजना तथा सन् १९३५ के अधिनियम में परिकल्पित अखिलभारतीय संघ की स्थापना को कार्यान्वित होना नहीं बदा था। महायुद्ध के पश्चात् यह योजना पुरानी पड़ गई। इसके पश्चात् और भी अधिक अधिकारों की मांग के द्वारा यह पीछे ढकेल दी गई और नई माग वास्तव मे पूर्ण स्वाधीनता से कम नहीं थी। यह मांग हमेशा ही भारत के कट्टर राष्ट्रवादियों के दिमाग में थी, जिन्होंने प्रारम्भ से ही सन् १९३५ के अधिनियम के द्वारा स्थापित प्रांतीय विधानसभाओ का बहिष्कार किया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप, जिसने संपूर्ण एशिया मे राष्ट्रीयता की एक नई लहर कर दी, वह और भी अधिक प्रबल हो गई।

यह देखकर कि सन् १९३५ की योजना पिछड़ चुकी है, ब्रिटिश सरकार ने सन् १९४६ में भारत को एक मंत्रिपरिषदीय शिष्टमंडल (केबिनेट मिशन) भेजा, जिसने तीन महीनों तक भारत के समस्त दलों के नेताओं के साथ परामर्श करके सिफारिश की कि भारत का भावी संविधान ऐसी संविधान-सभा द्वारा निर्मित किया जाना चाहिए जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के समस्त संप्रदायों और हितों के प्रतिनिधि हों। ब्रिटेन के इस नए रुख के फलस्वरूप केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ, जिसमें मुख्य संप्रदायों के राजनीतिक नेता सम्मिलित थे और जो विद्यमान संविधान के अन्तर्गत विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती थी। इस प्रकार, प्रारंभ में भारतीय लोग भारतीय सरकारों के, जो कि समस्त प्रांतों के विधानमंडलो के प्रति उत्तरदायी थी, संचालन में सहयोग देने को तत्पर दिखाई दिए। परन्तु शीघ्र ही दो मुख्य भारतीय दलों—हिन्दू (कांग्रेस दल) और मुस्लिम (मुस्लिम लीग) के बीच एक आधारभूत अन्तर प्रकट हुआ। मुस्लिम लीग ने अपने को अन्तरिम सरकार से पृथक् कर लिया और घोषणा की कि वे देश के विभाजन और पृथक् मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) के निर्माण से कम किसी भी बात को स्वीकार नहीं करेंगे ताकि उन क्षेत्रों में जहां पर कि वे बहुसंख्यक हैं, मुसलमानों की स्वतन्त्रता सुनिश्चित हो जाए। इस पर फरवरी सन् १९४७ में इंगलेंड के प्रधान मंत्री ने हाउस आफ कॉमन्स (लोकसभा) में यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित इरादा है कि वह "जून सन् १९४८ से पूर्व ही उत्तरदायी भारतीयों को शक्ति हस्तांतरित करने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी।"

इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय नेताओं ने अपने मतभेदों को निपटाने में शीघ्रता की; परंतु इसका पूर्णतया अप्रत्याशित परिणाम निकला। उन्होंने पूर्ण स्वाधीनता के विचार को छोड़ दिया और इसके स्थान पर वे इस बात पर राजी हो गए कि देश को अंगरेजी ताज के अधीन दो स्व-शासी डॉमिनियनों (भारत और पाकिस्तान) में विभाजित कर लिया जाए। ब्रिटेन की संसद् ने तुरंत ही आवश्यक विधान पारित कर दिया और अगस्त सन् १९४७[1] में ही दोनों डॉमिनियनों की स्थापना हो गई। अब तात्कालिक प्रश्न यह था कि

[1] **भारत में इन दिनों स्व-शासी डॉमिनियनों की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। भारत राज्यसचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) के नब्बे वर्ष पुराने पद**

इस भांति शीघ्रता से सृजित राज्यों में, जो संविधान से रहित थे, किस भांति सांविधानिक प्रक्रिया को प्रारम्भ किया जाए। उस समय केवल दो संविधान-निर्मात्री सभाएं थीं, जिनमें एक सन् १९४६ के कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित योजना के अधीन भारत के लिए स्थापित सभा थी और दूसरी वह सभा थी जिसकी मुसलमानों ने उस समय रचना की थी जब उन्होंने संयुक्त भारत के सृजन में हिन्दुओं के साथ सहयोग न करना निश्चित किया था। इस कठिनाई को इस भांति हल किया गया कि दोनों नए डॉमिनियनों के वास्ते सन १९३५ के भारत के अधिनियम को आवश्यक परिवर्तनों के साथ अस्थायी तौर पर मूल संविधान के रूप में अंगीकार कर लिया गया और दोनों संविधान-सभाओं को संसदों का पद प्रदान कर दिया गया।

भारतीय संविधान-सभा ने, जो कि भारत डॉमिनियन की अस्थायी संसद् बन चुकी थी, नए संविधान पर विचार करने में अधिक समय नहीं लगाया और नए सविधान का मसौदा नवम्बर सन् १९४८ में सभा में प्रस्तुत कर दिया गया। सन् १९४९ के शरत्काल में भारत ने गणतंत्र बनने का आशय घोषित किया, हालांकि उसी समय उसने ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहने की इच्छा भी अभिव्यक्त की, जिस पर ब्रिटिश संसद् ने कोई आपत्ति नहीं की। फलस्वरूप, नवम्बर सन् १९४९ में जब नया संविधान अनुमोदित हुआ और जनवरी सन् १९५० में प्रभावशील हुआ, तो वह राजा का प्रतिनिधित्व करनेवाले गवर्नर-जनरल से युक्त स्व-शासी डॉमिनियन को लागू न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति से युक्त एक स्वतंत्र गणतंत्र को लागू हुआ। भारतीय संघ के गणतंत्र में अट्ठाईस राज्य हैं; इनमें से नौ तो मूल गवर्नरों के प्रांत हैं, दस कमिश्नरों के पूर्ववर्त्ती प्रांत हैं, और शेष नौ सम्पूर्ण या आंशिक रूप में पहले के देशी राज्य हैं। पूर्ववर्त्ती प्रांत तथा राज्य अपने पुराने नाम से ही पुकारे जाते हैं। परन्तु कुछ पूर्ववर्त्ती देशी राज्य पूर्ववर्त्ती प्रांतों में विलीन हो चुके हैं और ऐसी सम्मिलित राजनीतिक इकाइयां 'यूनियन' कहलाती हैं। संघ की इन इकाइयों—प्रांतों, देशी राज्यों और यूनियनों—में से हर एक में एक राज्यपाल है, जिसकी नियुक्ति गणतंत्र के राष्ट्रपति के द्वारा होती है; और प्रत्येक में एकसदनी या द्विसदनी विधानमंडल है जिनकी शक्तियों का संविधान में निरूपण किया गया है। संघीय विधानमंडल में एक द्वितीय सदन है, जो **राज्यसभा** कहलाता है और एक निम्न सदन है जो **लोकसभा** कहलाता है। राज्यसभा में २५० से अनधिक सदस्य हैं, जिनका निर्वाचन आनुपातिक रूप से विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों के द्वारा होता है, हालांकि जहां द्विसदनी विधानमंडल है वहां केवल निम्न सदन के द्वारा ही होता है। यह एक स्थायी निकाय है जिसका विघटन नहीं होता, और इसके एक-तिहाई सदस्य अमरीकी सिनेटरों के समान प्रति दूसरे वर्ष पदमुक्त हो जाते हैं। लोकसभा में ५०० से अनधिक सदस्य हैं

की समाप्ति हुई और भारतसंबंधी शेष कार्य सन् १९४७ में नियुक्त सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर कॉमनवेल्थ रिलेशन्स को सौंप दिए गए। इसके साथ ही राजकीय उपाधि में से 'सम्राट्' शब्द निकाल दिया गया।

जो इक्कीस वर्ष और उससे अधिक आयु के स्त्री और पुरुष मतदाताओं द्वारा निर्वाचित होते हैं। ऐसे निर्वाचकों की संख्या १७ करोड़ के लगभग अथवा सम्पूर्ण जनसंख्या की लगभग आधी है। इस सदन की अवधि पांच वर्ष है, हालांकि इससे पूर्व भी इसका विघटन हो सकता है।

राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति का (जो अमरीका के उप-राष्ट्रपति के समान ही राज्यसभा का पदेन सभापति है) निर्वाचन संघीय तथा राज्यीय विधानमंडलों के समस्त सदस्यों से निर्मित निर्वाचक-मंडल के द्वारा होता है। उसकी अवधि पांच वर्ष की होती है, परंतु उसका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है। फ्रांस तथा जर्मन गणतंत्रों के राष्ट्रपति के समान वह भी प्रधान मत्री तथा मन्त्रिमंडल के माध्यम से कार्य करता है, जो संघीय संसद के प्रति उत्तरदायी हैं। संघीय संसद् का प्रथम सामान्य निर्वाचन सन् १९५२ की जनवरी की ३ तारीख से लेकर २४ तारीख तक के दौरान में होनेवाला है और यह आशा की जाती है कि इस सविधान के अधीन प्रथम ससद् मार्च सन् १९५२ की समाप्ति के पहले ही बुलाई जाएगी जब कि संविधान-सभा अपनी अस्थायी शक्तियों को अन्तिम रूप से उत्सर्जन कर देगी।[1]

भारतसंघ के समान ही, पाकिस्तान भी पूर्ववर्त्ती ब्रिटिश प्रातों और देशी राज्यों का संघ है। इनमें पश्चिमी पजाब, सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, पूर्व बंगाल और बिलोचिस्तान तथा भावलपुर और खैरपूर हैं। किन्तु, यह, भारत से भिन्न, ब्रिटिश ताज के अधीन स्व-शासी डॉमिनियन ही बना रहा, जैसा कि सन् १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के द्वारा बना था। उसका एक गवर्नर-जनरल है, जो मुसलमान होता है, और जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी प्रधान मंत्री एवं मंत्रिमडल के माध्यम से कार्य करता है। भारतसघ के समान ही, पाकिस्तानसंघ की संविधान-सभा को तब तक के लिए पूरी विधायिनी शक्तियां प्राप्त हैं जब तक कि नए संविधान के अधीन संसद् का निर्माण नहीं हो जाता। यह संविधान जनवरी सन् १९५० में औपचारिक रूप से उद्घोषित हो चुका था, परन्तु जहा भारत का सविधान प्रभुत्वसंपन्न लोकतत्रात्मक गणतंत्र के लिए रचित शासन का एक बिलकुल नया लेखपत्र है, वहां पाकिस्तान का संविधान सन् १९३५ का भारत शासन अधिनियम ही है, जिसमे एक पृथक् परन्तु पूर्णरूपेण स्व-शासी डॉमिनियन की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल सशोधन कर लिया गया है।

नए संविधान के अधीन संघीय विधानमंडल समस्त पाकिस्तान के या उसके किसी

---

[1] **यह ग्रन्थ भारत के प्रथम सामान्य निर्वाचन के पहले लिखा गया था। गत वर्ष (सन् १९५७) के आरंभ (फर्वरी-मार्च) में द्वितीय सामान्य निर्वाचन भी हो चुका है। सन् १९५६ में संघ के विधायक राज्यों का भी पुनर्गठन हो चुका है, जिसके अनुसार अब भारत में २८ राज्यों के स्थान पर केवल १४ राज्य और ६ संघीय प्रदेश हैं। केवल राज्य ही संघ की अंगभूत इकाइयां है। संघीय प्रदेशों का शासन संघ-सरकार के अधीन है।**

भाग के लिए और प्रांतीय विधानमंडल प्रांत के या उसके किसी भाग के लिए यथासंशोधित सन् १९३५ के अधिनियम की अनुसूची में दी हुई संघीय तथा प्रांतीय शक्तियों की सूचियों के अधीन रहते हुए कानून बना सकता है। प्रत्येक प्रात में एक गवर्नर है जो एक एकसदनी प्रांतीय विधानमंडल के प्रति, जो लेजिस्लेटिव एसेम्बली कहलाता है, उत्तरदायी मंत्रियों के माध्यम से कार्य करता है। यदि वह पहले ही विघटित न कर दी जाए, तो उसकी कार्यावधि पांच वर्ष की है। प्रत्येक सभा के स्थान विभिन्न अनुपातों में अनुसूचित जातियों के बीच वितरित हैं, और कहीं-कही तो ऐसे स्थान भी उनके अन्तर्गत हैं जो विशिष्ट रूप से महिलाओं के लिए निर्दिष्ट किए गए है।*

इन दोनों नए राज्यों के सामने सांविधानिक कठिनाइयां प्रत्यक्षतः बहुत भारी है, परन्तु उनपर धीरे-धीरे विजय प्राप्त की जा रही है। इन स्वतन्त्रताप्राप्त एशियाई लोगों के द्वारा उन राजनीतिक शिक्षाओं के, जो उन्होंने ब्रिटेन के संरक्षण में प्राप्त की हैं, प्रयोग को ब्रिटेन सहानुभूति तथा दिलचस्पी के साथ देखेगा।

३. ब्रिटिश उपनिवेश

ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य के विभिन्न भागों में भी राजनीतिक शिक्षा तथा व्यवहार की वैसी ही समयानुकूल नीति का अनुसरण किया जा रहा है जो ब्रिटिश भारत के उत्तरवर्त्ती इतिहास की विशिष्टता रही है। इस साम्राज्य में पेंतालीस प्रदेश हैं जो सभी लगभग उष्ण कटिबन्ध में स्थित हैं। वे पेंतीस गवर्नरों के अधीन है और उनकी जनसंख्या अनुमानतः छह तथा सात करोड़ के बीच है। ये प्रदेश क्षेत्रफल में बड़े विभिन्न हैं; इनमें एक ओर नाइजीरिया का विस्तृत प्रदेश है, जिसका क्षेत्रफल लगभग ४००,००० वर्गमील है, और दूसरी ओर जिब्राल्टर है, जो कि केवल २$\frac{1}{4}$ वर्गमील का ही है। वर्त्तमान औपनिवेशिक पद्धति का सामान्य राजनीतिक आदर्श धीरे-धीरे स्व-शासन प्रदान करना है। अधिकांश उपनिवेशों में हम संविधानवाद के बीज देख सकते हैं; हालाकि इनमें से कुछ उपनिवेश गर्भावस्था की मंजिल को भलीभांति पार कर चुके है। इनमें हम शासन के तीनों विभागों की परीक्षा करके यह देखेंगे कि वे किस भांति एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक उपनिवेश में एक विधानमंडल होता है जो कहीं आंशिक या पूर्ण-रूपेण निर्वाचित सदस्यों वाले एक सदन का होता है, और कहीं दो सदनों का होता है जिनमें निम्नसदन पूर्णतया निर्वाचित होता है। कार्यपालिका के अन्तर्गत गवर्नर होता है, जिसकी सहायता के लिए कार्यपालिका परिषद् होती है जो कुछ अवस्थाओं में पूर्णतया मुकुट के द्वारा नियुक्त होती है; और कुछ में आंशिक रूप से स्थानीय हितों के द्वारा

*** पाकिस्तान का नया संविधान बन गया है। वह 'इस्लामिक गणतंत्र' बन गया है और भारत के समान ही कॉमनवेल्थ का सदस्य बना हुआ है। अब वहां गवर्नर-जनरल की जगह निर्वाचित प्रेसिडेंट है।**

निर्देशित होती है तथा कुछ में आंशिक रूप से विधानमंडल के द्वारा निर्वाचित होती है। यह एक ऐसा सुधार है जो कि अभी किया गया है। उदाहरण के लिए ट्रिनिडाड में निर्वाचित सदस्य बहुसंख्या में होते हैं, जेमाइका में उनकी सख्या निर्देशित सदस्यों के बराबर होती है, और मॉरीशस में वे अल्प संख्या मे हैं। इसके अतिरिक्त, हर एक उपनिवेश में एक न्यायपालिका भी होती है, जिसके सदस्यो की नियुक्ति मुकुट द्वारा की जाती है, और वे 'सदाचार की अवधि' तक अपने पद पर बने रहते हैं; क्योंकि इन सब उपनिवेशों में भी ब्रिटेन तथा समस्त स्व-शासी डॉमिनियनों की तरह विधि का शासन लागू है।

हम उपनिवेशों के सांविधानिक विकासों को औपनिवेशिक विधानमंडलों में स्थानीय प्रतिनिधित्व के बढते हुए मान के माध्यम से समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए, इस मान का प्रारंभिक स्तर उत्तरी बोर्नियो में है, जहा तेईस सदस्यों की एक परामर्शदात्री परिषद् है, जिनमें से आठ शासकीय यूरोपीय, चार अ-शासकीय यूरोपीय, सात स्थानीय मूल निवासी और चार चीनी हैं। क्रम के अनुसार इसके पश्चात् हांगकांग का नम्बर आता है जिसकी विधानपरिषद् में सत्रह सदस्य हैं, जिनमें से नौ शासकीय और आठ अ-शासकीय हैं। इससे थोड़ा ही ऊपर नाइजीरिया का स्तर है जिसकी चवालीस सदस्यों की विधानसभा में तेरह शासकीय, नौ अ-शासकीय और चार निर्वाचित सदस्य हैं और शेष अठारह उन तीन प्रदेशों की, जिनमें कि उपनिवेश विभाजित है, विधानसभाओं के और उत्तरी मुखियाओं के द्वारा नाम-निर्दिष्ट व्यक्ति हैं। इसके पश्चात् उपनिवेशों की वह श्रेणी है जिनकी विधान-परिषदों में शासकीय और निर्देशित सदस्यों की बहुसंख्या और निर्वाचित सदस्यों की अल्पसंख्या है। इस प्रकार के उदाहरणों में फिजी, केनिया, लीवर्ड द्वीप और ब्रिटिश हांडुरस हैं जिनमें निर्वाचित सदस्यों का अनुपात क्रमशः बढ़ता गया है। सिंगापुर में निर्वाचित और निर्देशित सदस्यों की संख्याएं तो बराबर हैं, परन्तु मताधिकार बहुत मर्यादित है।

इसके पश्चात् वह वर्ग आता है जिसमें कि प्रत्येक उपनिवेश में एक विधानपरिषद् है जिसमें निर्वाचित सदस्यों की बहुसंख्या है। इस प्रकार के उदाहरण मॉरीशस, ग्रेनेडा, ब्रिटिश ग्याना, ट्रिनिडाड तथा गोल्ड कोस्ट हैं। गोल्ड कोस्ट सन् १९४६ के नए संविधान के अधीन ऐसा प्रथम अफ्रीकी उपनिवेश था जिसके विधानमंडल में देशीय निर्वाचित सदस्यों की बहुसंख्या थी।* औपनिवेशिक अफ्रीका में सांविधानिक प्रगति का इससे भी बढ़कर मार्के का उदाहरण सियरा लियोन है, जिसमें सन् १९४८ के नए संविधान के अधीन एकसदनी विधानमंडल है जिसके तीसों सदस्य निर्वाचित हैं। वेस्ट इंडीज में उपनिवेशों के ऐसे चार उदाहरण हैं, जिनमें से प्रत्येक में द्विसदनी विधानमंडल है, जिसका उच्च सदन ताज अथवा गवर्नर के द्वारा नाम-निर्देशित होता है परन्तु निम्न सदन (जिसके विभिन्न

*** अभी हाल (मार्च सन् १९५७) ही में यह उपनिवेश घाना के नाम से स्व-शासी डॉमिनियन बन गया है।**

नाम---प्रतिनिधि-सभा, विधानसभा, और प्रतिनिधि-सदन---हैं) पूर्णरूपेण निर्वाचित होता है। ये उपनिवेश जेमाइका, बारबेडोज, बर्मुडा और बहामास हैं। एक विशिष्ट सम्भावना, जिसपर आजकल गंभीर विचार हो रहा है, यह है कि ब्रिटिश वेस्ट इंडीज के मुख्य उपनिवेश अपना एक संघ बना लें। इस योजना की सिद्धि से निस्संदेह स्व-शासन के प्रदान में शीघ्रता होगी, क्योंकि यह स्पष्ट है कि ये अपेक्षाकृत छोटे उपनिवेश पृथक् रहने के बजाय संघबद्ध होकर ही अधिक क्षमता के साथ ऐसे सांविधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकेंगे।

औपनिवेशिक स्थिति से लेकर डॉमिनियन स्थिति तक के विकास की प्रक्रिया श्रीलका के प्रसंग में भलीभांति दिखाई देती है, जहां सन् १९२३ से लेकर १९३१ तक ऐसी विधानपरिषद् थी जिसकी शक्तियां बड़ी मर्यादित थीं। सन् १९३१ में, एक परिषदादेश द्वारा नई राज्य-परिषद् का गठन हुआ। इस राज्य-परिषद् में राज्य के तीन पदाधिकारी, आठ निर्देशित सदस्य और पचास निर्वाचित सदस्य थे। इस एकसदनी प्रणाली के अधीन (जो **'डोनोमोर संविधान'** के नाम से ज्ञात है) श्रीलंका के लोगों को बड़ा लाभकारी राजनीतिक अनुभव प्राप्त हुआ, और जब उन्होंने अधिक सुधारों की मांग की, तो ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड सोलबरी के नेतृत्व में एक जांच कराई तथा सन् १९४५ में श्रीलंका को ब्रिटिश नमूने के आधार पर एक संविधान प्रदान किया जिसमें समस्त घरेलू मामलों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल की व्यवस्था हुई। राज्य-परिषद् के द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर यह नया संविधान सन् १९४७ में प्रभावकारी हुआ।

इसे सभी ने श्रीलंका द्वारा पूर्ण उत्तरदायी स्व-शासन की प्राप्ति के लिए जान-बूझकर तैयारी करना समझा। उसी वर्ष निर्वाचन भी हुए, जिनके फलस्वरूप ऐसी सरकार का जन्म हुआ जो पूर्ण उत्तरदायित्व को संभालने के योग्य समझी गई। फलस्वरूप, सोलबरी संविधान को इस भांति संशोधित किया गया जिससे श्रीलंका को पूर्ण डॉमिनियन पद प्रदान किया जा सके, और ब्रिटिश संसद् ने इसे प्रभावी करने के लिए श्रीलंका स्वतंत्रता अधिनियम पारित किया। स्वतंत्रता अधिनियम के अधीन श्रीलंका की पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता पर एकमात्र मर्यादा कॉमनवेल्थ की प्रतिरक्षा के प्रयोजनों के लिए श्रीलंका के राज्यक्षेत्र के प्रयोग को विनियमित करनेवाले कुछ आवश्यक उपबन्धों द्वारा आरोपित रही, अन्यथा सन् १९४८ में श्रीलंका ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत पूर्णतया स्व-शासी डॉमिनियन बन गया। यह ब्रिटिश साम्राज्यिक इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि श्रीलंका ही मुकुट के उपनिवेश (क्राउन कॉलोनी) का ऐसा प्रथम उदाहरण है जिसे पूर्ण डॉमिनियन पद प्राप्त हुआ, और अन्य उपनिवेशों के लिए एक सम्भव आदर्श के रूप में इस पर बड़ी दिलचस्पी से ध्यान दिया जाएगा।

४. समादेश और न्यासित्व

राजनीतिक रूप से पिछड़े हुए लोगों को प्रगतिशील मंजिलों द्वारा स्व-शासी संस्थाएं

प्रदान करने की नीति ऐसी है, जिस पर औपनिवेशिक शक्तियों को उन लोगों के हित में तथा विश्व-सुरक्षा के आवश्यक उपकरण के अंग के रूप में अधिकाधिक विचार करना चाहिए। अमरीकनों ने इसी नीति को फिलिपाइन्स के संबंध में, जिसे उन्होंने सन् १८९८-९९ में स्पेन से जीता था, अपनी ओर से लागू किया है। वहां सन् १९०७ में संयुक्त-राज्य ने ऐसे एक शासन की स्थापना की, जिसमें फिलिपिनो ने भी भाग लिया। इसके साथ ही उसने प्रतिज्ञा की कि फिलिपाइन्स-निवासियों को स्वतंत्रता के योग्य हो जाने पर स्वतंत्रता मिल जाएगी। इस नीति के अनुसरण में सन् १९३५ में इन द्वीपों को राष्ट्र-मंडलीय कहे जानेवाले पद के अधीन राष्ट्रपति तथा राष्ट्रीय विधानसभा से युक्त एक संविधान प्रदान किया गया, हालांकि उसमें अमरीकी नाविक अड्डों के लिए कुछ संरक्षणों की व्यवस्था की गई थी। साथ ही सन् १९४६ में पूर्ण स्वतंत्रता का भी वचन दिया गया था, जिसे अमरीकियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान से फिलिपाइन्स को पुनः जीतने के पश्चात् पूरा किया।

समादेश-व्यवस्था का, जो कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में सम्मिलित की गई थी, कुछ प्रकार के क्षेत्रों के लिए वैसा ही आशय था, और, हालांकि राष्ट्रसंघ अब नहीं है, फिर भी उसके संविधान का यह स्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में स्थापित संयुक्तराष्ट्रसंघ[1] के अधिकार-पत्र में उल्लिखित न्यास-प्रणाली में पुनः बहुत-कुछ आ गया है। अतएव, पृष्ठभूमि के रूप में इसका संक्षिप्त परीक्षण उपयोगी होगा। राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में यह उपबन्ध किया गया था कि अधिक उन्नत राष्ट्रों को सदस्य के रूप में किसी भी ऐसे प्रदेश के लोगों का, जो स्वावलंबी नहीं है, संरक्षण एक पवित्र न्यास के रूप में ग्रहण करना चाहिए। राष्ट्रसंघ के अधीन समादेश तीन वर्गों में विभाजित किए गए थे, जो कि अधिकृत रूप से ए, बी तथा सी कहलाते थे।

'ए' वर्ग के समादेशों के अन्तर्गत तुर्की के वे सब पिछले प्रदेश थे जिनके लोगों ने विकास की ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली थी कि उनकी स्वतन्त्रता को अस्थायी रूप से इस प्रतिबन्ध के साथ मान्य किया जा सकता था कि समादेशधारी तब तक उनकी सहायता करता तथा उन्हें परामर्श देता रहेगा जब तक कि वे स्वावलंबी न हो जाएं। ऐसे पांच क्षेत्र थे : फ्रांस के अधीन सीरिया तथा लेबेनान, और ब्रिटेन के अधीन ईराक, ट्रांसजोर्डन तथा फिलिस्तीन। ईराक और ट्रांसजोर्डन को क्रमशः सन् १९४१ तथा १९४६ में प्रभुसत्तात्मक राज्य मान्य कर लिया गया था; परन्तु फिलिस्तीन में परिस्थितियां इतनी असहनीय हो गई कि सन् १९४८ में ब्रिटेन हट गया और अव्यवस्था तथा युद्ध के कुछ और समय के पश्चात् सन् १९४९ में इज़राइल स्वतंत्र गणराज्य की स्थापना हुई।

---

[1] **आगे देखिए, अध्याय १६।**

नए स्तर पर रख देता है। इस प्रयोजन के लिए संयुक्तराष्ट्र ने एक न्यास-परिषद् की स्थापना की है, जो उसके मुख्य अवयवों में से अंतिम थी और जिसका प्रथम अधिवेशन अप्रैल सन् १९४७ तक नहीं हुआ था। परन्तु इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए केवल उपकरण मात्र ही पर्याप्त नहीं है। सन् १९४७ में रूस ने न्यास-परिषद् में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करने से इनकार कर दिया। इसके विरुद्ध ब्रिटेन, फ्रांस, बेलजियम, आस्ट्रेलिया, और न्यूजीलैंड ने अपने कुछ समादिष्ट प्रदेशों के लिए न्याससंबंधी करार संयुक्तराष्ट्रसंघ को पहले ही प्रस्तुत कर दिए थे। न्यास-परिषद् के विचार के लिए अनेक प्रस्ताव होंगे, क्योंकि ऐसे अनेक विचारयोग्य प्रश्न है जिनके निपटाने का उसे प्रयत्न करना है; जैसे अफ्रीका में इटली के पिछले उपनिवेशों का भविष्य। किन्तु इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सामान्य नैतिक दबाव डालने और मनुष्य के कल्याण एवं विश्वशांति के इस महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करने से अधिक कुछ नहीं कर सकती; अतः न्यास-प्रणाली की सफलता या असफलता ऐसी संस्था के अस्तित्व की अपेक्षा अन्त में स्व-शासन की प्राप्ति के हेतु पिछड़े हुए लोगों को निरन्तर अधिकार प्रदान करते रहने की औपनिवेशिक शक्तियों की तत्परता पर निर्भर रहेगी।

प्रश्न

१. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के राज्यों में स्व-शासी संस्थाओं के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए। उससे क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है ?

२. शासन की पाश्चात्य सांविधानिक पद्धतियों को आप मध्यपूर्व के लिए कहां तक उपयुक्त समझते हैं ?

३. ब्रिटेन द्वारा मिस्र के संरक्षण की व्याख्या कीजिए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मिस्र में सांविधानिक स्थिति किस प्रकार की थी ?

४. सांविधानिक शासन की स्थापना के लिए चीन और जापान में किए गए प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए। इन दोनों देशों को द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इस सम्बन्ध में कैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा ?

५. भारत शासन अधिनियम, सन् १९१९ द्वारा भारत को क्या अधिकार प्राप्त हुए ? इससे पूर्व के सांविधानिक इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६. यह कहना कहां तक ठीक है कि भारत शासन अधिनियम, सन् १९३५ का उद्देश्य ब्रिटिश भारत को स्व-शासी डॉमिनियन का पद प्रदान करना था ?

७. भारत और पाकिस्तान की सांविधानिक समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

८. शासन की दृष्टि से विभिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों की तुलना कीजिए।

९. श्रीलंका की स्व-शासी संस्थाओं के विकास को ध्यान में रखते हुए किसी अन्य ब्रिटिश उपनिवेश द्वारा डॉमिनियन-पद प्राप्त किए जाने की सम्भावना पर विचार कीजिए।

१०. राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े समुदायों में स्व-शासन के विकास के निमित्त संयुक्तराष्ट्र संघ द्वारा प्रस्थापित न्यास-प्रणाली इसी प्रयोजन के लिए राष्ट्रसंघ की समादेश-व्यवस्था से किस अर्थ में अधिक प्रगतिशील है ?

अध्याय १५

राज्य का आर्थिक संगठन

१. लोकतंत्र : राजनीतिक एवं आर्थिक

हमने अब तक साविधानिक राज्य के राजनीतिक अवयवों की ही चर्चा की है, किन्तु उसके आर्थिक संगठन के विषय में विचार करना अभी बाकी है जो आधुनिक काल में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यहां हमारा आशय आर्थिक समस्याओं का गहन अध्ययन करना नहीं, किन्तु केवल यह बताना है कि सांविधानिक राज्य में वास्तविक आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए क्या किया गया है और क्या किया जा सकता है। आर्थिक लोकतंत्र से हमारा तात्पर्य जीवन की भौतिक परिस्थितियों को राजनीतिक लोकतंत्र के द्वारा नियंत्रित करने के प्रयत्न से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रयोजनों के लिए पहले से ही विद्यमान अवयवों के समान आर्थिक नियंत्रण के अवयवों के गठन से भी है। जहां तक यह सांविधानिक प्रश्न से परे है—और कई दृष्टियों से उसका ऐसा होना स्वभावत: अनिवार्य है—वहां तक उसकी चर्चा हमारे क्षेत्र से बाहर है। किन्तु जहां तक यह व्यावहारिक सांविधानिक राजनीति के कार्यक्षेत्र के या तो अन्दर है या अन्दर लाया जा सकता है वहां तक इसकी विवेचना करना हमारे लिए आवश्यक है।

आधुनिक राज्य के प्रारंभिक दिनों में शासन के आर्थिक कृत्यों को पूरी तरह मान्यता दी जाती थी और राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय शक्ति के लिए विधियों और विनियमों के द्वारा समाज के आर्थिक कार्यकलापों को नियंत्रित करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसे **'व्यावसायिक व्यवस्था'** (मर्कण्टाइल सिस्टम) कहते थे और यह इस विश्वास पर आधारित थी कि सम्पत्ति के अन्तर्गत केवल धन या बहुमूल्य धातुएं ही होती है जिनपर अधिकार होना राष्ट्रीय शक्ति का द्योतक है। सत्रहवीं शताब्दी से आगे पाश्चात्य यूरोप में यह विचारधारा सर्वमान्य-सी हो गई थी और उन दिनों लगभग समस्त राजनीतिक कार्य का मुख्य स्रोत यही थी। बाह्य राजनीति में इस विचारधारा के फलस्वरूप यूरोपीय और औपनिवेशिक युद्ध हुए जिनमें अठारहवीं शताब्दी व्यस्त रही और आंतरिक राजनीति में उसके कारण व्यापार और उद्योग पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए जिनसे कि राज्य भारग्रस्त रहा। ऐसी अवस्था में शताब्दी के अंतिम चरण में इस विचारधारा पर वह घातक प्रहार आरम्भ हुआ जिसका श्रीगणेश एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'राष्ट्रों की सम्पत्ति** (Wealth of Nations)' में किया। उसकी इस युक्ति का प्रतिरूप, कि व्यक्ति ही अपने आर्थिक हितों का सर्वोत्तम निर्णायक है, अठारहवीं शताब्दी के अंतिम और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों के राजनीति-दर्शन में प्रकट हुआ। अमरीकी

और फ्रांसीसी क्रांतियों के सिद्धान्तवादियों और टॉमस पेन, जेरेमी बैन्थम और विलियम वॉन हम्बोल्ट जैसे प्रसिद्ध लेखकों ने अपने अलग-अलग तरीकों पर यह कल्पना की कि शासन एक अनिवार्य बुराई है। अतएव, उन्होंने यह दलील दी कि व्यक्ति के मामलों में उसका हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए और सच तो यह है कि उसका एकमात्र कर्त्तव्य व्यक्ति को हिंसा और कपट से बचाना है। इन विचारकों का कहना था कि शासन तो न्याय करने का एक यंत्र मात्र है, इसलिए उसके किसी प्रकार के भी आर्थिक कार्य बिलकुल ही अनुचित है।

ये सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियो के अनुरूप प्रतीत होते थे। इंगलैड मे औद्योगिक क्रांति की विघटनकारी शक्ति ने, जिसका गभीर प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ मे होने लगा था, समस्त राज्य-विनियमो को अनुपयुक्त बना दिया और नेपोलियनी युद्ध एवं तज्जनित परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले टोरी प्रतिक्रियावाद के पश्चात् सुधारों का युग आरम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त समस्त विनियम समाप्त हो गए और समाज के आर्थिक क्रियाकलाप में राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने (Laissez-faire) की नीति का समारम्भ हुआ। व्यापक रूप मे यह युग सन् १८२५ से १८७० तक रहा, जिसे डायसी ने '**बैन्थमी व्यक्तिवाद का युग**' कहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के इस व्यक्तिवाद ने मुख्य रूप मे उस राजनीतिक संविधानवाद के द्रुत विकास को प्रेरित किया जिसकी हमने इन पृष्ठों में चर्चा की है। किन्तु इस 'निर्हस्तक्षेप' नीति के प्रयोग से इस काल में इतना अनर्थ हुआ कि अन्त में राज्य के आर्थिक कृत्यों के संबंध में एक नई धारणा का अभ्युदय हुआ और यह विश्वास दृढ़ हो गया कि सरकारों को समाज के आर्थिक हित को व्यवस्थित करने में अधिकाधिक भाग लेना चाहिए क्योंकि इन सब मामलों में समाज स्वयं ही व्यवस्था करने के योग्य नहीं है। इस प्रकार उस नीति का श्रीगणेश हुआ जिसे सामान्यतया '**समष्टिवाद**' कहते हैं। प्रथम दृष्टि में ऐसा जान पडता है मानो यह पहले के राजनीतिक व्यवहार की एक प्रतिक्रिया हो और पहिये ने पूरा चक्कर लगा लिया हो। किन्तु यह उपमा यथार्थ होने की अपेक्षा नाम की ही अधिक है, चूंकि इस नीति को केवल मानवता की भावनाओं मे प्रेरणा ही नहीं मिली (जिसमे निश्चय ही व्यावसायिक व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं था), बल्कि इसका ऐसे प्रयत्नों के प्रसंग में निरन्तर विस्तार भी हो रहा है जिनका उद्देश्य राज्य को ऐसी शक्तियों (जो इससे पहले के युग को अज्ञात थीं) द्वारा नष्ट होने से बचाना है, जो राजनीतिक लोकतंत्र को अपने-आपमें निरर्थक और जनता के वास्तविक भौतिक हितों की प्राप्ति के अयोग्य इसलिए समझती हैं कि वह अपने स्वरूप से ही उन आर्थिक हितों के द्वारा पहले से ही नियंत्रित होता है जिनका मुकाबला केवलमात्र मतदान-व्यवस्था से नहीं किया जा सकता।

इस समष्टिवाद की नीति के, जिसका साररूप में तात्पर्य समुदाय के आर्थिक हितों के लिए राज्य के दमनकारी यंत्र का उपयोग है, फलस्वरूप शासन के अवयवों की संख्या

बहुत बढ़ गई है; क्योंकि इसके परिणामस्वरूप उसके कृत्यों का भारी विस्तार हुआ है। यही कारण है कि आधुनिक विश्व के प्रत्येक प्रगतिशील राज्य में ब्रिटेन के समान अनेक नए सरकारी विभाग जैसे कृषि, श्रम, स्वास्थ्य, खाद्य, ईंधन एवं विद्युत् विभाग खुल गए हैं। अब सभी राजनीतिक दल समष्टिवाद को न्यूनाधिक रूप में व्यावहारिक सिद्धांत मानते है। इस विषय में संविधानवादियों में मतभेद केवल इस बात पर है कि समष्टिवादी नीति को किस हद तक ले जाना चाहिए। पुरानी विचारधारा को माननेवाले राजनीतिक दल इस सम्बन्ध मे राज्य द्वारा कुछ हद तक कार्यवाही किए जाने की बात को मानते है, किन्तु जहां तक अपने मुख्य सिद्धान्तों का सवाल है वे व्यक्तिवादी ही है और इस सिद्धान्त को मानने मे इनकार करते हैं कि राज्य को उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ग्रहण कर लेना चाहिए। दूसरी ओर, समाजवादियों का विश्वास है कि ऐसा किया जाना चाहिए और राज्य के संविधान में, जिस रूप में हम उसे जानते हैं, मूलभूत परिवर्तन किए बिना ही ऐसा करना सम्भव है। इसके अतिरिक्त, समाजवादियों का यह भी कहना है कि यदि सांविधानिक राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़नेवाली इस आर्थिक मांग की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध होगा तो उसका स्थान किसी अन्य प्रकार का दमनकारी सामाजिक संगठन ग्रहण कर लेगा।

राज्य के आर्थिक संगठन का उग्रतम रूप रूस के साम्यवादी शासन के अधीन पाया जाता है; और इससे कुछ कम मात्रा में युगोस्लाविया जनगणतंत्र में, जिसका सन् १९४६ का संविधान, जैसा कि हम देख चुके है, मुख्यतः सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ के नमूने पर बना है, तथा कुछ हद तक चेकोस्लोवाकिया जनगणतंत्र के सन् १९४८ के संविधान में भी पाया जाता है। वास्तव में, लेनिन के मूल सोवियत् संविधान का राज्य के राजनीतिक संगठन की अपेक्षा आर्थिक संगठन से अधिक संबध था। किन्तु इस कारण वह कम दमन-कारी नहीं था। लेनिन के कथनानुसार रूसी क्रांति ने समाजवाद अथवा लोकतंत्र की स्थापना नहीं की थी, बल्कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में एक संक्रांतिकालीन राज्य की स्थापना की थी जो क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के साथ-साथ लुप्त हो जाएगा। लेनिन का कहना था कि अन्ततः एक ऐसा वर्गहीन समाज स्थापित हो जाएगा जिसमें किसी भी प्रकार का राज्य अनावश्यक हो जाएगा। किंतु स्पष्ट है कि यह अवस्था अभी तक नहीं आ पाई है; क्योंकि सन् १९३६ के संविधान के बावजूद स्टालिन के शासन में भी अधि-कारवाद का जोर लेनिन के शासन से कम नहीं है।

२. आर्थिक परिषदें और सोवियतें

जिन पाश्चात्य सांविधानिक राज्यों की हमने चर्चा की है उनकी एक सामान्य बात यह है कि उनकी सभी निर्वाचन-प्रणालियों का आधार प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र है। इसी बात को सुधारकों ने अधिकतर राजनीतिक लोकतंत्र की एक कमजोरी कहा है और उनमें से बहुतों का यह विचार है कि यदि इसके स्थान पर नहीं तो कम-से-कम पूरक रूप

में इसके साथ वृत्तिक या व्यावसायिक निर्वाचन-क्षेत्र होने ही चाहिए। ऐसी प्रणाली के अधीन निर्वाचक आज की तरह अपने निवासस्थान के जिले की जगह अपने व्यवसाय या वृत्ति के आधार पर मतदान करेगा। इस प्रकार इस प्रणाली के आधार पर आर्थिक हितों का ऐसा प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाएगा जैसा केवलमात्र क्षेत्र-विभाजन के आधार पर कभी नहीं हो सकता। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक और तरीके का सुझाव दिया जाता है। इसके अनुसार द्वितीय सदन को नया रूप देना चाहिए, जिसमें व्यावसायिक निर्वाचन-क्षेत्रों से सदस्य लिए जाएंगे और जो इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन के इस पक्ष का प्रतिनिधित्व कर सकेगा और निम्नसदन में आज की तरह प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्य ही पहुंचते रहेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् १९३७ के संविधान के अधीन आयर की सिनेट में किसी वृत्तिक या व्यावसायिक समूह अथवा संस्था द्वारा प्रत्यक्षरूपेण निर्वाचित प्रतिनिधि हो सकते हैं और स्पेन में भी सन् १८७६ के मूल संविधान के अधीन पांच ऐसे सिनेटरों के निर्वाचन के लिए इसी तरह की व्यवस्था थी, हालांकि यह व्यवस्था स्पेन के सन् १९३२ के गणतंत्रीय संविधान में, जिसने कि एकसदनी विधानमंडल की स्थापना की थी, नहीं थी और अब अधिनायकशाही ने तो उसे समाप्त ही कर दिया है।

इसी उद्देश्य की प्राप्ति का एक और तरीका आर्थिक परिषदों वाला तरीका है, जैसा आयरिश स्वतंत्र राज्य (सन् १९२२) के मूल संविधान के अधीन और वेमर गणतंत्र (सन् १९१९) में अपनाया गया था। फ्रांस में चतुर्थ गणतंत्र के संविधान के अधीन भी इसी प्रकार की व्यवस्था है।

आयरिश स्वतंत्र राज्य के संविधान के अनुच्छेद ४५ में कहा गया है कि संसद्—

"राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन की शाखाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली वृत्तिक या व्यावसायिक परिषदों की स्थापना के लिए उपबन्ध कर सकेगी। जो विधि किसी ऐसी परिषद् की स्थापना करेगी वह उसकी शक्तियों, अधिकारों और कर्त्तव्यों तथा आयरिश स्वतंत्र राज्य की सरकार के साथ उसके संबंध को निर्धारित करेगी।"

वेमर संविधान इससे भी आगे बढ़ गया। उसके अनुच्छेद १६५ में कहा गया है कि—

"अपने सामाजिक और आर्थिक हितों के संरक्षण के लिए मजदूरों और वैतनिक कर्मचारियों को व्यक्तिगत व्यवसायों की मजदूर परिषदों में और आर्थिक जिलों के अनुसार एकीकृत जिला मजदूर परिषदों में तथा गणतंत्र की मजदूर परिषद में वैध प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

"जिला मजदूर परिषदें और गणतंत्र की मजदूर परिषद्, मालिकों और संबंधित जनसंख्या के अन्य वर्गों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर, जिला आर्थिक परिषदों और गणतंत्र की आर्थिक परिषद् का निर्माण करेंगी ताकि वे अपने संयुक्त

आर्थिक कृत्यों का सम्पादन और समाजीकरण से सम्बद्ध विधियों के पालन में सहयोग कर सकें। जिला आर्थिक परिषदों और गणतंत्र की आर्थिक परिषद् का गठन इस प्रकार होगा कि उनमें सभी महत्त्वपूर्ण वृत्तिक समूहों को उनके आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए।

"सामाजिक और आर्थिक विधायन के विषयों से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक, प्रस्तुत किए जाने से पूर्व, गणतंत्र की सरकार द्वारा गणतंत्र की आर्थिक परिषद् की राय जानने के लिए उसके पास भेजे जाएंगे। उस आर्थिक परिषद् को स्वयं भी ऐसे विधायन का प्रस्ताव करने का अधिकार होगा। यदि किसी ऐसे प्रस्ताव से सरकार सहमत न हो तब भी वह उसे लोकसभा में उसपर अपनी राय प्रकट करते हुए प्रस्तुत करेगी। आर्थिक परिषद् उस प्रस्ताव के पक्ष में लोकसभा में अपना मत प्रकट करने के लिए अपने किसी एक सदस्य को भेज सकती है।

"मजदूर परिषदों और आर्थिक परिषदों को उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत किन्हीं विषयों के संबंध में नियंत्रण और प्रशासन की शक्तियां प्रदान की जा सकती हैं।

"मजदूर परिषदों और आर्थिक परिषदों की रचना और उनके कृत्य तथा अन्य स्वायत्त सामाजिक संगठनों के साथ उनके संबंध गणतत्र के अनन्य क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं।"

आयरलैंड में सन् १९३७ के संविधान में इस योजना का त्याग कर दिया गया। जर्मनी में आर्थिक परिषदें, हिटलर द्वारा वेमर संविधान के साथ समाप्त कर दिए जाने से पूर्व कुछ प्रगति कर रही थीं। फ्रांस के राजनीतिक जीवन में आर्थिक परिषद् का क्या स्थान होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

फ्रांसीसी चतुर्थ गणतंत्र (सन् १९४६) के संविधान के अनुच्छेद २५ में कहा गया है कि—

"आर्थिक परिषद्, जिसका दर्जा विधि द्वारा नियत है, विधिसंबंधी उन योजनाओं और प्रस्तावों की, जो उसके क्षेत्र के अन्दर हैं, परामर्शदात्री हैसियत में जांच करती है। इन योजनाओं को राष्ट्रीय सभा स्वयं उनपर बहस करने से पूर्व उसके पास भेजती है।

"इसके अतिरिक्त, आर्थिक परिषद् से मंत्रिपरिषद् भी परामर्श कर सकती है। किसी राष्ट्रीय आर्थिक योजना के संबंध में जिसका उद्देश्य जनता को पूरी तरह से काम देना और भौतिक साधनों का सुव्यवस्थित प्रयोग हो, उससे अवश्य ही परामर्श किया जाना चाहिए।"

यहां पर यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि ऐसी परिषदें इंगलैंड की वाणिज्य-सभा और अमरीका की उद्योगपतियों की राष्ट्रीय संस्था जैसे निकायों से बिलकुल भिन्न हैं, जो केवलमात्र व्यापार-संरक्षक संस्थाएं हैं और जिनका काम समान लाभ के लिए सरकार से सहयोग करने की बजाय सरकारी उद्योग को रोकना अधिक है। जर्मनी में गणतंत्र

की आर्थिक परिषद को एक प्राधिकारी ने 'उद्योग संसद्' कहा था और इस संबंध में एक गंभीर प्रश्न पैदा होता है कि क्या ऐसी उद्योग संसद् को कोई प्रभुसत्तात्मक शक्तियां दी जा सकती हैं या नहीं; यदि नहीं तो क्या वह वास्तव में प्रभावशाली हो सकती है। जर्मन योजना को 'समानान्तर राज्यिक प्रणाली' कहा गया था, जिसका अर्थ राज्य के अन्दर दो समान शक्तियों —एक राजनीतिक और दूसरी आर्थिक—की सत्ता से था। यह व्यवस्था प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के वर्षों मे इंगलैंड में श्रेणिसमाजवादियों द्वारा प्रस्तुत योजना का स्मरण कराती है। यह शिल्पिसंघवादियों के सुझावों का ही एक रूप थी; किन्तु जहा शिल्पिसंघवाद का कहना था कि राजनीतिक अवयवों को बिलकुल ही समाप्त कर दिया जाए वहा श्रेणिसमाजवाद का यह सुझाव था कि राज्य को, जिस रूप में कि हम उसे आज जानते हैं, समस्त गैर-आर्थिक प्रयोजनों के लिए बनाए रखा जाए। किन्तु इस विचारधारा के अनुसार आर्थिक शासन के अवयव इतने प्राथमिक महत्त्व के थे कि उनको राजनीतिक जीवन के अवयवों के अधीनस्थ करने के बजाय उनके समकक्ष रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, समान शक्ति वाली दो संसदें होनी चाहिए जिनमें से एक समाज के राजनीतिक हितों का और दूसरी उसके आर्थिक हितों का संरक्षण करे।

इस प्रकार यह महान् समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित होती है कि क्या राज्य की प्रभुसत्ता को इस प्रकार विभाजित करना सम्भव है। एक लेखक ने स्पष्टतापूर्वक कहा है कि राज्यसमाजवाद और शिल्पिसंघवाद के बीच का कोई मार्ग नहीं है; अर्थात् प्रभु-सत्ता अविभाज्य है, और इसलिए वह या तो एक राजनीतिक अवयव के रूप में संसद् के द्वारा क्रियान्वित होगी जिस अवस्था में वह आर्थिक संस्थाओं[१] द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नही करेगी; हां, जहां तक उसने उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया हो, वह बात अलग है; या फिर पूर्ण शक्तियों वाली उद्योग संसद् द्वारा कार्य करेगी जो शिल्पि-संघवाद का सार है। यही प्रश्न दो सदनों—एक राजनीतिक और एक आर्थिक—के संबंध में भी पैदा होता है—अर्थात्, क्या ये वास्तव में परस्पर समकक्ष निकाय हो सकते हैं? इस प्रकार प्रश्न यह है कि क्या सांविधानिक राज्य स्वेच्छा से अपनी प्रभुसत्ता में एक समान सत्ता को भागीदार बना सकता है, और, यदि वह हिंसा के आगे आत्मसमर्पण कर देता है तो, क्या फिर भी यह माना जा सकता है कि उसका अस्तित्व बना हुआ है? श्रेणिसमाजवादियों (जो अन्यथा नागरिकों का बहुत शांत समुदाय है) के सिद्धान्त में भी हिंसा का अभाव नही था, हालांकि वह केवल अपने कार्यक्रम को आरंभ करने के प्रयोजन के ही लिए था। उनकी युक्ति यह थी कि सामान्य हड़ताल राज्य को उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ग्रहण करने के लिए बाध्य कर देगी, जिन्हें वह तब उपयुक्त श्रेणियों या संघों को किराए पर दे देगा। ये श्रेणियां और संघ तब अपने व्यवसायों से सम्बद्ध प्रत्येक आर्थिक बात (मजदूरी, कीमतों,

---

[१] इंगलैंड में सन् १९२६ की सामान्य हड़ताल के समय सरकार और मजदूर संस्थाओं के बीच संघर्ष इसी बात पर था।

श्रम आदि से संबंधित बात) का नियंत्रण करेंगे।

वेमर संविधान के अन्तर्गत योजना एक भिन्न प्रकार से प्रकट हुई। वहां हिंसा अवश्य हुई, किन्तु वह प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त की परिस्थितियों में एक प्रकार से आकस्मिक रूप में पैदा हुई। सन् १९१८ की जर्मन क्रांति में सैनिकों और मजदूरों की परिषदें बनीं और कुछ समय तक वे समानान्तर राजनीतिक क्रांति को पराजित करने में लगभग सफल हो गई। किन्तु राजनीतिक क्रांति को सफल होना था। उसने गणतंत्रीय संविधान का निर्माण किया, जिसके विभिन्न पहलुओं की हम जांच कर चुके हैं। फिर भी ये परिषदें जर्मन संविधान में अनुच्छेद १६५ को समाविष्ट कराने के लिए पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुई, हालांकि, जैसा कि उस अनुच्छेद के अंतिम पैरा में प्रकट होता है, वे पूर्णतः राजनीतिक सत्ता के अधीन रहीं।

दूसरी ओर, रूस में सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के द्वारा, हालांकि कुछ समय तक समान समानान्तर व्यवस्थाएं शक्ति के लिए संघर्ष करती हुई विद्यमान रही, मजदूर परिषदें अर्थात् सोवियतों के नेता साधारण राजनीतिक अवयवों पर विजय प्राप्त करने में सफल हुए। जनवरी सन् १९१८ की संविधान-सभा में, जो एक नया राजनीतिक संविधान प्रख्यापित करने के लिए निर्वाचित की गई थी, बोल्शेविकों ने प्रस्ताव रखा कि "रूस सोवियतों का गणराज्य है" और जब यह प्रस्ताव बुरी तरह अस्वीकृत हो गया तो लेनिन ने अवैध रूप से शक्ति हस्तगत करते हुए सभा को इस आधार पर भंग कर दिया कि वह **"अत्यधिक रूप से पूंजीपतियों की"** है। उस समय से रूस में कम्यूनिस्ट लोग सत्ताधारी बने हुए हैं और राज्य के आर्थिक संगठन के बारे में उनके दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। यह सच है जैसा हम देख चुके है, कि सन् १९३६ के संविधान में कुछ पाश्चात्य प्रभाव, विशेषकर संघीय गठन से सम्बद्ध अनुच्छेदों की भाषा में, दिखाई देते हैं। किन्तु स्टालिन संविधान के अनुसार यह अब भी सही है कि सोवियत् समाजवादी गणतंत्रसंघ "मजदूरों और किसानों का एक समाजवादी राज्य" (अनुच्छेद १) है; उसका राजनीतिक आधार "श्रमिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों से बना है, जो भू-स्वामियों और पूंजीपतियों की शक्ति के उत्सादन तथा सर्व-हारा वर्ग के अधिनायकत्व की विजय के फलस्वरूप विकसित और शक्तिशाली हो गई हैं" (अनुच्छेद २); और "समस्त शक्ति श्रमिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों के रूप में नगरों और ग्रामों के श्रमिकों के पास है" (अनुच्छेद ३)। निश्चय ही स्टालिन ने मूल धारणा को उस सीमा तक परिवर्तित कर दिया था जिस सीमा तक कि उसने 'एक देश में समाजवाद' की अपनी नीति को 'निरन्तर क्रांति' के विरोधी सिद्धान्त के विरुद्ध अपना लिया था, जिसे (निरन्तर क्रांति के सिद्धान्त को) लेनिन की मृत्यु के पश्चात् त्रात्सकी-वादियों ने अपनाया था और स्टालिन ने उसे 'बोल्शेविज्म से असंगत' घोषित किया था। किन्तु तब से कम्यूनिस्ट रूस की आसपास के राष्ट्रों के राजनीतिक और आर्थिक संगठन को प्रभावित करने की शक्ति बहुत अधिक और इस प्रकार बढ गई है कि जिसकी समाजवादी

राज्य के संस्थापक कल्पना भी नही कर सकते थे। इसका मुख्य कारण द्वितीय विश्वयुद्ध में उसकी विजय है। यद्यपि रूस ने इस विजय के लिए जन, धन और साधनों के रूप में भारी मोल चुकाया; किन्तु, चाहे यह अच्छा हो या बुरा अब रूस का पूर्वी यूरोप के राज्यों पर, जो आर्थिक पुनर्निर्माण के साधन के रूप में राजनीतिक यंत्र का प्रयोग करने की अपनी आवश्यकता के सिलसिले में पाश्चात्य संविधानवाद और सोवियत् सर्वाधिकारवाद के विरोधी मार्गों के बीच फंसे हुए हैं, प्रभुत्व है।

३. निगम-राज्य

अब एक और प्रकार का राजनीतिक-आर्थिक संगठन शेष है जिसकी हमको विवेचना करनी है। यह फासिस्ट इटली में मुसोलिनी द्वारा और पुर्तगाल में सालाजार द्वारा स्थापित निगम-राज्य का प्रयोग ह। मुसोलिनी की योजना यद्यपि उसके साथ ही समाप्त हो गई और सन् १९४७ के इटली के गणतंत्र के संविधान में उसके किसी भी तत्त्व का समावेश नही किया गया है, फिर भी उसकी कई बातें लोकतंत्रवादियों द्वारा अध्ययन के अयोग्य नहीं हैं, हालांकि उसके निर्माण में मुसोलिनी का उद्देश्य लोकतंत्रविरोधी था। निगम-राज्य उस सिद्धांत पर आधारित था जिसे मुसोलिनी 'राष्ट्रीय शिल्पिसंघवाद' कहता था, और इसमें कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने से पूर्व के दिनों में शिल्पिसंघवादियों के साथ उसका सहयोग इस धारणा के लिए उत्तरदायी था; हालांकि उसका उद्देश्य शिल्पिसंघवादियों के अनुसार उद्योग के क्षेत्र में स्व-शासन की स्थापना नही बल्कि उद्योग का राष्ट्रीय नियंत्रण था।

व्यावहारिक रूप में इस योजना का आरम्भ सन् १९२४ में हुआ था जब कि इसकी सम्भावनाओं को देखने के लिए एक विशेष आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में औद्योगिक समस्याओं को हल करने के लिए अन्य राज्यों द्वारा प्रयुक्त पद्धतियों—ब्रिटेन के मजदूरसंघवाद, संयुक्तराज्य की न्यास-व्यवस्था, रूसी साम्यवाद में प्रयुक्त मार्क्सवादी सिद्धान्त, वेमर गणतंत्र के संविधान के अधीन जर्मनी में स्थापित आर्थिक परिषदों और उदार लोकतंत्रवाद——की परीक्षा की। रिपोर्ट के अनुसार इन सब पद्धतियों में एक सामान्य खराबी यह थी कि उनमें राज्य की सर्वोच्चता को क्षीण करने की प्रवृत्ति थी जिस प्रवृत्ति को कि नए निगम-राज्य को हर हालत में रोकना चाहिए। उसमें आगे कहा गया था कि इटली के पुराने शिल्पिसंघवादी केवल सर्वहारा वर्ग के हितों की ही उन्नति और सुरक्षा चाहते थे, जब कि पूंजीपति लोग, हाथ से काम करनेवाले मजदूर तथा बुद्धिजीवी श्रमिक वर्ग अपने-आपको पृथक् एवं परस्पर विरोधी और राज्य से ऊपर नहीं तो उसके बाहर के तत्त्व समझते थे। राष्ट्रीय फासिस्ट शिल्पिसंघवाद का उद्देश्य इन तीनों वर्गों को समान रूप से राष्ट्रीय हित के अधीन करके इस विरोध को समाप्त करना था। किन्तु यह दावा नहीं किया जाता था कि राज्य में उत्पादन को स्वयं संभाल लेने की योग्यता है। समाज की

आर्थिक प्रगति के लिए पूंजीवाद और निजी उद्यम का अस्तित्व आवश्यक समझा गया था; किन्तु उसके अधिकारों और स्वतंत्रता को भी राज्य की सर्वोच्चता के अनुकूल बनाया जाना आवश्यक समझा गया।

इस रिपोर्ट के आधार पर एक नई शिल्पिसंघीय अथवा व्यवसायसंघ विधि पारित की गई और वह अप्रैल सन् १९२६ में प्रवर्तित हुई। इसके पश्चात्, जुलाई सन् १९२६ में, एक आज्ञप्ति जारी की गई जिसने नए अधिनियम की ब्यौरेवार व्यवस्थाओं की पूर्ति की। अन्त में अप्रैल सन् १९२७ में एक श्रम अधिकार-पत्र प्रकाशित किया गया। विधि तीन भागों में विभाजित की गई। पहले भाग से तीन प्रकार के, अर्थात् मालिकों, हाथ मे काम करनेवालों और बौद्धिक कार्यकर्त्ताओं के, शिल्पिसंघों या मजदूरसंघों के गठन और नियंत्रण की व्यवस्था की गई। मालिकों के छह, दस्तकारों के छह और वृत्तिक वर्गो का एक—ये तेरह राष्ट्रीय महासंघ बनाए जाने थे, जिनमें से प्रत्येक एक सामान्य परिषद् के अधीन और तीनों समानान्तर संगठन एक नए निगम-मंत्रालय के नियंत्रण के अधीन रखे गए थे। किसी भी नागरिक को किसी शिल्पिसंघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था, किन्तु उसे वार्षिक चंदा—एक दिन का वेतन—देना पड़ता था चाहे वह सदस्य हो या न हो, और, चूंकि किसी भी मजदूर को उसके उपयुक्त सरकारी संघ के द्वारा ही संरक्षण मिल सकता था, अतएव, यह स्पष्ट था कि समस्त गैर-सरकारी संघ निष्क्रियता के फलस्वरूप समाप्त हो जाएंगे। अधिनियम के दूसरे भाग के द्वारा विशेष न्यायालय स्थापित किए गए जो 'श्रम न्यायालय' कहलाते थे और समस्त विवादग्रस्त मामलों को उनके समक्ष प्रस्तुत करना अनिवार्य था। अधिनियम के तीसरे भाग के द्वारा समस्त हड़तालों और तालाबन्दियों का निषेध कर दिया गया, जिसके उल्लंघन के लिए कठोर-से-कठोर दंड की व्यवस्था की गई।

जुलाई सन् १९२६ की आज्ञप्ति में कहा गया था कि अठारह वर्ष से अधिक की आयु का कोई भी व्यक्ति शिल्पिसंघ में सम्मिलित हो सकता है, "यदि उसका नैतिक और राजनीतिक आचरण अच्छा हो।" इस शर्त से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि अधिकारियों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि सभी युवा मजदूर अच्छे फासिस्ट हों। आज्ञप्ति के प्रकाशन के दूसरे दिन नया निगम-मंत्रालय स्थापित कर दिया गया। ऐसा जान पड़ता था मानो अप्रैल सन् १९२७ में जारी किया गया श्रम अधिकार-पत्र फासिस्ट निगम-राज्य की गीता ही थी। उसमें कहा गया था कि श्रम का उद्देश्य "संक्षेप में उत्पादकों का कल्याण और राष्ट्रीय शक्ति का विकास है।" इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया था कि "वृत्तिक या शिल्पि संगठन स्वतंत्र हैं, किन्तु मालिकों और कर्मचारियों का वैध रूप से प्रतिनिधित्व करने का, अपनी श्रेणी के कर्मचारियों के लिए सामूहिक श्रम-संविदाएं करने का और उनपर चंदा आरोपित करने का अधिकार केवल राज्य के नियंत्रणाधीन और मान्यीकृत संघ को ही है।"

इस प्रकार सन् १९२७ तक नए आर्थिक संगठन की नीव अच्छी तरह और वास्तव में रख दी गई थी और ऊपरी ढांचा बनाना ही बाकी रह गया था। कुछ समय तक प्रतिनिधि-सदन को जारी रहने दिया गया; किन्तु उसका स्वरूप सन् १९२४ के निर्वाचन कानून द्वारा निर्मित स्वरूप से भी अधिक शक्तिहीन हो गया, जिसने उसे पहले ही कमजोर बना दिया था। उस विधि ने समस्त देश को एक विशाल निर्वाचन-क्षेत्र बना दिया था और यह निर्धारित किया था कि निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करनेवाले किसी भी दल को, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, दो-तिहाई स्थान प्राप्त होंगे। सन् १९२८ की एक नई विधि के अधीन, जिसका उद्देश्य सदन को नई आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप बनाना था, यह उपबन्धित किया गया कि प्रतिनिधि केवल शिल्पिसंघों से लिए जाएंगे। इस विधि में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार तेरह राष्ट्रीय शिल्पिसंघों की सामान्य परिषदों का रोम में अधिवेशन हुआ, जिसने ८०० की एक सूची तैयार की जिसे फासिस्ट ग्रांड कौंसिल ने घटाकर ४०० कर दिया। इसके पश्चात् ४०० की यह पूरी सूची देश के समक्ष मतदान के लिए प्रस्तुत की गई। मतदान-पत्र पर केवल यह प्रश्न था : "क्या आप फासिस्ट राष्ट्रीय महापरिषद् द्वारा निर्दिष्ट प्रतिनिधियों की सूची का अनुमोदन करते हैं ?" और मत-दाताओं को केवल हां या न में उत्तर देना था। इस तरह की चाल और तिकड़म को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नही कि सन् १९२९ के निर्वाचन में सरकारी सूची को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

अगले चार वर्षों के दौरान में जब कि शिल्पिसंघों की स्थापना और उनका प्रयोग किया जा रहा था यही अवस्था बनी रही। तब सन् १९३३ में मुसोलिनी ने घोषणा की कि शिल्पिसंघीय दौर पूरा हो चुका है, अतः अब निगम-व्यवस्था का प्रारंभ किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन् १९२६ की विधि के अनुसार निर्मित मालिकों के संघों और कर्मचारियों के संघों के बीच राष्ट्रीय संयोजन-शृंखलाओं की स्थापना का समय आ गया था। इनको '**निगम**' कहा गया और इनका गठन बाईस राष्ट्रव्यापी आर्थिक कार्यों के मालिकों और कर्मचारियों की समान संख्या से होना था। कृषि के लिए आठ, उद्योग और वाणिज्य के लिए आठ, और परिवहन तथा विभिन्न वृत्तियों जैसी अनेक सेवाओं के लिए छह निगम बनाए गए। निगम में किसी भी संस्थान में उत्पादन के क्रम से सम्बद्ध सभी लोग—अर्थात् मालिक और नौकर, कच्चे माल के उत्पादक, उद्योगों के मालिक और मजदूर, निर्मित माल के व्यापारी, और प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक विशेषज्ञ—आ जाते थे। इन बाईस निगमों की परिषदों की मुसोलिनी ने नवम्बर सन् १९३४ में विधिपूर्वक स्थापना की।

निगम-राज्य की रचना में अन्तिम कदम सन् १९३९ में उठाया गया जब कि प्रतिनिधि-सदन को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर 'फासियों और निगमों का सदन' बना दिया गया, जिसका उद्घाटन इटली के राजा ने किया। इसमें ६८२ सदस्य थे, जो राष्ट्रीय पार्षद् कहलाते थे। सदस्यों में दो-तिहाई से कुछ अधिक

निगमों के प्रतिनिधि होते थे, जो साधारणतया शिल्पिसंघों के प्रमुख अधिकारी होते थे। बाकी सदस्य फासिस्ट पार्टी के अधिकारी होते थे। सदन के लिए किसी प्रकार का निर्वाचन नहीं होता था, अधिकतर सदस्य पदेन सदस्य होते थे; हालांकि ड्यूची (मुसोलिनी) द्वारा उनका अनुमोदन आवश्यक था। फासियों और निगमों के सदन का सिनेट के साथ वैसा ही सम्बन्ध था जैसा कि पिछले प्रतिनिधि-सदन का था। सिनेट अब भी मूल संविधान के अनसार राजा के द्वारा निर्देशित सदस्यो से बनती थी, किन्तु राजा ने "अनुग्रहपूर्वक उसे फासिस्टों से भर दिया था।" अब सदनों के हाथों मे किसी प्रकार की विधायिनी शक्ति का बहाना भी नहीं रह गया था। नए सदन का काम केवलमात्र परामर्श देना था, और यह बात कि कोई विधि, जिसपर उसने विचार किया हो, हस्ताक्षर के लिए राजा के पास भेजी जानी चाहिए या नही ड्यूची की ही मर्जी पर निर्भर थी जिसकी शक्तियां किसी भी प्रकार कम नहीं हुई थीं; क्योंकि वह नए सदन के प्रति किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं था।

मुसोलिनी के निगम-राज्य की सफलता या असफलता को आंकने का अवसर नही मिला, क्योंकि जिस वर्ष अंतिम रूप में उसकी स्थापना हुई उसी वर्ष शेष यूरोप की तरह इटली भी हिटलर के युद्ध के पाश में फंस गया। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह इटली को संकट से बचाने के लिए कुछ भी नहीं कर पाया। निगम-राज्य का, दुर्बल लोकतंत्र की अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए रामबाण के रूप में तथा दुनियां के लोकतंत्रीय राज्यों के लिए अपनी संस्थाओं के नवीकरण के लिए प्रेरणा के रूप में, स्वागत किया गया था। ये बातें सही सिद्ध नहीं हुई, किन्तु योजना में कुछ रचनात्मक बातें अवश्य थी। राजनीतिक लोकतंत्र की कमजोरी, जैसी हम पाश्चात्य संसार में देखते हैं, यह है कि वह समाज के आर्थिक ढांचे को अधिकतर उसीपर छोड़ देता है, और जहां बड़े पैमाने पर आर्थिक आयोजन का कार्य भी किया जाता है, जैसा, उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन में हुआ, वहां विद्यमान राजनीतिक अवयवों का ही प्रयोग किया जाता है। मुसोलिनी की योजना की विशेषता यह थी कि उसने आर्थिक हितों के प्रतिनिधित्व को राष्ट्रीय सभा में पहुंचा ही दिया। यह सच है कि फासियों और निगमों के सदन को कोई वास्तविक विधायिनी शक्ति प्राप्त नहीं थी, किन्तु प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो की अपेक्षा वृत्तिक हितों के आधार पर निर्वाचित सदन को ऐसी शक्ति से वंचित रखना उस योजना का सार नही है। वास्तविक शक्ति वाले इस प्रकार के किसी सदन की योजना में रूसी व्यवस्था, जो केवल आर्थिक पहलू पर ही बल देती है, और संसदीय व्यवस्था, जो आर्थिक प्रतिनिधित्व की बिलकुल ही उपेक्षा करती है, के बीच का मार्ग प्राप्त हो सकता है।

इटली में निगम-राज्य समाप्त हो गया है, किन्तु पुर्तगाल में वह अब भी विद्यमान है, जहां वह डाक्टर सालाजार द्वारा विकसित एक प्रकार के अधिनायकत्व से भी सम्बद्ध है। पुर्तगाल में गणतंत्र की स्थापना सन् १९१० में की गई थी, जब एक सशस्त्र विद्रोह के

फलस्वरूप राजकीय परिवार को देश छोड़ देना पड़ा। सन् १९३३ के संविधान के अधीन सात वर्ष के लिए एक राष्ट्रपति निर्वाचित किया जाता है और ९० सदस्यों के एकसदनी (राष्ट्रीय सभा) विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी एक प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल होता है। विधानमंडल के सदस्य प्रत्येक परिवार के मुखिया द्वारा, वह चाहे पुरुष हो या स्त्री, निर्वाचित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक निगम-सदन भी है, जिसमें स्थानीय प्राधिकारियों तथा मालिकों और कर्मचारियों के संगठनों समेत औद्योगिक, वाणिज्यिक और अन्य निगमों के प्रतिनिधि होते हैं। यह सदन वास्तव में द्वितीय सदन नहीं है, क्योंकि उसके पास कोई विधायिनी शक्ति नही है; किन्तु संविधान के अधीन यह व्यवस्था है कि समस्त विधेयक, राष्ट्रीय सभा द्वारा उनपर अंतिम मत दिए जाने से पूर्व, उसके पास उसकी राय के लिए भेजे जाने चाहिए।

व्यवहार में यह होता है कि संसदीय उम्मीदवार केवल वही होते हैं जिन्हें सरकारी दल खड़ा करता है, और राष्ट्रीय सभा के अधिवेशनों के बीच के लम्बे विश्रामकाल में सरकार आज्ञप्ति के द्वारा विधान बनाती है। पुर्तगाल में डाक्टर सालाजार के हाथों में, जो सन् १९२८ में प्रधान मंत्री बना था, असंदिग्ध शक्ति है। सालाजार के निगम-राज्य के सिद्धान्त के बारे में यह कहा जाता है कि वह मार्क्सवादी साम्यवाद और उदार लोकतंत्रवाद के बीच सरकार के सामान्य निरीक्षण के अधीन वृत्तिक समूहों के द्वारा एक मध्यमार्ग निकालने का प्रयत्न है। हड़तालों और तालाबन्दियों का निषेध कर दिया गया है; किन्तु दूसरी ओर पुर्तगालियों को श्रमसंबंधी ऐसी विधियां प्राप्त हैं जिनका उन्होंने पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था। दूसरे शब्दों में, मजदूरसंघवाद और सामूहिक सौदे की व्यवस्था का समारम्भ किया गया है; किन्तु यह एक ऐसी अधिनायकवादी सत्ता के अधीन किया गया है जिसे पाश्चात्य यूरोप के अधिकतर राज्यों के मजदूर कभी भी सहन नहीं कर सकते चाहे वह कितनी ही प्रबुद्ध क्यों न हो।

प्रश्न

१. इस कथन की व्याख्या कीजिए कि राजनीतिक लोकतंत्र अपने-आपमें निरर्थक है।

२. आधुनिक समष्टिवाद के विकास पर प्रकाश डालिए और उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें उसने निर्हस्तक्षेप की नीति का स्थान ग्रहण किया।

३. आधुनिक राज्य में द्वितीय सदनों को आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के योग्य किस प्रकार बनाया जा सकता है ?

४. जर्मनी के सन् १९१९ के संविधान में आर्थिक परिषदों की स्थापना के प्रस्तावों पर प्रकाश डालिए और आयरिश स्वतंत्र राज्य के सन् १९२२ के और फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र के संविधानों में इस प्रकार के दिए गए प्रस्तावों से उनकी तुलना कीजिए।

५. यह कहना कहां तक सच है कि रूसी क्रांति ने आर्थिक लोकतंत्र का उद्देश्य प्राप्त कर लिया है ?

६. "राज्य-समाजवाद और शिल्पिसंघवाद के बीच का कोई मार्ग नहीं है।" राजनीतिक संसद् के समकक्ष शक्तियों वाली एक उद्योग संसद् की स्थापना के लिए श्रेणिसमाजवादियों के प्रस्तावों के प्रसंग में उक्त कथन पर प्रकाश डालिए।

७. मुसोलिनी द्वारा परिकल्पित निगम-राज्य की योजना की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि लोकतंत्रवादियों को उससे क्या शिक्षा मिल सकती है ?

८. पुर्तगाल में सालाजार और उसकी निगम-प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

९. क्या आप यह समझते हैं कि आज के अधिकतर सांविधानिक राज्यों में प्रचलित प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के स्थान पर व्यावसायिक निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली को लागू करना संभव है ?

१०. द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप के आर्थिक पुनर्गठन के संबंध में संसदीय संविधानवाद की पद्धति से सोवियत् पद्धति की तुलना कीजिए।

अध्याय १६

संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र

१. अन्तर्राष्ट्रीयता की योजनाएं

राज्यों के बाह्य संबंधों पर विचार करते समय हम समकालिक राजनीतिक संगठन के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पहलू तक पहुंच जाते है। स्पष्ट है कि आज की परिस्थितियों में किसी भी राष्ट्र के लिए अन्य राष्ट्रों के साथ सम्पर्क स्थापित किए बिना अपने कल्याण के साधन प्राप्त करने का प्रयास करना निरर्थक है। चूंकि आज विश्व के समस्त राज्य केवल आर्थिक दृष्टि से ही एक-दूसरे पर निर्भर नहीं है बल्कि किसी भी समय उनके बीच कोई संघर्ष उनकी सारी आंतरिक राजनीतिक व्यवस्था को एकदम ही अव्यवस्थित कर सकता है, और, जैसा कि हाल की घटनाओं ने प्रदर्शित किया है, उसे छिन्न-भिन्न भी कर सकता है। अतएव, प्रत्येक राष्ट्र का कल्याण अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की समस्या के हल पर ही निर्भर है। इसलिए राज्यों के आंतरिक राजनीतिक संविधानों के अध्ययन मे उनके बाह्य संबंधों को विनियमित करने के लिए प्रस्तावित अथवा अंगीकृत उपायों के अध्ययन की आवश्यकता का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

प्रेसिडेंट विल्सन ने मई सन् १९१७ में रूस की अस्थायी सरकार को प्रेपित अपने संदेश में यह आशा प्रकट की थी कि उस समय हो रहे युद्ध के फलस्वरूप मानव-भ्रातृत्व का सिद्धान्त केवलमात्र एक सुन्दर किन्तु खोखला शब्द न रहकर एक शक्तिशाली और वास्तविक तथ्य हो जाए। जनवरी सन् १९१८ में विल्सन ने अपने चौदह सूत्रों की घोषणा की। चौदहवें सूत्र में एक राष्ट्रसंघ बनाने अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शांति के आदर्श को स्थायी अवयवों वाली संस्था में मूर्त्त रूप देने की मांग की गई थी। संक्षेप में, एक राज्य के अन्दर शासन और शासितों के बीच संबंधों को समायोजित करनेवाले जिन राजनीतिक संविधानों की हमने अभी परीक्षा की है उनके समान ही विभिन्न राज्यों के बीच संबंधों को समायोजित करनेवाले एक राजनीतिक संविधान का निर्माण करने की मांग की गई थी। राष्ट्रसंघ की असफलता मे दूसरा विश्वयुद्ध हुआ और इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय संविधान के निर्माण का दूसरा प्रयास आरम्भ हुआ; इस बार यह कार्य संयुक्तराष्ट्रसंघ के द्वारा हो रहा है। किन्तु पिछले राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रों की योजना भी अन्तर्राष्ट्रीयता की योजनाओं के युगों से चल रहे विकास का केवल एक पहलू है। सच तो यह है कि एकता और भाईचारे का आदर्श पाश्चात्य सभ्यता के मूल में निहित दो परम्पराओं, अर्थात् रोमन साम्राज्य की वास्तविक एकता तथा 'विश्व में शांति, मानवों के प्रति सद्भाव' के प्रेरक मसीही संदेश से उपलब्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब से राज्यों की आधुनिक प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ

हैं तब से प्रत्येक बड़े संघर्ष के पश्चात् युद्ध के निवारण के लिए साधनों के निर्माण की मांग बराबर होती रही है। सामान्यतया, इस मांग का सार यही है कि जिस प्रकार छोटी राजनीतिक इकाइयों (राज्यों) में व्यक्तिगत नागरिक साधारण विधि और व्यवस्था के अधीन होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न राज्यों को आपस में विधि और व्यवस्था की ऐसी ही प्रणाली के अधीन होना चाहिए। आरम्भ में ऐसे सिद्धान्त कुछ बुद्धिजीवियों की पुस्तकों के पृष्ठों से आगे नहीं बढ़े, और कई लेखक ऐसे हुए हैं जिन्होंने ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कागजी योजनाएं बनाई; उदाहरणार्थ, चौदहवीं शताब्दी में पियर ड्युबाय, सोलहवीं शताब्दी में इरास्मस, सत्रहवीं शताब्दी में हेनरी ऑफ नवारे, अठारहवीं शताब्दी में एबे द सेंट पियर, रूसो और कांट। नेपोलियनी युद्धों के पश्चात् दूसरी मंजिल आई जो वास्तविकता के अधिक समीप थी, और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की व्यावहारिक योजनाएं कुछ आदर्शवादियों तक सीमित न रहकर प्रभावशाली व्यक्तियों और शक्तियों के अधीन पहुंच गई।

इस प्रकार यूरोपीय सहयोग का प्रादुर्भाव हुआ। उसका आरंभ रूस के सम्राट् की प्रेरणा से, **पवित्र मैत्री** (Holy Alliance) के नाम से, सम्राटों के ईसाई भ्रातृत्व के रूप में हुआ, किन्तु चूंकि यह आस्ट्रिया, रूस और प्रशा इन तीन शक्तियों तक ही सीमित था अतः, वह विकृत होकर यूरोप के छोटे राज्यों में उदीयमान उदारवाद को कुचलने के लिए एक यंत्र मात्र बन गया। किन्तु जिस रूप में ब्रिटेन के विदेशमंत्री कैसलरी ने इसका जोरदार समर्थन किया उस रूप में यह यूरोपीय सहयोग बड़ी शक्तियों के सामयिक सम्मेलनों की व्यवस्था के द्वारा शांति बनाए रखने का कहीं अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन सकता था। यह योजना सन् १८१४ से लेकर सन् १८२२ तक चली, किन्तु अन्त में ब्रिटेन को इससे अलग हो जाना पड़ा, क्योंकि मेटरनिख इसका अपने निरंकुश प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने पर तुला हुआ था और इस प्रकार वीरोना के सम्मेलन (सन् १८२२) और कैनिंग के विदेश-मंत्री बन जाने के साथ ही सम्मेलनों के युग का अन्त हो गया और उसके साथ ही किसी-न-किसी प्रकार के यूरोप का संघ बनाने की यत्किंचित् आशा भी समाप्त हो गई। किन्तु यूरोपीय सहयोग इस प्रारंभिक काल के पश्चात् भी जीवित रहा, हालांकि उसका स्वरूप बहुत क्षीण हो गया था और समय-समय पर पूर्वीय प्रश्न जैसी समस्याओं से (विशेष रूप से सन् १८७८ में) निपटने के लिए सम्मेलन होते रहे। किन्तु सन् १९१४ के युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व के दिनों में जब कि इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी और जब कि निरन्तर कूटनीतिक संघर्ष चल रहा था, उसे पुनः क्रियाशील करना कठिन था, क्योंकि वह बिलकुल ही निष्क्रिय हो चुका था।

इस बीच शस्त्रों के स्थान पर कूटनीति से काम लेने की एक और कोशिश हो चुकी थी और इस बार भी यह प्रयत्न रूस के एक जार के द्वारा हुआ था। यह प्रयत्न हेग सम्मेलनों द्वारा हुआ। सन् १८९९ में २६ राज्यों के दूतों का हेग में सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य शस्त्रों को सीमित करना, युद्ध के नियमों को मानवीय बनाना, और अन्तर्राष्ट्रीय

विवादों के पक्षों द्वारा मध्यस्थता एवं पंच-निर्णय के साधनों को अपनाना आदि प्रश्नों पर विचार करना था। इस सम्मेलन में तीन प्रसंविदाएं तैयार की गई जिनका सभी बड़ी शक्तियों ने विधिपूर्वक अनुमोदन किया। द्वितीय हेग सम्मेलन सन् १९०७ में हुआ, जिसमें ५४ राज्यों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इस सम्मेलन ने पहले सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत विधायन (यदि उसे ऐसा कहा जाए) की व्याख्या की और स्मृतिपत्रों और करारों का एक विशाल संकलन प्रस्तुत किया। हेग सम्मेलन निस्संदेह ही भावी आन्दोलन के अग्रदूत की तरह लाभकारी रहे, किन्तु उनके निर्णयों में प्रभावकारिता का अभाव था और शस्त्रों की टक्कर की अवस्था में उनके नियम प्रभावशून्य रहे। संक्षेप में, हेग सम्मेलनों का कोई संविधान नहीं था। इसके अतिरिक्त, ये सम्मेलन ऐसे समय में शांति का भवन निर्मित करने का प्रयत्न कर रहे थे जब कि कूटनीति ने एक अन्य योजना—शक्ति-संतुलन—पर विश्वास करना आरम्भ कर दिया था, जिसने अन्त में युद्ध अनिवार्य कर दिया, क्योंकि उसका आधार विरोधी मैत्रियों वाली अभिशप्त प्रणाली थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं के विकास में एक तीसरी मंजिल आई। पहली मंजिल में इस उद्देश्य की प्राप्ति के सारे प्रयत्न कुछ आदर्शवादियों तक तथा दूसरी में प्रख्यात व्यक्तियों तक ही सीमित थे; किन्तु युद्ध के कारण और उसके पश्चात् आनेवाली इस तीसरी मंजिल में एक वास्तविक विश्व-संगठन की स्थापना प्रत्येक प्रगतिशील राज्य के अधिकाधिक नागरिकों का उद्देश्य बन गया। युद्ध के उत्तरार्द्ध के दौरान में ऐसी योजनाएं प्रस्तुत करने का क्रम जोरों से चलता रहा, जिनका उद्देश्य तब तक प्रस्तुत की गई योजनाओं के अन्तर्गत प्रस्तुत शांति-साधनों से अधिक स्थायी और प्रभावपूर्ण शांति-साधन निर्मित करना था। इस प्रकार शांति के अभिन्न अंग के रूप में ऐसे साधन की स्थापना सम्भव हो गई।

२. राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में २६ अनुच्छेद थे और उसे विजयी मित्रराष्ट्रों तथा जर्मनी और उसके साथ ही पराजित हुए देशों के बीच होनेवाली वारसेल्स की तथा अन्य संधियों में पहला स्थान दिया गया था, जिससे कि संधि पर हस्ताक्षर करनेवाला प्रत्येक राज्य संघ को स्वीकार करने के लिए बाध्य था। प्रसंविदा पर आरंभ में २७ राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए और वह जनवरी सन् १९२० में प्रवृत्त हुई। सन् १९२१ में संघ के सदस्य-देशों की संख्या ४८ थी, और उस समय से लेकर सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने तक सदस्य-देशों की संख्या नए राज्यों के सम्मिलित होने तथा पुरानों के अलग होने के अनुसार घटती-बढ़ती रही। उदाहरणार्थ, जर्मनी सन् १९२६ में, तुर्की १९३२ में, सोवियत् संघ १९३४ में, और मिस्र १९३७ में सदस्य बने; दूसरी ओर जर्मनी और जापान १९३३ में, इटली १९३७ में, हंगरी और रूस (रूस और फिनलैंड के बीच युद्ध छिड़ने पर) १९३९ में संघ से अलग हो

गए। प्रेसीडेंट विल्सन के समर्थन के बावजूद संयुक्तराज्य उसका सदस्य नहीं बना और उसने संधि तथा प्रसंविदा दोनों को नहीं माना। किन्तु अमरीका के सदस्य बनने से इनकार करने के बावजूद राष्ट्रसंघ समय-समय पर ५० राज्यों अर्थात् विश्व की कुल जन-संख्या के लगभग ७५ प्रतिशत तथा पृथ्वी के भू-खंड के लगभग ६५ प्रतिशत के अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण से सम्बद्ध रहा।

प्रसंविदा के अनुच्छेद १ में सदस्यता के नियम बताए गए हैं। किसी भी पूर्णतः स्व-शासी राज्य या डॉमिनियन को सभा अपना सदस्य बना सकती थी, बशर्ते कि वह विहित गारंटी दे सके। दो से लेकर सात तक के अनुच्छेदों और अनुच्छेद १४ में संघ के अवयवों की चर्चा की गई है, और, चूंकि ये अवयव आज के संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयवों के पूर्वज हैं, अतः उनकी विस्तारपूर्वक परीक्षा करना लाभदायक होगा। राष्ट्रसंघ के चार मुख्य अवयव इस प्रकार थे : सभा, परिषद्, सचिवालय, और स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। ये अवयव मोटे तौर से शासन के तीन आवश्यक अंगों से मिलते-जुलते थे, जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं और जो विधानमंडल, कार्यपालिका, और न्यायपालिका कहलाते हैं। सभा एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संसद् थी, हालांकि उसका साधारणतया वर्ष में केवल एक अधिवेशन होता था। परिषद् की मंत्रिमंडल से तुलना नहीं की जा सकती यद्यपि उसके कुछ कार्यपालक कृत्य होते थे। वह तो एक प्रकार की विचार-विमर्श करनेवाली संस्था थी, जिसके अधिवेशन सभा की अपेक्षा आसानी से किए जा सकते थे। सचिवालय काफी हद तक राज्य की अ-सैनिक सेवा से मिलता-जुलता था और वह पदाधिकारियों का एक स्थायी निकाय था। स्थायी न्यायालय कम-से-कम अ-सैनिक विधि के क्षेत्र में राज्य की न्यायपालिका से लगभग उतना ही मिलता-जुलता था जितना वास्तविक या सम्भाव्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रसंग में सम्भव हो सकता था।

सभा में प्रत्येक सदस्य-राज्य के अधिक-से-अधिक तीन प्रतिनिधि होते थे, हालांकि किसी भी मामले पर उस राज्य की ओर से केवल एक प्रतिनिधि मत दे सकता था। उसकी बठक साल में कम-से-कम एक बार कोई तीन सप्ताह के लिए होती थी; परन्तु आवश्यकता पड़ने पर अधिक बैठकें भी की जा सकती थीं। सभा में संघ के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत विश्वशांति को प्रभावित करनेवाले किसी भी विषय पर बहस की जा सकती थी। परिषद् में पांच स्थायी और नौ अस्थायी सदस्य होते थे, किन्तु ये दोनों संख्याएं संघ की बदलती हुई सदस्यता के अनुसार बदलती रहती थीं। स्थायी पांच सदस्य बड़ी शक्तियों का और अस्थायी सदस्य छोटे राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करते थे। अस्थायी सदस्यों का तीन वर्ष के लिए निर्वाचन होता था। परिषद् की बैठकें आवश्यकता-नुसार कभी भी की जा सकती थीं, किंतु व्यवहार में साधारणतया एक वर्ष में चार बैठकें होती थीं। परिषद् की शक्तियां सभा की शक्तियों के ही समान थीं, परन्तु वास्तव में, चूंकि उसकी बैठकें अधिक होती थीं और आसानी से हो सकती थीं इस

कारण, वह बाद में सभा के समक्ष रखे जानेवाले मामलों पर विस्तारपूर्वक विचार किया करती थी।

सचिवालय, संघ के स्थायी स्थान जेनेवा में, स्थायी रूप से नियुक्त वैतनिक पदाधिकारियों का एक पूर्णतः अ-राजनीतिक निकाय था। महासचिव (Secretary-General) समेत सचिवालय के समस्त सदस्य अपने अपने राज्यों के प्रतिनिधि न होकर संघ के सेवक होते थे। प्रशासन के प्रयोजनों के लिए सचिवालय की तीन मुख्य शाखाएं थीं : विशेष कार्यों से संबद्ध उप-महासचिवों सहित सामान्य सचिवालय (General Secretariat); सूचना, परिवहन और संचार जैसे विषयों से संबंध रखनेवाले टेकनिकल विभाग; वित्त, पुस्तकालय और रजिस्ट्री से संबद्ध प्रशासनिक विभाग। सचिवालय के मुख्य कार्य थे समस्त सभ्य राज्यों से समान हित रखनेवाले विषयों की छानबीन करना, स्थायी प्रकार के अभिलेखों का निर्माण करना, और परिषद् तथा सभा के समक्ष रखने के लिए प्रतिवेदन तैयार करना।

स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का संगठन प्रसंविदा के अनुच्छेद १४ में दिए गए निर्देश के अनुसार किया गया था। उसका संविधान प्रसंविदा से संलग्न एक लम्बे मसविदे में निर्धारित किया गया था, जो सन् १९२१ में लागू हुआ। इसमें ११ न्यायाधीश होते थे, जिनमें से ५ न्यायाधीश लैटिन राज्यों का, ३ जर्मन और स्कैंडिनेविया समूह के राज्यों का, २ सामान्य विधि वाले राज्यों (ब्रिटेन, ब्रिटिश डॉमिनियन, और सम्मिलित होने की अवस्था में संयुक्तराज्य) का, और एक एशिया का प्रतिनिधित्व करता था। प्रसंविदा के अनुच्छेद १३ के अनुसार यह न्यायालय केवल ऐसे विवादों को तय करने के लिए सक्षम था जो उसके समक्ष पेश किए जाएं, हालांकि वह पक्षों की प्रार्थना पर मध्यस्थता भी कर सकता था। न्यायालय का स्थायी स्थान संघ के मुख्य कार्यालय जेनेवा में न होकर पुराने हेग सम्मेलन द्वारा स्थापित स्थायी न्यायालय के परम्परागत स्थान हेग में था।

एक अन्य संस्था जो संघ के ढांचे के भाग के रूप में स्थापित की गई थी और जेनेवा में उसके अन्य अवयवों के साथ-साथ काम करती थी, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंस्था थी। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजना श्रम अधिकार-पत्र (Labour Charter of Rights) से उत्पन्न हुई, जो कि संघ की प्रसंविदा की तरह ही वारसेल्स की संधि का एक अंग बना दिया गया था। इस प्रकार इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि राष्ट्रीय सरकारों के दूतों के सम्मेलन ने समस्त विश्व में श्रम के दावों और स्थायी शांति में उसके सहयोग का महत्त्व स्वीकार किया। संघ की सभा की ही तरह अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंस्था भी ऐसे प्रस्ताव निर्मित करने के लिए प्रत्येक वर्ष समवेत होती थी, जो बाद में संघ के सदस्य-राज्यों के विचार और अनुमोदन के लि१ भेजे जाते थे। हालांकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंस्था विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत श्रम और उद्योग की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं से बहुत दूर प्रतीत होती थी; फिर भी उसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के आर्थिक पहलू से संबद्ध सूचना एकत्रित

करने और वितरित करने का महत्त्वपूर्ण काम किया। वास्तव में, यह संस्था इतनी सक्रिय और सजीव हो गई थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने पर भी उसका अस्तित्व बना रहा और सन् १९४० से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन की बैठकें अमरीका में होती रहीं। युद्ध के बाद से उसका संयुक्तराष्ट्रसंघ से सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है और वह अपने मूल स्थान जेनेवा में लौट आई है।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् से विश्वशांति बनाए रखने के लिए किसी भी अन्य व्यावहारिक योजना के मुकाबले में राष्ट्रसंघ के संविधान की सफलता की संभावना इस बात में थी कि उसके अवयवों की स्थायी रूप से स्थापना की गई थी; क्योंकि उसके निर्माता इस बात का अनुभव करते थे कि शांति केवल नकारात्मक नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के बीच के काल में होती है, बल्कि एक निश्चयात्मक मनोवृत्ति है जिसका विश्व के राष्ट्रों में धीरे-धीरे और प्रयत्न के साथ पोषण करना चाहिए। संघ के संविधान ने ऐसे साधन की व्यवस्था कर दी थी; उसको क्रियान्वित करना राष्ट्रों के हाथों में था।

अपने जीवन के पहले दस वर्षों में राष्ट्रसंघ ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अन्तर्राष्ट्रीय बीच-बचाव और सहायता के एक यंत्र के रूप में उसने बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। सन् १९२३ में उसने इटली और यूनान के बीच एक विवाद का निर्णय किया, जो अन्यथा सरलता से युद्ध में परिणत हो सकता था। उसी वर्ष इसने आस्ट्रिया और हंगरी के आर्थिक पुनरुद्धार में ठोस सहायता की, जिनको वारसेल्स की संधि और अन्य संधियों ने पुराने 'जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य' के अवशिष्ट भाग से और एक-दूसरे से जबरदस्ती अलग कर दिया था। इसके अतिरिक्त, सन् १९२३ में संघ ने एशिया माइनर से आए शरणार्थियों को लासेन की संधि की शर्तों के अनुसार यूनान में बसाने के जटिल कार्य का निरीक्षण किया। सन् १९२५ में इसने यूनान और बलगेरिया के बीच एक सीमासंबंधी झगड़े को तय किया। इसी दौरान में उसने संधि के अधीन अन्य दायित्वों को भी पूरा किया, जैसे समादिष्ट प्रदेशों को, जो पहले के जर्मन उपनिवेश थे, विभिन्न राज्यों में बांटना और उनकी देख-रेख रखना, तथा डांज़िग के स्वतंत्र नगर के जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शासनों का संगठन करना। इस बीच सचिवालय भी श्रम और स्वास्थ्य जैसे प्रश्नों के अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं से सम्बद्ध सूचना एकत्र करने और श्वेत-दास व्यापार तथा अपकारक ओषधियों के क्रय-विक्रय को रोकने या विनियमित करने के लिए नियम बनाने के अपने कार्य में शीघ्रता के साथ आगे बढ़ा। संक्षेप में, राष्ट्रसंघ तथ्यों का भंडार और वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के बारे में विचारधाराओं के आदान-प्रदान का अनुपम साधन बन गया। इस कार्यक्षेत्र में यूरोप एवं समस्त विश्व के लिए उसके अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होने की सम्भावना थी।

युद्ध के निवारण के लिए प्रस्तुत की गई सर्वाधिक विवादास्पद योजना अनुच्छेद १६ में प्रस्तुत की गई थी। यह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका पूरा उद्धरण देना अधिक उपयुक्त होगा :

"यदि संघ का कोई सदस्य अनुच्छेदों १२, १३ या १५ के अधीन प्रसंविदाओं की अवहेलना करते हुए युद्ध करेगा तो वस्तुतः यह समझा जाएगा कि उसने संघ के समस्त अन्य सदस्य-देशों के विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही की है और वे सदस्य-देश इसके द्वारा यह संकल्प करते हैं कि वे उसके साथ समस्त व्यापारिक या वित्तीय सम्बन्ध तोड़ देंगे, अपने राज्यक्षेत्रों में रहनेवाले व्यक्तियों और प्रसंविदा भंग करनेवाले देश के व्यक्तियों के बीच किसी भी तरह के समागम का निषेध करेंगे, और प्रसंविदा भंग करनेवाले राज्य के क्षेत्र में रहनेवाले व्यक्तियों और किसी अन्य राज्य में, चाहे वह संघ का सदस्य हो या न हो, रहनेवाले व्यक्तियों के बीच किसी भी प्रकार का वित्तीय, वाणिज्यिक या वैयक्तिक समागम रोक देंगे।

"इस बात का निर्णय कि प्रसंविदा का भंग हुआ है या नहीं, परिषद् करेगी। परिषद् में इस प्रश्न पर विचार करते समय संघ के उन सदस्यों के, जिनपर युद्ध करने का आरोप होगा, और, उन सदस्यों के जिनके विरुद्ध ऐसी कार्यवाही की गई होगी, मत नहीं लिए जाएंगे।

"परिषद् संघ के सब सदस्यों को उस तारीख की सूचना देगी जिस तारीख से कि वह इस अनुच्छेद के अधीन आर्थिक दबाव लागू करने की सिफारिश करेगी।

"किन्तु परिषद् किन्हीं विशिष्ट सदस्यों के मामले में इनमें से किसी भी कार्यवाही के प्रवर्त्तन को किसी उल्लिखित अवधि के लिए स्थगित कर सकती है यदि उसे विश्वास हो कि ऐसे स्थगन से उन उद्देश्यों की, जो पूर्वगामी पैरा में उल्लिखित हैं, प्राप्ति में आसानी हो जाएगी या वैसा करना ऐसे सदस्य-देशों को होनेवाली असुविधा और हानि को कम करने के लिए आवश्यक है।"[1]

संघ के उद्देश्य की सचाई और उसकी शक्ति की वास्तविकता की परीक्षा तब हुई जब कि उसके समक्ष अपने एक सदस्य को दूसरे सदस्य के आक्रमण से बचाने की समस्या उपस्थित हुई। ऐसे दो अवसर आए और इन दोनों में संघ बिलकुल असफल रहा। सबसे पहला अवसर सन् १९३१ में आया जब जापान ने चीन के मंचूरिया प्रांत पर कब्जा कर लिया, हालांकि उस समय जापान और चीन दोनों देश संघ के सदस्य थे। चीन ने संघ से सहायता की मांग की, किन्तु संघ कुछ न कर सका और मंचूरिया जापान के पास ही बना रहा। दूसरा अवसर सन् १९३५ में आया जब कि मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। ये दोनों देश संघ के सदस्य ही नहीं थे बल्कि अबीसीनिया को सदस्य बनाने का

---

[1] ये उद्धरण सन् १९२२ में परिषद् और सभा द्वारा संशोधित मूल पाठ में से दिए गए हैं।

प्रयत्न स्वयं इटली ने किया था। हमला होने पर संघ ने अबीसीनिया की अपील सुनी और इटली को हमलावर घोषित कर दिया, किन्तु वह अनुच्छेद १६ के अधीन आर्थिक दबावसंबंधी कार्यवाहियां करने के प्रयत्न में बिलकुल असफल हो गया। इटली द्वारा इथिओपिया पर किए गए बलात्कार के सम्बन्ध में कुछ न कर सकने से संघ की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा उससे वह कभी भी संभल न सका। इसके पश्चात् प्रसंविदा को सुधारने की कुछ कोशिशें की गईं, किन्तु दिन-प्रतिदिन बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ठोस वास्तविकताओं के मुकाबले में, जिनके फलस्वरूप अन्त में सन् १९३९ में फिर युद्ध भड़क उटा, इस सम्बन्ध में पारित प्रस्तावों का महत्त्व केवल सैद्धांतिक ही रहा।

संघ के और सामूहिक सुरक्षा की जिस व्यवस्था को निर्मित करने के लिए उसने इतना सतत परिश्रम किया उसके पतन और समापन के कारण स्पष्ट हैं। अपने आरम्भ से ही संघ को संयुक्तराज्य की सदस्यता का अभाव भुगतना पड़ा, जिसके सहयोग के बिना कि वह कभी भी वास्तविक रूप में प्रभावशील नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त तीन बड़ी शक्तियों—जापान, जर्मनी और इटली—के उससे अलग हो जाने से (हालांकि इस बीच रूस उसमें सम्मिलित हो गया था) वह अपने मूल रूप का छिन्नावशेष मात्र रह गया; अर्थात् युद्ध पर तुले हुए राष्ट्रों के एक गुट्ट के विरुद्ध शांति चाहनेवाले राष्ट्रों का एक समूह मात्र। संघ के पास धन एकत्रित करने की शक्ति नहीं थी और वह सदस्य-देशों द्वारा दिए जानेवाले चंदे पर निर्भर रहता था। उसके अधीन कोई सैनिक बल नहीं था और वह अपने वायदों को पूरा करने में सदस्यों की मरजी पर निर्भर रहता था। उसकी विधि को अन्तिम विश्लेषण में केवल नैतिक सत्ता प्राप्त थी, और ज्यों ही बड़े राज्य उस नैतिक सत्ता की अवहेलना करने को तत्पर हो जाते थे त्यों ही समस्त योजना खंडित हो जाती थी। दूसरे शब्दों में, संघ के पास प्रभुसत्तात्मक शक्ति का अभाव था, जो पूर्णरूपेण उसके प्रत्येक सदस्य-देश के पास बनी हुई थी।

३. संयुक्त राष्ट्रों के अवयव

संयुक्त राष्ट्र का आरम्भ द्वितीय विश्वयुद्ध में संघर्षरत मैत्री के रूप में हुआ। 'संयुक्त राष्ट्र' शब्द का औपचारिक प्रयोग पहलीबार एक अन्तर्राष्ट्रीय करार में किया गया। यह संयुक्त राष्ट्रों की संयुक्त घोषणा थी, जिसपर युद्धरत २६ मित्रराष्ट्रों ने जनवरी सन् १९४२ में वाशिंगटन में हस्ताक्षर किए। इस वाशिंगटन घोषणा पर हस्ताक्षर करनेवाले देश, इससे पहले अगस्त में समुद्र में किए गए अपने एक सम्मेलन के पश्चात्, ब्रिटेन के प्रधान मंत्री और अमरीका के प्रेसीडेंट द्वारा जारी किए गए अटलांटिक अधिकार-पत्र (चार्टर) में उल्लिखित उद्देश्यों और सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए सहमत और वचनबद्ध हुए। अटलांटिक अधिकार-पत्र में आठ बातें थीं और यह घोषणा की गई थी कि अमरीका और ब्रिटेन अपना विस्तार नहीं चाहते, ऐसे प्रादेशिक परिवर्तन नहीं चाहते जो सम्बद्ध

जन-समुदाय की इच्छा के अनुकूल न हों, समस्त जन-समुदायों के अपनी इच्छा के अनुरूप अपनी सरकारें बनाने के अधिकारों का सम्मान करते हैं, इस बात का भरसक प्रयत्न करेंगे कि सब लोग समानता के आधार पर विश्व के व्यापार में भाग ले सकें और कच्चे माल प्राप्त कर सकें, समस्त संसार में श्रमिकों के लिए अधिक अच्छा स्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, नाजी आतंक को नष्ट करने के पश्चात् ऐसी शांति स्थापित करने की कामना रखते हैं जिससे समस्त राष्ट्रों को शांति और सुरक्षा के साथ रहने की आशा हो सके और सब लोगों को समुद्रों में बिना रोक-टोक आने-जाने का अधिकार प्राप्त हो सके, तथा अपनी सारी शक्ति लगाकर यह प्रयत्न करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के साधन के रूप में आक्रमण और बलप्रयोग का लोप हो जाए।

वाशिंगटन घोषणा के पश्चात् अक्तूबर सन् १९४२ में मास्को में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें रूस, संयुक्तराज्य, ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने मास्को घोषणा के नाम से ज्ञात एक प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किए। इस घोषणा के अनुच्छेद ४ में कहा गया था कि "चारों देश अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए एक ऐसे सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की यथाशीघ्र स्थापना की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, जिसका आधार समस्त शांतिप्रिय राज्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता का सिद्धांत हो और जो ऐसे समस्त राष्ट्रों के लिए खुला हो। लगभग एक वर्ष पश्चात् नवम्बर सन् १९४४ में अमरीका में डम्बर्टन ओक्स में इन्हीं चार देशों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में प्रस्तावित संगठन का वास्तविक ढांचा अनौपचारिक रूप से तैयार किया गया और यह तय किया गया कि प्रस्तावों को अधिकार-पत्र के नाम से ज्ञात एक संधि का रूप दिया जाए और संगठन का नाम 'संयुक्त राष्ट्र' रखा जाए। डम्बर्टन ओक्स में निरूपित सिद्धांत फर्वरी सन् १९४५ में याल्टा (क्रीमिया) में स्टालिन-रूजवेल्ट-चर्चिल वार्त्ता में कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार किए गए और अन्त में मूल रूप में कोई खास परिवर्तन किए बिना इन्हें एक अधिकार-पत्र का रूप दिया गया, जिसपर उसी वर्ष में अप्रैल से जून तक सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में सम्मिलित होनेवाले ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए।

संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र, जो २७ जून सन् १९४५ को प्रकाशित किया गया था, एक लम्बा दस्तावेज है, जिसमें एक प्रस्तावना और १९ अध्यायों के अन्तर्गत १११ अनुच्छेद हैं। प्रस्तावना इस प्रकार है :

"हम संयुक्त राष्ट्रों के प्रजाजन, युद्ध की विभीषका से, जिसने हमारे जीवनकाल में दो बार मानव-समुदाय को अवर्णनीय दुःख से संत्रस्त किया है, आनेवाली पीढ़ियों को बचाने के लिए; और

"मानव के मूल अधिकारों, व्यक्ति के गुणों और गरिमा, तथा स्त्री-पुरुषों एवं छोटे-बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों पर विश्वास को पुनः सुदृढ़ करने के लिए; और

"ऐसी परिस्थितियां, जिनमें संधियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य स्रोतों से उत्पन्न दायित्वों के प्रति श्रद्धा बनी रहे, स्थापित करने के लिए; और

"सामाजिक प्रगति का तथा व्यापक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत जीवन-स्तर का उन्नयन करने के लिए, तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त;

"सहनशीलता का व्यवहार करने और एक-दूसरे के साथ अच्छे पड़ोसियों की भांति शांतिपूर्वक रहने के लिए; और

"अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के हेतु अपनी शक्ति का एकीकरण करने के लिए; और

"सिद्धांतों की स्वीकृति और उपयुक्त साधनों की स्थापना द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए कि समान हित के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी अवस्था में सशस्त्र बल का प्रयोग न होगा; और

"समस्त नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के उन्नयन के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रयोग करने के लिए कृतनिश्चय होकर इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने प्रयत्नों को समन्वित करने का संकल्प करते हैं।

"तदनुसार हमारी सरकारें, सान फ्रांसिस्को नगर में समवेत प्रतिनिधियों के द्वारा, जिन्होंने अपनी पूरी शक्तियों को अच्छे और समुचित रूप में प्रदर्शित किया है, संयुक्त राष्ट्रों के वर्त्तमान अधिकार-पत्र से सहमत हैं और एतद्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करती हैं, जो 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' के नाम से ज्ञात होगा।"

अनुच्छेद १ में संघ के चार उद्देश्य बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं: प्रभावपूर्ण सामूहिक उपायों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना; सब लोगों के आत्म-निर्णय और समान अधिकारों के सिद्धांत के प्रति आस्था के आधार पर राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना; आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानसिक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना; और इन समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों में समन्वय स्थापित करन के लिए केन्द्र बनना।

अनुच्छेद २ में कहा गया है कि संघ अपने सब सदस्य-देशों की प्रभुसत्तात्मक समानता के सिद्धांत पर आधारित है, और, ऐसी अवस्था के सिवाय जिसमें (अधिकार-पत्र के अध्याय ८ में वर्णित) बाध्य करनेवाले कार्य शांति के हित में आवश्यक हो जाएं अन्य किसी भी अवस्था में अधिकार-पत्र की कोई बात संयुक्तराष्ट्रसंघ को ऐसे मामलों में जो सारतः किसी राज्य के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, हस्तक्षेप करने के लिए अधिकार नहीं देगी। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु छह मुख्य अवयव गठित किए जाएंगे जो इस प्रकार हैं: (१) महासभा, (२) सुरक्षा परिषद्, (३) आर्थिक और सामाजिक परिषद्, (४) न्यास परिषद्, (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और (६) सचिवालय।

संयुक्त राष्ट्र के संगठन ने पिछले राष्ट्रसंघ से जो कुछ ग्रहण किया है वह स्पष्ट है। जैसा हम देख चुके हैं, पिछले राष्ट्रसंघ में एक सभा, एक परिषद्, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और एक सचिवालय था। उसमें आज के संयुक्तराष्ट्रसंघ के जिन अवयवों का अभाव था वे आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् हैं; हालांकि एक अर्थ में ये भी उन विशिष्ट निकायों के विकसित रूप हैं जिनको पिछले राष्ट्रसंघ ने या तो अनुप्रेरित किया था या विकसित किया था, अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंस्था (यद्यपि यह नई परिषद् के साथ-साथ, जिसके कृत्य अधिक व्यापक हैं, अब भी विशेष प्रयोजनों के लिए वर्त्तमान है), और आदिष्ट प्रदेशों सम्बन्धी विशेष आयोग।

१. **महासभा**—महासभा, जिसके गठन और कृत्यों का अधिकार-पत्र के ९ से लेकर २२ तक के अनुच्छेदों में पूरी तरह वर्णन किया गया है, शक्ति के सम्बन्ध में पिछले राष्ट्र-संघ की सभा के समान ही है, हालांकि वह गठन में वैसी नहीं है। कोई भी सदस्य-राज्य अधिक-से-अधिक पांच प्रतिनिधि भेज सकता है, किन्तु मतदान केवल एक ही प्रति-निधि कर सकता है। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा के निर्णय के लिए उपस्थित और मत देनेवाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत आवश्यक है, किन्तु साधारण मामलों पर सामान्य बहुमत पर्याप्त होता है। साधारणतया महासभा का वर्ष में एक अधिवेशन होता है, किन्तु सुरक्षा परिषद् अथवा सदस्य-देशों के बहुमत की प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन किए जा सकते हैं। पुराने राष्ट्रसंघ की सभा के समान ही वर्त्तमान महासभा में भी शांति और सुरक्षा बनाए रखने से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर जो उसके समक्ष सुरक्षा परिषद् या सदस्य-देशों के बहुमत द्वारा रखा जाए, विचार किया जा सकता है। महासभा में शस्त्रास्त्रों से सम्बन्धित और किसी अंतर्राष्ट्रीय प्रयोजन के लिए सहयोग बढ़ाने के विषय में किसी भी प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। महासभा, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद्, दोनों के कार्यों पर नियंत्रण रखती है, सुरक्षा परिषद् से वार्षिक प्रतिवेदन लेती है तथा संस्था के बजट को स्वीकार करती है।

२. **सुरक्षा परिषद्**—सुरक्षा परिषद् (अनुच्छेद २३–५४) पिछले राष्ट्रसंघ की परिषद् से व्युत्पन्न है; किन्तु इसका कार्यक्षेत्र अधिक विशाल और इसकी शक्तियां अधिक व्यापक हैं। इसमें ग्यारह सदस्य होते हैं जिनमें पांच, अर्थात् ब्रिटेन, संयुक्तराज्य, सोवियत् रूस, फ्रांस और चीन स्थायी सदस्य हैं। बाकी छह सदस्य महासभा द्वारा दो वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं, जिनमें से तीन प्रत्येक वर्ष रिटायर हो जाते हैं और तुरन्त ही पुनर्निर्वाचन के पात्र नहीं होते। प्रत्येक सदस्य-देश का केवल एक प्रतिनिधि और केवल एक मत हो सकता है। सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय के लिए ग्यारह में से कम-से-कम सात सदस्यों का स्वीकारात्मक मत आवश्यक होता है, किन्तु प्रक्रियासम्बन्धी विषयों से भिन्न समस्त विषयों पर सात स्वीकारात्मक मतों के अन्तर्गत पांचों स्थायी सदस्यों के सम्मति-सूचक मत भी होने चाहिए; हालांकि किसी भी विवादसम्बन्धी निर्णय के बारे में मत देने

में उस विवाद से सम्बद्ध पक्ष को भाग लेने का अधिकार नहीं है। प्रक्रियासम्बन्धी विषयों से भिन्न विषयों के बारे में इस निर्बन्धकारी धारा का प्रभाव यह होता है कि यद्यपि कोई स्थायी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा पैदा करनेवाले किसी विवाद की सुरक्षा परिषद् द्वारा बहस का निषेध नहीं कर सकता, तथापि बहस के बाद की समस्त अवस्थाओं में, जैसे विवाद की जांच, परिषद् द्वारा बाध्यकारी कार्यवाही की सिफारिश और बल का वास्तविक प्रयोग आदि में, निषेधाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

अधिकार-पत्र द्वारा सुरक्षा परिषद् को "अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के अस्तित्व को खतरे में डालने की सम्भावना रखनेवाले" किसी विवाद पर विचार करने का उत्तरदायित्व प्राप्त हुआ है, और सदस्य-देश अधिकार-पत्र के अनुसार परिषद् द्वारा किए गए निर्णयों को स्वीकार और निष्पादित करने का दायित्व ग्रहण करते हैं। सुरक्षा परिषद् इस उद्देश्य के लिए कार्यवाही करने के लिए 'संयुक्त राष्ट्रों' से प्रार्थना कर सकती है, और संघ के सदस्य-देशों के बीच यह निर्देश करने के लिए कि वे परिषद् को अपने उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त कितना सैन्यबल देंगे, विशेष करार किये जाएंगे।

अतएव यह कहा जा सकता है कि योजना का सार "संगठित रक्षा और संयोजित कार्यवाही" है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रस्तावित उपायों में ही संयुक्तराष्ट्रों की नई योजना और पिछले राष्ट्रसंघ की पुरानी योजना के बीच मूलभूत अन्तर दिखाई देता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सुरक्षा परिषद् की सहायता एक सैनिक कर्मचारी समिति करेगी जिसमें बड़ी शक्तियों के सेना-प्रमुख होंगे। सम्मिलित सेना के लिए प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र कितनी और किस प्रकार की जल, थल और वायु सेना देगा, इसके विषय में विशिष्ट परामर्श देना इस समिति का कर्त्तव्य होगा। नई विश्वसंस्था की कठिनाई केवल यही नहीं है कि वह उपेक्षा करनेवाले राष्ट्रों पर अपना निर्णय बाध्य करने के लिए पर्याप्त सशस्त्र शक्ति की उपलब्धि किस प्रकार सुनिश्चित करे बल्कि यह भी है कि उस शक्ति की किस प्रकार व्यवस्था की जाए जिससे कि जहां कहीं भी खतरा पैदा हो वहां उससे तुरन्त ही और प्रभावपूर्ण रूप से काम लिया जा सके। इस दोहरी आवश्यकता की पूर्ति के लिए योजना में केवल एक विश्वव्यापी संगठन की ही परिकल्पना नहीं की गई है बल्कि उसके अन्दर प्रादेशिक रक्षा के लिए संस्थाओं और इस प्रादेशीकरण के साथ ही समस्त विश्व में संयुक्त नियंत्रण के अधीन अड्डों की एक अविच्छिन्न श्रृंखला स्थापित करने की भी कल्पना की गई है।

३. **आर्थिक और सामाजिक परिषद्**—६१ से लेकर ७४ तक के अनुच्छेद आर्थिक और सामाजिक परिषद् के स्वरूप और उसके कृत्यों की विवेचना करते हैं। इसका महासभा द्वारा निर्वाचन होता है और उसमें १८ सदस्य-देश होते हैं,जिनमें से प्रत्येक का एक मत होता है। प्रत्येक छह सदस्य तीन वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं, हालांकि निवृत्त होनेवाले सदस्य तुरन्त ही पुनः निर्वाचित भी हो सकते हैं। परिषद् में निर्णय, उपस्थित

और मत देनेवाले सदस्यों के, साधारण बहुमत से किए जाते हैं। परिषद् के अधिवेशन आवश्यक होने पर कभी भी अथवा सदस्यों की बहुसंख्या की प्रार्थना पर किए जा सकते हैं। परिषद् के कृत्य बड़े व्यापक और जटिल हैं। उसका कर्त्तव्य समस्त विश्वभर में संयुक्त-राष्ट्रों से सम्बन्धित समस्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षात्मक प्रश्नों तथा स्वास्थ्य एवं सम्बद्ध विषयों का अध्ययन करना और महासभा के समक्ष उनके बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है।

राजनीति और शस्त्रों से परे ऐसे बहुत कम अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हैं, जिनसे आर्थिक और सामाजिक परिषद् का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्ध न हो। यह बात इतनी सत्य है कि अधिकार-पत्र ने इस परिषद् को विभिन्न प्रसंविदाओं द्वारा आर्थिक और सामाजिक प्रयोजनों के लिए पहले से ही स्थापित तथा संयुक्तराष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों से घनिष्ट-रूपेण सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों (एजेन्सियों) के साथ सभा के अनुमोदन से करार करने की सत्ता प्रदान की है। इन तथाकथित विशिष्ट अभिकरणों के अन्तर्गत विश्वस्वास्थ्य संस्था (World Health Organization), संयुक्तराष्ट्रों की शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति संस्था (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization), और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंस्था (International Labour Organization) भी हैं। ऐसे करारों का उद्देश्य युद्ध के पश्चात् के इस विशाल क्षेत्र में काम करनेवाले विभिन्न अभिकरणों के कार्य को समन्वित करना है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् के मानवीय कार्यक्षेत्र को अनिर्बन्धित रखने की दृष्टि से यह भी व्यवस्था की गई है कि परिषद् संयुक्तराष्ट्रों की किसी सदस्य-देश के प्रतिनिधियों को अथवा पूर्वोक्त विशिष्ट अभिकरणों में से किसी के प्रतिनिधियों को अपनी बहस आदि में मताधिकार के बिना भाग लेने के लिए आमंत्रित कर सकती है या उन विशिष्ट अभिकरणों में से किसी की बहस आदि में भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर सकती है।

४. न्यास परिषद्——न्यास परिषद् (अनुच्छेद ७५–९१) में सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्य, न्यासाधीन प्रदेशों का प्रशासन करनेवाले सदस्य-देश, और महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित इतने सदस्य-देश होते हैं जितने यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हों कि परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या न्यासाधीन प्रदेशों का प्रशासन करनेवाले संयुक्तराष्ट्रों के सदस्यों और ऐसा न करनेवाले सदस्यों के बीच समान रूप से विभाजित रहे। प्रत्येक सदस्य-देश परिषद् में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए किसी विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति को निर्देशित करता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है और निर्णय उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के बहुमत से किए जाते हैं। परिषद् का अधिवेशन आवश्यकतानुसार कभी भी हो सकता है किन्तु सदस्यों की बहुसंख्या द्वारा प्राथना किए जाने पर अवश्य होना चाहिए।

न्यास परिषद् का सम्बन्ध ऐसे प्रदेशों से है जो स्व-शासी नहीं हैं। इनमें पिछले राष्ट्र-

संघ के समादिष्ट प्रदेश या द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप शत्रु-देशों से पृथक् किए गए प्रदेश अथवा ऐसे प्रदेश भी हो सकते हैं जिन्हें उनके प्रशासन के लिए उत्तरदायी राज्य स्वेच्छा से इस परिषद् को सौंप दें। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, ऐसे प्रदेशों के लिए उत्तरदायी सदस्य-राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे वहां के निवासियों के हितों को सर्वोपरि समझें और यथाशक्ति उनके कल्याण की वृद्धि का आभार स्वीकार करें। न्यास-व्यवस्था के मूल उद्देश्य हैं:— अन्तर्राष्ट्रीय शाँति और सुरक्षा की वृद्धि करना; न्यासाधीन प्रदेशों के निवासियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षात्मक प्रगति को बढ़ाना और स्व-शासन अथवा स्वतन्त्रता की दिशा में उनका प्रगतिशील विकास करना; मानव-अधिकारों के लिए और जाति, लिंग, भाषा या धर्म पर आधारित किसी प्रकार के भेदभाव के बिना सबके लिए मूलभूत स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना; तथा संयुक्त राष्ट्रों के समस्त सदस्यों और उनके नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं वाणिज्यिक विषयों में समान व्यवहार सुनिश्चित करना। न्यासाधीन प्रदेश का प्रशासन करनेवाली शक्ति को महासभा के समक्ष वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है। महासभा चाहे तो न्यास परिषद् के माध्यम से न्यासाधीन प्रदेशों को समय-समय पर पर्यवेक्षणार्थ अपने प्रतिनिधि भेजने अथवा ऐसे प्रदेशों से याचिकाएं ग्रहण करने की व्यवस्था कर सकती है।

५ **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (अनुच्छेद ९२–९६) संयुक्त राष्ट्रों का मुख्य न्यायिक अवयव है। यह एक संविधि के अनुसार कार्य करता है, जो राष्ट्रसंघ के अधीन स्थायी न्यायालय की संविधि पर आधारित है और संयुक्त राष्ट्रों के अधिकार-पत्र का एक अभिन्न अंग है। अतः उसके समस्त सदस्य सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा के अनुमोदन से उसके पक्ष हैं। संयुक्तराष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य किसी भी मामलेमें, जिसका वह एक पक्ष है, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए वचन-बद्ध है और यदि वह वैसा नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद् निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए समुचित कार्यवाही कर सकती है। किन्तु अधिकार-पत्र में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे सदस्य-देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से काम लेना अनिवार्य हो या जो उन्हें अपने मतभेदों को पहले से विद्यमान या भविष्य में बनाए जानेवाले अन्य न्यायाधिकरणों के समक्ष प्रस्तुत करने से रोके। महासभा या सुरक्षा परिषद् या संयुक्तराष्ट्रसंघ के अन्य अवयव अथवा कोई विशिष्ट अभिकरण न्यायालय से किसी ऐसे विधिसम्बन्धी प्रश्न पर, जो इन निकायों की कार्यवाहियों के अन्तर्गत हो, परामर्श देने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं।

६. **सचिवालय**—सचिवालय के कर्त्तव्यों और गठन की रूपरेखा अधिकार-पत्र के ९७ से लेकर १०१ तक के अनुच्छेदों में दी गई है। संघ का मुख्य प्रशासनिक पदाधिकारी पिछले राष्ट्रसंघ के समान ही महासचिव होता है, जो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। महासचिव अपनी इस हैसियत में महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, तथा

न्यास परिषद् के सब अधिवेशनों में कार्य करता है और उसे सारे संघ के कार्य के बारे में महासभा को एक वार्षिक प्रतिवेदन देना होता है। वह किसी भी ऐसे विषय को जिससे उसकी राय में शांति और सुरक्षा को खतरा पहुंचने की सम्भावना हो, सुरक्षा परिषद् के समक्ष रख सकता है। महासचिव और उसके कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय पदाधिकारी हैं। वे संघ के प्रति उत्तरदायी हैं और उससे बाहर की किसी सत्ता से अनुदेश न तो मांग सकते हैं और न ग्रहण कर सकते हैं। प्रत्येक सदस्य-देश सचिवालय के अनन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का सम्मान करने के लिए वचनबद्ध है। महासचिव अपने कर्मचारियों को महासभा के विनियमों के अधीन नियुक्त करता है। इन विनियमों का उद्देश्य कार्य-पटुता और ईमानदारी का सर्वोच्च स्तर सुनिश्चित करना तथा यथासम्भव अधिक-से-अधिक व्यापक भौगोलिक आधार पर भरती करना है।

अधिकार-पत्र द्वारा गठित संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयव उपर्युक्त प्रकार के हैं। इनके गठन में संशोधन की सम्यक् प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यथा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। संशोधन की शर्त्तें अधिकार-पत्र के अनुच्छेद १०८ और १०९ में बताई गई हैं। अधिकार-पत्र के संशोधन सब सदस्य-देशों के लिए उसी समय प्रवर्त्तित हो सकते हैं जब कि महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा उनका अनुमोदन हो जाए और सुरक्षा परिषद् के सब स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रों के दो-तिहाई सदस्य-देशों द्वारा अपनी-अपनी सांविधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार उनका अनुसमर्थन प्राप्त हो जाए। अधिकार-पत्र पर पुनः विचार करने के प्रयोजनों के लिए संयुक्त राष्ट्रों का सामान्य सम्मेलन ऐसी तारीख और स्थान पर किया जा सकता है जैसा महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा तथा सुरक्षा परिषद् के किन्हीं सात सदस्यों के मत द्वारा नियत किया जाए। ऐसे सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक मत होगा। किन्तु अधिकार-पत्र को अत्यधिक स्थिर और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल होने से बचाने के लिए यह विशेष उपबन्ध किया गया है कि यदि अधिकार-पत्र के प्रवृत्त होने के पश्चात् महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन से पूर्व ऐसा कोई सामान्य सम्मेलन न हुआ हो तो उसके लिए एक प्रस्ताव महासभा के उस अधिवेशन की कार्यसूची में रखा जाना चाहिए और यदि सभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा तथा सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यों के मत द्वारा निश्चय किया जाए तो सम्मेलन किया जाना चाहिए।

४. संयुक्तराष्ट्रसंघ का कार्य-दर्शन

सन् १९४५ में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जटिल अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के कारण संसार जिस कूटनीतिक झमेले में फंसा हुआ था उसके बावजूद संयुक्तराष्ट्रसंघ की स्थापना हो गई और युद्ध की समाप्ति के कुछ ही महीनों के अन्दर उसने अपना काम आरंभ कर दिया। महासभा का पहला अधिवेशन जनवरी और फर्वरी सन् १९४६ में लंदन

में हुआ और उसने बहुत कुछ प्रारम्भिक कार्य किया। उसने सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव किया और आर्थिक और सामाजिक परिषद् का निर्माण भी कर लिया। महासचिव और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्वाचन के कार्य में भी उसने भाग लिया। इसके अतिरिक्त, शरणार्थियों और युद्ध-अपराधियों जैसे अनेक विकट युद्धोत्तर प्रश्नों के विषय में समुचित कार्यवाही के सम्बन्ध में भी उसने करार किए। उसने संघ के लिए स्थायी स्थान खोजने के प्रश्न पर भी विचार किया और अन्त में यह निश्चय किया कि उसका स्थान संयुक्तराज्य में होना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् का पहला अधिवेशन भी जनवरी सन् १९४६ में लन्दन में ही हुआ और उसके समक्ष युद्ध से पैदा होनेवाली सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएं तुरंत ही उपस्थित हुईं। सुरक्षा परिषद् में किसी भी समस्या का निर्णय करने में मुख्य रूप से स्थायी सदस्यों का हाथ होना स्वाभाविक है। किन्तु प्रत्येक बड़ी समस्या पर ब्रिटेन और अमरीका ने रूस को अपने विरुद्ध पाया। चूंकि स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार द्वारा किसी भी निर्णय को रोका जा सकता है, अतएव यह संघ के अस्तित्व के लिए एक निरन्तर खतरा बना हुआ है। परन्तु क्योंकि निषेधाधिकार केवल सुरक्षा परिष ् में ही प्रयुक्त हो सकता है, महासभा में नहीं जहां रूस और उसकी नीतियों के विरुद्ध हमेशा बहुमत प्राप्त होने की सम्भावना है, इसलिए सुरक्षा परिषद् के अधिवेशनों में ही एक प्रकार से विचारधाराओं का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। किन्तु यह सब होते हुए भी इस कठिनाई से बचने का कोई मार्ग नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि निषेधाधिकार के बिना कोई भी बड़ी शक्ति संयुक्त राष्ट्रों के अधिकार-पत्र को मानने के लिए राजी नहीं होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कोई विवाद ऐसी अवस्था में पहुंच जाए जब कि कोई बड़ी शक्ति उसपर आगे विचार करने से इनकार कर दे तो कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था उस शक्ति को अपने हित और अपनी इच्छा के अनुसार मनमानी करने से नहीं रोक सकेगी। ऐसी परिस्थिति में विश्व युद्ध के निकट पहुंच जाएगा और बीच-बचाव की संस्था के अस्तित्व मात्र से इस अवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

किन्तु सत्य यह है कि संयुक्तराष्ट्रसंघ अथवा उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित किसी प्रकार की अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सफलता प्राप्त करना अत्यावश्यक है; अन्यथा सभ्य संसार का विनाश अनिवार्य है। संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र कम-से-कम एक मामले में पिछले राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा से काफी आगे है। यह अधिकार-पत्र व्यक्ति के अधिकारों के लिए स्पष्ट या निहित चिन्ता से ओतप्रोत है जो बात पिछले प्रसंविदा में कहीं पर भी नहीं पाई जाती थी। पिछले राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा में "उच्च संविदाकर्त्ता पक्षों" की चर्चा है, जब कि संयुक्तराष्ट्रसंघ का अधिकार-पत्र, जैसा कि हम उसकी प्रस्तावना के उद्धरण में देख चुके हैं, "हम संयुक्त राष्ट्रों के प्रजाजन"—इन शब्दों से प्रारंभ होता है जो अमरीकी संविधान से लिए गए हैं, जिसके प्रारम्भिक शब्द हैं: "हम अमरीका के प्रजाजन"।

सारी प्रस्तावना इस मानवीय भावना से ओतप्रोत है और यही संयुक्त राष्ट्रों के दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवयवों, अर्थात् आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद्, का मूल आधार है। ये दोनों परिषदें काम कर रही हैं। आर्थिक और सामाजिक परिषद् से सम्बद्ध विशिष्ट अभिकरण (शिक्षा-विज्ञान और संस्कृति-संस्था) का सम्बन्ध विशेष रूप से सामान्य नागरिक के कल्याण से है, और, संयुक्तराष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य-देश में अपनी अनेक शाखाओं द्वारा, वह उसे दुनियां को एक और सर्वव्यापी युद्ध से बचाने के काम में हाथ बंटाने का अवसर देता है, जिस युद्ध से कि उन सब बातों का, जिन्हें हम पाश्चात्य सभ्यता के अन्तर्गत मानते हैं, बिलकुल ही नाश हो जाएगा।

इस अर्थ में राष्ट्रीय राज्यों के संविधानों के साथ, जिनकी हम परीक्षा कर चुके हैं, पिछले राष्ट्रसंघ के संविधान की अपेक्षा संयुक्तराष्ट्रसंघ के संविधान की अधिक तुलना की जा सकती है। यह सच है कि संयुक्तराष्ट्रसंघ अपने समस्त सदस्य-देशों की समान प्रभुसत्ता के सिद्धांत पर आधारित है और इस सीमा तक प्रत्येक सदस्य-राज्य की प्रभुसत्ता अखंड है। परन्तु, जहां पिछले राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य-देश इस बात का निर्णय स्वयं करता था कि वह विरोधी कार्यवाही प्रयुक्त करने के बारे में सभा या परिषद् की सिफारिश को स्वीकार करे या न करे, वहां संयुक्तराष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र के अधीन प्रत्येक सदस्य-देश इस बात के लिए अपने-आपको वचनबद्ध करता है कि वह सुरक्षा परिषद् द्वारा मांग किए जाने पर तुरन्त ही आर्थिक प्रतिबन्ध आरोपित करेगा और अपने सशस्त्र बलों का भाग करार के अनुसार देगा। सामूहिक सुरक्षा के इस नए उपकरण की परीक्षा के रूप में संयुक्तराष्ट्रसंघ ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रभावपूर्ण कार्यवाही करने में सफलता प्राप्त की है, जब कि पिछला राष्ट्रसंघ युद्धों के बीच के काल में ऐसा करने में दो बार असफल रहा। पिछला राष्ट्रसंघ सन् १९३१ में जापान को मंचूरिया पर अधिकार करने से रोकने के लिए कुछ न कर सका और सन् १९३५ में अबीसीनिया पर इटली द्वारा हमला किए जाने पर सदस्य-देशों को इटली के विरुद्ध संगठित नहीं कर सका; किंतु संयुक्त राष्ट्र—हालांकि रूस की अनुपस्थिति में—सन् १९५० में दक्षिणी कोरिया के विरुद्ध उत्तरी कोरियाई आक्रमण को रोकने के लिए संगठित हो गए। अब यह बिलकुल निश्चित हो गया है कि यदि इस परमाणु-युग में तृतीय विश्वयुद्ध के खतरे से संत्रस्त राष्ट्र इस विश्व-संविधान को कार्यान्वित नहीं कर सकेंगे तो कोई भी राष्ट्रीय संविधान जीवित नहीं रह सकेगा।

प्रश्न

१. **सन् १९१४ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के समन्वय के लिए प्रस्तुत योजनाओं के इतिहास पर प्रकाश डालिए।**

२. **प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् स्थापित राष्ट्रसंघ के गठन और कृत्यों की व्याख्या कीजिए।**

३. राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण बताइए।

४. संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयवों के स्वरूप और कृत्यों पर प्रकाश डालिए।

५. जिन परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र लिखा गया था उनकी उन परिस्थितियों से तुलना कीजिए जिनमें राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा तैयार की गई थी और राष्ट्रसंघ के मुकाबले में संयुक्त राष्ट्रों के अधिक सफल होने की संभावना पर प्रकाश डालिए।

६. संयुक्तराष्ट्र संगठन अटलांटिक अधिकार-पत्र में निर्धारित सिद्धान्तों के परि-पालन के लिए समुचित साधनों का निर्माण करने में कहां तक सफल हुआ है ?

७. यह कहना कहां तक ठीक है कि राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र अधिक मानवीय दस्तावेज है ?

८. संयुक्त राष्ट्रों की सुरक्षा परिषद् की शक्तियां राष्ट्रसंघ की परिषद् की शक्तियों से किन अर्थों में बड़ी हैं ?

९. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्या महत्त्व है और स्थायी शांति की स्थापना में वह क्या भाग ले सकता है ?

१०. "यदि संयुक्तराष्ट्रसंघ के राजनीतिक अवयवों और सशस्त्र बल से हम यह सीख सकते हैं कि मृत्यु से किस प्रकार बचा जा सकता है, तो संयुक्त राष्ट्रों की शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति संस्था से हम यह सीख सकते हैं कि जीवित किस प्रकार रहा जा सकता है ?" विश्व-नागरिकता के विकास के लिए मूल पाठ के रूप में उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

अध्याय १७

संविधानवाद का भविष्य

प्रथम विश्वयुद्ध के तुरन्त पश्चात् राजनीतिक संविधानवाद का भविष्य बड़ा उज्ज्वल प्रतीत होता था। वास्तव में दुनियां में शायद ही कोई सभ्य राज्य होगा जिसने किसी-न-किसी रूप में राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधान को न अपना लिया हो। किन्तु इस परिस्थिति से उत्पन्न आशावाद की लहर अनेक घटनाओं से विलीन हो गई, क्योंकि कुछ ही समय पश्चात् यूरोप के बहुत-से भागों में शासन के सांविधानिक स्वरूपों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। रूस में क्रांतिकारी सत्ता की सफलता, जिसने उदार अस्थायी शासन को हिंसात्मक रीति से समाप्त कर दिया था, प्रतिक्रांति पर उसकी विजय से पहले ही सुनिश्चित हो चुकी थी। उसके पश्चात् इटली में फासिस्ट विद्रोह, जर्मनी में नाजी विप्लव, स्पेन में फ्रांको की विजय, और पोलैंड, रूमानिया, यूनान तथा पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों में अर्द्ध-अधिनायकवाद का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह सब होते हुए भी सामान्यतया पश्चिमी राज्यों में द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन आक्रमण तक राजनीतिक संविधानवाद चलता रहा, हालांकि फ्रांस और बेलजियम में इसका रूप कुछ अनिश्चित-सा रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध की पश्चात्वर्त्ती स्थिति प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति से बिलकुल भिन्न थी। बेलजियम, हॉलैंड और स्कॅंडिनेविया के राज्य जर्मन आधिपत्य के दिनों में निलम्बित संविधानों को पुनः काम में लाने लगे। फ्रांस ने अपने चतुर्थ गणतंत्र के संविधान में तृतीय गणतंत्र के संविधान की मुख्य बातें पुनः स्थापित कीं। इटली ने गणतांत्रिक संविधान प्रख्यापित करते हुए अपनी प्रणाली में से फासिस्ट विष को स्पष्टतः निकाल दिया। इसके साथ ही स्वीडन और स्विट्जरलैंड ने, जो युद्ध में तटस्थ रहे थे, अपने मूल संविधानों को बनाए रखा। किन्तु शेष यूरोप में राजनीतिक संविधानवाद के दृष्टिकोण से परिस्थिति अत्यधिक अन्धकारपूर्ण थी जैसी कि वह अन्य मामलों में भी थी। शांति-संधि ने जर्मनी को आधिपत्यकर्त्ता शक्तियों के अधीन एक राजनीतिक एवं आर्थिक मरुस्थल-सा बना दिया। यह सच है कि ब्रिटिश, अमरीकी और फ्रांसीसी क्षेत्रों में सन् १९४९ में पश्चिमी जर्मनी में संघीय गणतंत्र की एवं राज्य-संसदों की स्थापना के द्वारा लोकतंत्रीय स्वरूपों के पुनर्निर्माण का कुछ प्रयत्न किया गया, किन्तु जर्मनी के पूर्व में रूसी प्रभाव के अधीन शेष यूरोप में लोगों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार शासन-निर्माण की बहुत कम आशा रह गई थी।

अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद अब भी परीक्षण की अवस्था में ही चल रहा है और यदि उसे जीवित रहना है तो उसे अपने-आपको परिवर्तन-

शील समय और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए तैयार रहना चाहिए। जैसा हम देख चुके हैं, राजनीतिक संविधानवाद एक अर्थ में बहुत पुराना है, किंतु लोकतंत्र के साधन के रूप में वह अपेक्षाकृत नया है। ब्रिटेन में भी, जो उसका जन्मस्थान है, पुराने संविधान का लोकतंत्रीकरण लगभग पिछले ८० वर्षों के दौरान में ही हुआ है। अतएव, यह समझने का कोई कारण नहीं है कि वह परिवर्तन की सीमा पर पहुंच गया है। इसलिए, उन तरीकों की जाच करना लाभदायक होगा जिनसे वह अपनी वर्त्तमान दुर्बलताओं को दूर कर सके और भविष्य में अपने समक्ष निश्चय ही प्रस्तुत होनेवाली समस्याओं का समाधान कर सके। आधुनिक संसदीय प्रणालियों की सबसे अधिक स्पष्ट कमजोरी यह है, जैसा हम पहले बता चुके हैं, कि उनकी केन्द्रीय संस्थाओं के पास जितने वे उचित रूप से निभा सकती हैं उनसे अधिक काम हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा हम पहले भी बता चुके है, उसके समक्ष प्रस्तुत नई समस्याएं मुख्यतः आर्थिक हैं; क्योंकि अधिकतर सामाजिक सुधारवादियों के कार्यक्रमों में राज्य की आर्थिक कार्यवाहियों का बहुत अधिक विस्तार परिकल्पित है। इन दो बातों के साथ-साथ हम इस बात पर भी विचार करना है कि राजनीतिक लोकतंत्र का यह सूत्र कि प्रत्येक नागरिक एक माना जाएगा, एक से अधिक नहीं, सामान्य राज्य में श्रमिक-समूह को संतुष्ट करने में अधिकतर असफल रहता है, हालांकि यह पद्धति उन्ही के हित के लिए आविष्कृत मानी जाती है।

यह अंतिम बात पूर्ववर्त्ती दोनों बातों में उलझन पैदा कर देती है; क्योंकि जहां समाज के कम उन्नत अंग के आर्थिक हित के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के केन्द्रीय अवयवों को और अधिक कर्त्तव्य सौंपे जाएं. हालांकि उनके पास पहले से ही इतने अधिक कर्त्तव्य हैं कि वे उनका उचित रूप से निष्पादन कठिनाई से ही कर सकते हैं, वहां मतदान की आधुनिक प्रणाली के अधीन गठित संसद् में श्रमिकों को बहुमत प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव होता है और ऐसी परिस्थिति में यह सम्भव है कि हताश होकर वे उच्छृंखल अ-सांविधानिक मार्गों को अपनाने के लिए बहकाए जा सकें। सांविधानिक राज्य को इस कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि औद्योगिक श्रमिक यदि बहुमत में नहीं हैं तो भी उनका कम-से-कम ऐसा पर्याप्त बलशाली अल्पमत तो है ही जो अपनी मांगों की पूर्ति के लिए कुछ न किए जाने पर समाज को पंगु बना सकता है और राज्य में फूट पैदा कर सकता है। अतः, हमें यह देखना चाहिए कि इस जटिल समस्या को हल करने में संविधानवाद क्या कर सकता है।

ऐसी किसी भी चर्चा के मूल में मुख्य बात राज्य की प्रभुसत्ता है। कोई भी राज्य, यदि उसे अराजकता से बचना है, प्रभुसत्तात्मक शक्तियों को अपने पास सुरक्षित रखने के लिए बाध्य है; क्योंकि ऐसा समाज, जो अपने अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को मनमानी करने देता है (जो कि अराजकतावादियों की दलील है), समाज नहीं बल्कि अराजक जन-समूह होगा। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्त्री और पुरुष किसी भी समाज

के सदस्य उसके हित के लिए नहीं बल्कि स्वयं अपने हित के लिए होते हैं। राज्य को उस जन-समुदाय को संतुष्ट करना चाहिए जिसके सर्वोत्तम हितों की सुरक्षा के लिए वह आशयित है (उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता), और वह यंत्र जिसके माध्यम से राज्य कार्य करता है—अर्थात् संविधान—इस उद्देश्य को सुनिश्चित करने के योग्य बनाया जाना चाहिए। यही कारण है कि आधुनिक संविधानवाद का विकास इस धारणा के आधार पर हुआ है कि प्रभुसत्ता जनता की है। अधिकतर क्रांतिकारियों की दलील भी यही है। वास्तव में वे मुख्य रूप से इस कारण क्रांतिवादी हैं कि उनका विश्वास है कि आधुनिक राज्य-यंत्र जनता की प्रभुसत्ता को प्रभावकारी नहीं बना सकता। इसके विपरीत, मुसोलिनी के अनुसार फासिस्ट सिद्धांत लोक-प्रभुसत्ता के मत को अस्वीकार करता है जो उसके कथनानुसार जीवन की वास्तविकताओं से मिथ्या सिद्ध हो चुका है। मुसोलिनी ने यह भी कहा था कि "हम केवल राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत की घोषणा करते हैं जो राष्ट्र का वैध संगठन तथा उसकी ऐतिहासिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति है।"

शिक्षित समाज में नागरिक-समूह प्रभुसत्तात्मक राज्य को स्वीकार कर सके इसके लिए यह आवश्यक है कि वह उन्हें यह विश्वास दिलाए कि अपने राजनीतिक भाग्य के अन्तिम नियंत्रक स्वयं वे ही हैं। प्रभुसत्ता को इस प्रकार प्रयुक्त और संतुलित करना चाहिए कि वैयक्तिक अधिकारों को उसके द्वारा अनावश्यक रूप से क्षति न पहुंचे। इस प्रकार अधिकारों के उपभोग को सुनिश्चित करने के लिए राज्य के अवयवों की ऐसी रीति से रचना होनी चाहिए जिससे यह निश्चित हो जाए कि समाज के बहुजन उनको केवल स्पष्टतः समझेंगे ही नहीं बल्कि उनके गठन और विकास में सक्रिय दिलचस्पी भी लेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कदाचित् सांविधानिक राज्य को जितना वह अभी तक बढ़ चुका है उससे कहीं अधिक बढ़ना होगा या शायद जितना वह अभी तक कर चुका है उसमें से काफी को मिटा देना होगा। नवीकृत द्वितीय सदन में नए प्रकार का प्रतिनिधित्व और लोक-निर्देशन, लोकोपक्रम तथा प्रत्याह्वान जैसे प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक नियंत्रणों का विस्तार आदि सुधार कुछ अवस्थाओं में निश्चय ही ऐसी सक्रिय दिलचस्पी पैदा करने में काफी सहायता करेंगे; किन्तु यह उस तिहरी समस्या को छूते तक नहीं हैं जिसकी ओर हमने पहले संकेत किया है, अर्थात् विधानमंडल की अत्यधिक सदस्य-संख्या, समाज के कुछ वर्गों की आर्थिक मांगों की पूर्ति करने की कठिनाई, और इस अंतिम उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'एक व्यक्ति, एक मत' के सिद्धांत की अपर्याप्तता। अब हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि प्रभुसत्ता की इस जटिल समस्या को देखते हुए सांविधानिक राज्य और क्या कर सकता है।

सर्वप्रथम इस धारणा के लिए कोई विशेष कारण नहीं दिखाई देता कि प्रभुसत्ता का स्वरूप किसी भी राज्य में अनिवार्यतः वैसा ही होना चाहिए जैसा कि आज है। हम यह मान लेते हैं कि अन्ततः वैध अर्थ में प्रभुसत्ता अविभाज्य है। किन्तु इसका तात्पर्य उसकी

नमनीयता को अस्वीकार करना नहीं है। जैसा कि हम बता चुके हैं, नमनीय संविधानों वाले राज्यों में प्रभु विधानमंडल होता है और अनमनीय संविधानों वाले राज्यों में प्रभु सांविधानिक दस्तावेज होता है। किन्तु किसी नमनीय संविधान को सांविधानिक विधि के अधिनियमन द्वारा, जो यह उपबंध कर सकती है कि भविष्य में कुछ प्रकार के प्रश्नों को विधानमंडल अपनी सामान्य प्रक्रिया के द्वारा नहीं निपटा सकेगा, अनमनीय बनाने से रोकनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इसके साथ ही, ऐसा भी कोई कारण नहीं है कि कुछ विभागों के सम्बन्ध में संसदीय कार्यवाही पर विद्यमान निर्बन्धनों को हटाकर किसी भी अनमनीय संविधान को नमनीय क्यों न बना लिया जाए। उदाहरणस्वरूप, ब्रिटेन में, जिसका संविधान नमनीय है, यदि यह समझा जाए कि संसद् की अनिर्बन्धित कार्यवाही अत्याचार का साधन बन गई है तो उसकी प्रभावशील प्रभुसत्ता को सीमित किया जा सकता है; और भी, फ्रांस का संविधान अनमनीय है, किन्तु यदि यह अनुभव किया जाए कि सदनों की सामान्य कार्यवाही पर इस समय विद्यमान निर्बन्धनों से वैयक्तिक अधिकारों को अनावश्यक रूप से हानि पहुंचती है तो वे निर्बन्धन सांविधानिक तौर पर हटाए जा सकते हैं और प्रभुसत्ता फ्रांस की संसद को सौंपी जा सकती है।

किन्तु ये एकात्मक राज्यों के उदाहरण हैं। हम यह बता चुके हैं कि संघीय राज्य में प्रभुसत्ता अनिवार्यतः सांविधानिक दस्तावेज में निहित होती है, दूसरे शब्दों में संघीय राज्य का संविधान अनमनीय होना चाहिए। स्पष्ट है कि संघीय राज्य का संविधान तभी नमनीय हो सकता है जब कि उसे एकात्मक राज्य का रूप दे दिया जाए। उदाहरणस्वरूप, यदि संयुक्तराज्य की कांग्रेस को प्रभुसत्ता सौंप दी जाए (यदि संविधान नमनीय हो जाए तो ऐसा होना अनिवार्य है) तो राज्यों के अधिकार उस प्रकार सुरक्षित न रहेंगे जिस प्रकार वे आज हैं। राज्यों के अधिकारों की सुरक्षा के अभाव में वह आधार ही समाप्त हो जाएगा जिसपर संघीय ढांचा खड़ा किया गया है और फलस्वरूप एकात्मक राज्य की स्थापना हो जाएगी। किन्तु ऐसा न करने का कोई विशेष कारण नहीं है। यदि संघ में सम्मिलित होनेवाले राज्य प्रारम्भ में संघराज्य की जगह एकात्मक राज्य की योजना बना सकते थे (उनके लिए ऐसा करना पूर्णतः वैध होता) तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि यदि वे चाहें तो अब संघराज्य को एकात्मक राज्य में परिवर्तित क्यों न कर लें।

संघीय योजना का अस्तित्व ही यह सिद्ध करता है कि व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए प्रभुसत्ता को विभाजित करना उस समय तक सम्भव है जब तक उसके सहभागी धारकों के संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली अराजकता के विरुद्ध अन्ततः किसी प्रकार की सुरक्षा प्राप्त हो। व्यावहारिक रूप में प्रभुसत्ता के वास्तविक विभाजन की सम्भावना से कुछ एकात्मक राज्यों में सुधार का एक मार्ग सूझता है। यदि राज्य का कुल क्षेत्र इतना विशाल हो कि एकमात्र विधानमंडल उस राज्य की इकाइयों से अत्यधिक दूर हो अथवा यदि घनी आबादी वाले क्षेत्र के लिए विधान बनाने के कार्य से विधानमंडल का काम बहुत अधिक

बढ़ जाता है तो यह निश्चित है कि जनता अपने प्रतिनिधियों की कार्यवाहियों में दिलचस्पी नहीं लेगी, विधानमंडल का उन क्षेत्रों से सम्पर्क टूट जाएगा जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिनिधित्व-प्रणाली अवास्तविक एवं अप्रतिष्ठित हो जाएगी और असांविधानिक प्रकार की अन्य पद्धतियों के प्रयोग के लिए मार्ग खुल जाएगा। ब्रिटेन जैसे घनी आबादी वाले क्षेत्र को ऐसा ही खतरा है। जैसा हम बता चुके हैं, ब्रिटेन एकात्मक राज्य है। लोक-तंत्रात्मक प्रगति के अनिवार्य परिणामस्वरूप दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए सामाजिक विधायन का केन्द्रीय विधानमंडल पर इतना अधिक दबाव पड रहा है कि उसमें सरकार द्वारा प्रस्तुत कार्य के अतिरिक्त और किसी भी कार्य पर उचित रूप से विचार करने की सम्भावना घटती जा रही है। ऐसी स्थिति में यह पूछा जा सकता है कि इतने अधिक प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने और सार्वजनिक निधि में से उनको वेतन देने से क्या लाभ है जब कि उनका केवलमात्र और वास्तविक काम सरकारी प्रस्तावों को स्वीकृत या अस्वीकृत करना भर रह गया है।

संभव सुधार का यह ढंग संघवाद की योजना से उत्पन्न होता है। संघराज्यों के सर्वोत्तम उदाहरण वे हैं जो पहले के अलग-अलग अनेक समुदायों से विकसित हुए हैं। किन्तु ऐसा कोई कारण नहीं है कि एकात्मक राज्य भी अपने को अनेक छोटे राजनीतिक निकायों में इस प्रकार क्यों न विभाजित करलें जिसमें उनके पास केन्द्रीय प्रयोजनों के लिए केवल वे ही शक्तियां रह जाएं जो सामान्य हित के लिए आवश्यक हों। यही योजना विकेन्द्रीकरण कहलाती है। ब्रिटेन में एक बार आयरलैंड के प्रश्न से उत्पन्न कठिनाइयों के समाधान के रूप में ऐसा सुझाव दिया गया था। उस समय 'सर्वत्र गृहशासन' का नारा लगा था। योजना यह थी कि इंगलैंड, वेल्स, स्कॉटलैंड और आयरलैंड अंशतः स्व-शासी इकाइयां बन जाएं और संसद् इन सबके समान हितों से सम्बद्ध विषयों पर विचार करने के लिए वेस्टमिंस्टर में कार्य करती रहे। ऐसी योजना के अधीन विभाजन (यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त विशिष्ट विभाजन ही हो) प्राप्त कर लेने के पश्चात् संघीय संविधानों की तरह का एक संविधान तैयार किया जा सकता था जिसमें या तो कुछ शक्तियां इकाइयों को देकर शेष केन्द्रीय संसद् के लिए छोड़ी जा सकती थीं या फिर केन्द्रीय सत्ता के अधिकारों को स्पष्टतः प्रगणित करके शेष शक्तियां इकाइयों के पास छोड़ी जा सकती थीं।

इसका तात्पर्य एकात्मक राज्य से संघीय राज्य का सृजन करना है जिस दिशा में पहला कदम विकेन्द्रीकरण होगा। ऐसे सुधार का प्रभाव यह होगा कि प्रथम ब्रिटेन के जैसे केन्द्रीय विधानमंडल पर आजकल लदा हुआ लगभग असहनीय बोझ हलका हो जाएगा; द्वितीय कार्यपालिका के कार्य पर और अधिक सतर्क निरीक्षण सम्भव बनाकर नौकरशाही के खतरे को कम किया जा सकेगा, और, तृतीय—यह बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—राजनीति सजीव बनाई जा सकेगी, स्थानीय विधायन के ऐसे मार्ग खोले जा सकेंगे जो इस

प्रतिनिधित्व कर सकता है, आर्थिक और अन्य विशेष हितों को राजनीतिक यंत्र के क्रियान्वयन में भाग लेने योग्य बनाया जा सकता है। किन्तु प्रादेशिक परिधि से बाहर निकल आने पर संघीय आदर्श का कार्यक्षेत्र इससे अधिक व्यापक हो जाता है। इसका अर्थ है अपने कार्य-क्षेत्र के अन्दर निश्चित अधिकारों वाले अर्द्ध-प्रभुसत्तात्मक निकायों की स्थापना,जो अधिकार अमरीका और आस्ट्रेलिया जैसे संघों में संघबद्ध होनेवाली इकाइयों द्वारा उपभोग किए जानेवाले वर्त्तमान अधिकारों के समान होंगे। अन्तर केवल इतना ही होगा कि इन अर्द्ध-प्रभुसत्तात्मक निकायों के कार्य राजनीतिक नहीं बल्कि आर्थिक या धार्मिक या सामाजिक होंगे। इन नए अंगों को समन्वित करने तथा उनमें व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य निश्चय ही विद्यमान रहेगा। किन्तु इस अवस्था में राज्य एक प्रकार से ऐसे हितों की संस्था का रूप धारण कर लेता है जिन्हें प्रत्येक नागरिक समझ सकता है। ऐसी अवस्था में प्रभुसत्ता एक नया रूप धारण करने लगती है। वह एक अचल वैध कल्पना के स्थान पर लोगों के कल्याण के लिए एक नमनीय साधन बन जाती है। एक बार उसके विषय में ऐसा अनुभव हो जाने पर राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से सांविधानिक विकास की संभावनाओं की कोई सीमा नहीं रहती।

वर्त्तमान राजनीतिक इकाइयों के अन्तर्गत प्रभुसत्ता में आवश्यकतानुसार हेरफर करने की सम्भावना के सम्बन्ध में जो कुछ हमने कहा है वह समान रूप से, बल्कि और भी अधिक प्रभावपूर्ण रूप से, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर भी लागू होता है। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राजनीतिक संविधानवाद की निरन्तर सुरक्षा की एक अनिवार्य शर्त है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वर्त्तमान स्वरूप में राष्ट्रीय राज्य अपने राजनीतिक पहलुओं में सामाजिक संगठन की अंतिम इकाई है। वास्तव में यह स्पष्ट है कि यूरोप में पांच शताब्दियों के विकास के पश्चात् आज जिस रूप में प्रभुत्वपूर्ण राष्ट्रीय राज्य विद्यमान है वह कुछ बातों में पतनोन्मुख है। इसके साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप का वर्त्तमान राजनीतिक विभाजन अनेक तरह से आधुनिक आवश्यकताओं से बिलकुल असंगत है। स्पष्टतः यह व्यवस्था अत्यन्त असहनीय है कि अनेक छोटे-छोटे राज्य अपनी प्रभुसत्ता के प्रयोग द्वारा सामान्य लाभ के लिए विश्व के साधनों का उपयोग करने के हेतु एक युक्तियुक्त आर्थिक संघ के रास्ते में बाधक हों। हो सकता है कि प्रभुसत्तात्मक निकाय के रूप में राष्ट्रीय राज्य ऐतिहासिक अनुभव के एक पहलू से अधिक कुछ भी सिद्ध न हो।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता से दो विश्वयुद्ध हुए और जो रोकी न जाने पर हमारी सभ्यता को नष्ट कर देनेवाले तृतीय विश्वयुद्ध का सूत्र-पात करेगी, उसको दूर करने का केवलमात्र उपाय किसी-न-किसी प्रकार का विश्वसंघ ही होगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक विशाल बहुराष्ट्रीय राज्य अथवा अनेक पृथक् बहुराष्ट्रीय राज्यों का निर्माण करना होगा। क्योंकि विश्व-एकता की समस्या

कदाचित् क्षेत्रों के पूर्ण समन्वय की उतनी अपेक्षा नहीं करती जितनी कि कृत्यों के आंशिक समन्वय की अपेक्षा करती है। जैसा कि हम देख चुके है, वास्तविक संघ का सफल निर्माण केवल ऐसे राज्यों के बीच हो सकता है जो संयोजन की इच्छा रखते है; और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार की कोई इच्छा राष्ट्रों के बीच इस समय प्रकट है। जैसा कि हाल के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है, ऐसा कोई संविधान जो, चाहे वह कितना ही दोषरहित और सच्चे अभिप्राय का क्यों न हो, उन लोगों की, जिनपर वह प्रयुक्त होता है, इच्छा से मेल नहीं खाता, एक कागज का टुकड़ा मात्र रह जाता है, और समय से पूर्व बनाया गया संघ अपने-आप ही युद्ध रोकने में समर्थ नहीं होगा : वह तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के खतरे की जगह वैसा ही भयानक गृहयुद्ध का खतरा पैदा कर देगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जिस प्रकार की अवस्था का विकास हो रहा है उसमें इस बात का बड़ा खतरा है कि दुनियां दो प्रभाव-क्षेत्रों में विभाजित हो जाए, जिनमें से प्रत्येक एक-एक बड़ी शक्ति के अधीन हो; और हो सकता है कि ये विशाल प्रादेशिक गुट्ट इतने परस्पर विरोधी हो जाएं कि शांतिपूर्ण व्यवस्था की आशा ही न रहे। दूसरी ओर, यह भी हो सकता है कि कुछ समय पश्चात इन प्रादेशिक गुट्टों के सदस्यों में समान हित और उद्देश्य की इतनी बलवती भावना का विकास हो जाए कि उससे उनको आपस में राजनीतिक एकता की ओर प्रोत्साहन मिले। सच तो यह है कि यह प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। उदाहरण के तौर पर, सन् १९४८ की ब्रुसेल्स की संधि ऐसी संधि है जिसमें उसपर हस्ताक्षर करनेवाले पांच राज्यों में संयोग एकता के लिए वास्तविक योजना के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। यूरोप की परिषद् (Council of Europe) की योजना पर यह बात और भी अधिक लागू होती हैं, जिसकी स्थापना औपचारिक रूप से सन् १९४९ में की गई थी जब कि पश्चिमी यूरोप के दस राज्यों ने उसके संविधान को स्वीकार किया। जो भी हो, यह निश्चित है कि संघवाद राजनीतिक संगठन की एक अत्यधिक ऊंची प्रकार की विकसित व्यवस्था है जिसे चाहने मात्र से अथवा बिना सोचे-समझे कदम उठाने से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसका प्रादुर्भाव वास्तव में राजनीतिक शिक्षा की एक ऐसी प्रक्रिया के द्वारा ही हो सकता है जिसके लिए अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। संयुक्तराष्ट्रसंघ अपने सदस्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता के सिद्धांत को विशिष्ट रूप से संरक्षित करता है; किन्तु यदि वह विश्व में काफी समय तक शांति बनाए रखने में सफल रहा तो हो सकता है कि विश्व के राष्ट्र उसके विशिष्ट अवयवों के माध्यम से विश्व-नागरिकता की शिक्षा के निमित्त एक स्थायी साधन का निर्माण कर सकें और वास्तविक विश्व-एकता इसी पर निर्भर है।

इस प्रकार, अन्तिम उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बल्कि अतिराष्ट्रीय सत्ता की स्थापना होगा, जिसको सब राष्ट्र अपनी बाह्य प्रभुसत्ता सौंप देंगे। राष्ट्रीय राज्य की प्रभुसत्ता अधिक-से-अधिक एक भ्रान्तिपूर्ण शस्त्र है। राजनीतिक प्रयोग और समृद्धि का एक ऐसा व्यापक क्षेत्र है जिसका उसके बिना उपभोग किया जा सकता है। सच तो यह

है कि राष्ट्रीय राज्य को उतनी जरूरत प्रभुसत्ता की नहीं है जिसका बाह्य रूप में मतलब अपने पड़ोसियों के प्रति अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना है, जितनी कि स्वायत्तता की जिसका अर्थ अपने विशुद्ध स्थानीय मामलों पर नियंत्रण रखने का अधिकार है। अतः, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि यदि राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद को जीवित रखना है तो हमें यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि लोकतंत्र के अनेक रूप हो सकते हैं और उसके आदर्श रूप को पाने के लिए कदाचित् बहुत अधिक प्रयोग आवश्यक हों; कि राष्ट्रवाद के भले और बुरे दोनो पहलू है और उसकी कुछ बुराइयों का त्याग करना सम्भव होना चाहिए जिससे सीमित राष्ट्रीय राज्य के माध्यम से मानव-समुदाय को लाभ प्रदान करने की उसकी शक्ति को किसी भी प्रकार कम किए बिना स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शांति प्राप्त की जा सके।

प्रश्न

१. "प्रभुसत्ता अविभाज्य है," इस कथन की व्याख्या कीजिए।

२. ब्रिटेन के संविधान के सुधार के लिए विकेन्द्रीकरण की योजना का कहां तक उपयोग किया जा सकता है ?

३. आधुनिक सांविधानिक राज्य को उसके आर्थिक लाभ की दृष्टि से किस प्रकार संघीय रूप दिया जा सकता है ?

४. अरस्तू के इस सिद्धान्त के प्रसंग में कि मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक जन्तु है, आधुनिक लोकतंत्रीय विकास की विवेचना कीजिए।

५. "स्वतन्त्रता और समता परस्पर विरोधी हैं," सांविधानिक राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में इस उक्ति की विवेचना कीजिए।

६. रूसो का कहना था कि मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है, किन्तु सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यदि यह सच है तो इन जंजीरों को सहन करने योग्य बनाने के लिए राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद क्या कर सकता है ?

७. "शासन की प्रत्येक नयी योजना मानव के राजनीतिक साधनों को अनुपम अभिवृद्धि है।" राजनीतिक संविधानवादियों के लिए एक सिद्धान्त के रूप में इस कथन की विवेचना कीजिए।

८. अरस्तू के कथनानुसार राज्य, जीवन को संभव बनाने के लिए ही नहीं बल्कि जीवन को सुन्दर बनाने के लिए होता है। आधुनिक राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक राज्य के बारे में यह बात कहां तक सच है ?

९. क्या आप राष्ट्रवाद को विश्व राजनीतिक संगठन की किसी वास्तविक योजना का अनिवार्य आधार समझते हैं ?

१०. राष्ट्रीय अधिकारों का ध्यान रखते हुए विश्वराज्य की स्थापना के साधन के रूप में संघीय योजना पर प्रकाश डालिए।

पाठ्य ग्रंथ

Chapter I.

FINER: *Modern Government*, Vol. I, Ch. i.
GETTELL: *Readings in Political Science*, pp. 16-24, 59-64, 127-145, 174-194, 282-6, 341-3, 363, 384-7, 501-5.
JENKS: *State and Nation*, Ch. i.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. I, Ch. i.
LOWELL: *Government of England*, Vol. I, Ch. vii.
MACIVER: *Modern State*, pp. 3-22.
SIDGWICK: *Elements of Politics*, Chs. i, ii, xix.
WILSON: *State*, pp. 26-31, 69-92.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

HETHERINGTON AND MUIRHEAD: *Social Purpose.*
MACIVER: (1) *Community.* (2) *Elements of Social Science.* (3) *The Web of Government.*
SEELEY: *Introduction to Political Science.*

Chapter II.

BARKER: *Essays on Government, Essay*, vii.
BRYCE: *History and Jurisprudence*, Vol. I, Essays i-iv. *Modern Democracies*, Vol. I, Ch. xvi.
BURNS: *Political Ideals*, Chs. ii, iii, v-viii, xi-xiii.
DICEY: *Law and Opinion.* Introduction and Lecture xii.
DICKINSON: *Greek View of Life*, Chs. ii and iii.
DUNNING: *History of Political Theories*, Vol. I, pp. 1-16, 106-113 Chs. v, ix-xi ; Vol. II, pp. 1-7, 305-9, 335-340, Ch. vi; Vol. III, pp. 38-50, 166-184, 340-7, 371-6, 395-407, Chs. iii and vi-viii.
FINER: *Future of Government*, Chs. i, ii, iii.
GETTELL: *Readings in Political Science*, pp. 113-122, 167-9, 201-3.
HAYES: *History of Modern Europe*, Vol. II, Chs. xvii-xxx.
JENKS: *State and Nation*, Ch. x.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. I, Ch. vi.
MACIVER: *Modern State*, Chs. i-iv.
MAITLAND: *Constitutional History of England*, pp. 165-329.
WILSON: *State*, pp. 9-11, Chs. vi, xxi-xxii.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

BOWMAN: *The New World.*
BRYCE: *Holy Roman Empire.*
BUSSELL: *Roman Empire.*
COBBAN: *National Self-Determination.*
DOBB: *U.S.S.R.*
FOWLER: *City States of Greeks and Romans.*

FREEMAN: *Comparative Politics.*
FUSTEL DE COULANGES: *The Ancient City.*
GLOVER: *Ancient World.*
HAWGOOD: *Modern Constitutions since* 1787.
HAYES: *Essays on Nationalism.*
JENKS: *Law and Politics in the Middle Ages.*
KEIR: *Constitutional History of Britain.*
LICHTENBERGER: *Third Reich.*
MAITLAND: *Political Theories of the Middle Ages.*
MOORE: *The Roman Commonwealth.*
MUIR: (1) *Expansion of Europe.* (2) *National Self-Government.*
MURRAY: (1) *Political Consequences of the Reformation.* (2) *History of Political Science from Plato to To-day.*
OSTROGORSKI: *Democracy and the Organisation of Political Parties.*
POLLARD: (1) *Factors in American History.* (2) *Factors in Modern History.*
RITCHIE: (1) *Natural Rights.* (2) *Principles of State Interference.*
ROSE: *Nationality as a Factor in Modern History.*
SABINE: *History of Political Theory.*
SALVEMINI: *Fascist Dictatorship.*
SMITH: *Church and State in the Middle Ages.*
STRONG: *Dynamic Europe.*
WHEARE: *Modern Constitutions.*
ZIMMERN: *The Greek Commonwealth.*

Chapter III.

BRYCE: *History and Jurisprudence,* Vol. I, Essay iii. *Modern Democracies,* Vol. II, pp. 506-8.
DICEY: *Law of Constitution,* pp. lxxv-lxxx, 121-2, 134-140, 480-8.
DUNNING: *Political Theories,* Vol. I, pp. 33-7, 62-93.
FINER: *Modern Government,* Vol. I, Ch. vii.
GETTELL: *Readings in Political Science,* pp. 244-8, 252, 266-271, 284-6, 344-6, 391-3.
JENKS: *State and Nation,* pp. 259-275.
MARRIOTT: *English Political Institutions,* Ch. i. *Mechanism of the Modern State,* Vol. I, Ch. ii.
SIDGWICK: *Elements of Politics,* Ch. xxx.
WILSON: *State,* pp. 31-2.

Chapter IV.

BRYCE: *History of Jurisprudence,* Vol. II, Essay x. *Modern Democracies* Vol. I, Ch. xviii, Vol. II, Ch. iii.
DICEY: *Law of the Constitution* Ch. i.
FINER: *Modern Government,* Vol. I, pp. 243-4.
JENKS: *British Empire,* Ch. iii.
KEITH: *Constitution, Administration, and Laws of the Empire,* Pt. I, Chs. i-viii. *Responsible Government in Dominions,* Vol. II, Pt. VIII, Chs. ii and iii.

LASKI : *Grammar of Politics*, Pt. I, Ch. ii.
LOWELL : *Government of England*, Vol. II, Chs. liv, lv, lviii. *Governments and Parties in Continental Europe*, Vol. I, pp. 36-42, 146-150. *Greater European Governments*, pp. 84-6, 95-105, Chs. vi-viii.
MACIVER : *Modern State*, Chs. v-xi.
MARRIOTT : *Mechanism of Modern State*, Vol. I, Chs. vi-xii.
NEWTON : *Federal and United Constitutions*, Introduction and pp. 56-66, 139-155, 359-407.
WILLIAMSON : *Short History of British Expansion*, pp. 537-573, 617-634.
WILSON : *State*, pp. 129-149, 256-8, 421-5.
CONSTITUTIONS OF ALL COUNTRIES : Vol. I, *The British Empire* pp. 1-4, 5-18, 113-136, 140-188, 189-221.
ANNUAL REGISTER for 1946 and 1947.
WHITAKER'S ALMANACK for 1946 and 1947.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

BOUTMY : *Studies in Constitutional Law.*
BROGAN : *Development of Modern France.*
HALL : *British Commonwealth of Nations.*
KEITH : (1) *The Governments of the British Empire.* (2) *The Dominions as Sovereign States.*
LASKI : *Foundations of Sovereignty.*
STILLMAN : *Union of Italy.*
VILLARI : *Italy.*

Chapter V.

BRYCE : *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. ii, xxvii-xxx. *History and Jurisprudence* Vol. I, Essay vii. *Modern Democracies* Vol. I, pp. 367, 385, Chs. xxxiii, xxxvi, Vol. II, Chs. xxxviii, xlvi.
DICEY : *Law of Constitution*, Chs. ii, and iii, Appendix Notes ii, viii and ix.
FINER : *Modern Government*, Vol. I, Chs. vii, ix, x.
KEITH : *Responsible Government in the Dominions*, Vol. I, pp. 505-560 Vol. II, pp. 597-621.
LOWELL : *Governments and Parties*, Vol. II, Chs. v-vii and pp. 180-192. *Greater European Governments*, Chs. ix xi, pp. 270-283.
MARRIOTT : *Mechanism of Modern State*, Vol. II, Ch. xxxvii.
NEWTON : *Federal and Unified Constitutions*, pp. 66-100, 239-294, 324-358, 408-436.
READ : *Form and Functions of American Government*, Ch. iv and Appendix A. and B.
SIDGWICK : *Elements of Politics*, Ch. xxvi.
STRONG : *Story of American People* Chs. vi, xiv.
WILIAMSON : *History of British Expansion*, pp. 484-536.
WILSON : *State*, pp. 249-254, 283-300, 387-392, 438-447.
ANNUAL REGISTER for 1936 (for Stalin constitution), 1946.

CONSTITUTIONS OF ALL COUNTRIES: Vol. I, *British Empire*, pp. 19-56, 57-111.

THE TEXT OF THE CONSTITUTION OF THE FEDERAL PEOPLE'S REPUBLIC OF YUGOSLAVIA IS GIVEN IN A BROCHURE ISSUED IN 1946 BY THE YUGOSLAV EMBASSY INFORMATION OFFICE IN LONDON.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

BROOKS: *Government and Politics of Switzerland.*
KRUGER: *Government and Politics of the German Empire.*
MOORE: *Constitution of Commonwealth of Australia.*
PORRITT: *Evolution of Dominion of Canada.*
WHEARE: *Federal Government.*

Chapter VI.

BAGEHOT: *English Constitution*, Ch. ix, pp. 241-258.
BRYCE: *History and Jurisprudence*, Vol. I, Essay iii. *Modern Democracies*, Vol. II Ch. lvi.
DICEY: *Law of Constitution*, pp. xlviii-lix, 1-34, 106-123, Chs xiv-xv, Appendix, Notes vii, xiii.
FINER: *Modern Government*, Vol. I, pp. 181-5.
GETTELL: *Readings in Political Science*, Ch. x.
JENKS: *Government of British Empire*, Chs. i and ii.
JENNINGS: *Cabinet Government*. Ch. i, *Law and constitution*, Chs. i-iv.
LOWELL: *Government, of England*, Vol. II, Chs. liv, lv, lviii. *Governments and* Vol. I, 150-152.
MACIVER: *Modern State*, Ch. xii.
WILSON: *State*, pp. 178-189, 213-215, 424-425.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

AMERY: *Thoughts on the Constitution.*
ANSON: *Law and Custom.*
GREAVES: *British Constitution.*
ILBERT: *Parliament.*
KEITH: *Constitution of England.*
LOW: *Governance of England.*
POLLARD: *Evolution of Parliament.*

Chapter VII

BRYCE: *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. iii-iv and xxxi-xxxv. *History and Jurisprudence* Vol. I, Essay vi. *Modern Democracies*, Vol I, pp. 249-252, 382-390 Vol. II, pp. 191-6 Ch. xxxix.
DICEY: *Law of Constitution* pp. 123-164-, 524-5, 533-5 Appendix Note i.
FINER: *Modern Government*, Vol I, pp. 181-5.
GETTELL: *Readings in Political Science*, Ch. xv.
KEITH: *Responsible Government in Dominions*, Vol. I, pt. iii Chs. i-iv. Vol. II, pp. 741-2.

LASKI: *Grammar of Politics*, pp. 303-9.
LOWELL: *Governments and Parties*, Vol. I, pp. 2-13. Vol. II, Chs. viii-x *Greater European Governments*, pp. 284-5.
MARRIOTT: *Mechanism of Modern State*, Vol. I Chs. v. and xvi.
REED: *Form and Functions of American Government*, Chs. i-iii.
SAIT: *Government and Politics of France*, Ch. i.
WILSON: *State*, pp. 146-151, 248-262, 354-5, 412.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

BROGAN: (1) *Development of Modern France* (2) *The American Political System.*
BROOKS: *Government and Politics of Switzerland.*
DAWSON: *Government of Canada.*
TAYLOR: *Fourth French Republic.*
VILLARI: *Italy.*

Chapter VIII.

BAGEHOT: *English Constitution, Essay* v.
BARKER: *Essays on Government, Essay* iii.
BASSETT: *Essentials of Parliamentary Democracy*, part II.
BRYCE: *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. x iii-xvii. *Modern Democracies*, Vol. I, Chs. iii-viii, Vol. II, Chs. xli, lxxiv-lxxv.
BUELL: *Democratic Governments in Europe*, Sections I and II.
BRUNS: *Political Ideals*, Chs. xii.
DICEY: *Law and Opinion*, Lecture iii, pp. 248-258. *Law of Constitution*, pp. lxii-lxv.
FINER: *Modern Government* Vol. I, Chs. xi-xiii, xvi; Vol. II, Chs. xviii-xxi.
GETTELL: *Readings in Political Science*, Ch. xvi.
JENKS: *State and Nation*, pp. 288-294.
JENNINGS: *Parliament*, Chs. ii-x.
KEITH: *Responsible Government in Dominions*, Vol. I, pp. 560-9, Vol. II, pp. 623-662, 712-714.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. I, Chs iii and iv. pp. 311-327.
LOWELL: *Government of England*, Vol. I, Chs. ix-xvi; Vol. II, Chs. xxi-xxxvii, *Governments and Parties*. Vol. I. pp. 14-18, 156-7 Ch. v; Vol. II, pp. 211-214, 232-4, Ch. xiii. *Greater European Governments*, Chs. ii. iii, vi, pp. 292-300.
MACIVER: *Modern State*, Ch. xiii.
MARRIOTT: *English Political Institutions*, Chs. viii-x. *Mechanism of Modern State*, Vol. I, Ch. xix.
REED: *Form and Functions of American Government*, Chs. xxi-xxii.
SAIT: *Government and Politics of France*, Ch. vi.
SIDGWICK: *Elements of Politics*, Chs. iii, xx, xxvii, xxix.
WILSON: *State*, pp. 35-40, 209-210.
ENCYCLOPÆDIA BRITANNICA (i) In the 11th Edition, Articles on Election (Vol. 9), Representation (Vol. 23), Woman Suffrage (Additional Vol. 32). (ii) In the 13th Edition, Article on Electoral Laws, Changes in (New Vol. I).

BOOKS FOR FURTHER STUDIES

BROGAN : *The Free State.*
DANIELS : *The Case of Electoral Reform.*
FINER : *The Case against P.R.*
HUMPHREYS : (i) *Proportional Representation* ; (2) *Practical Aspects of Electoral Reform.*
LASKI : *Rise of European Liberalism.*
MILL : *Representative Government.*
RUSSELL : *Freedom and Organisation.*
THOMSON : *Democracy in France.*
WILLIAM : *Reform of Political Rrepresentation.*
WOODWARD : *French Revolutions.*
Journal of the Proportional Representation Society.

Chapter IX.

BAGEHOT : *English Constitution, Essay* X.
BRYCE : *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. x-xii and xviii. *Modern Democracies*, Vol. I, Ch. xix and pp. 385-393, 514-518 Vol. II, pp. 63-66, 203-6. Chs. lvi, lxiv.
FINER : *Modern Government*, Vol. I, ch. xvii.
GETTELL : *Readings in Political Science*, Ch. xviii, sect. ii.
JENKS : *Government of British Empire*, Chs. vi-vii.
JENNINGS : *Parliament*, Ch. xi and appendix v.
KEITH : *Responsible Government in Dominions*, Vol. I, Pt. iii, Chs. vii-vii.
LASKI : *Grammar of Politics*, pp. 328-355.
LOWELL : *Government of England*, Vol. I, Chs. xxi-xxii *Government and Parties*, Vol. I, pp. 19-26, 154-5 Ch. ii, Vol. II, pp. 208-210.
MARRIOTT : *English Political Institutions*, Chs. vi-vii, *Mechanism of Modern State*, Vol. I, Chs. xiv-xv.
PORRITT : *Evolution of Dominion of Canada*, Ch. xi.
REED : *Form and Functions of American Government*, Chs. v-vii.
SAIT : *Government and Politics of France*, Ch. v.
SIDGWICK : *Elements of Politics*, Chs. xxiii.
WILSON : *State*, pp. 153-4,212-6, 251-260, 325-6, 351-361, 410-412 433-4, 448-455.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

LEES-SMITH : *Second Chambers in Theory and Practice.*
MARRIOTT : *Second Chambers.*
SLOAN : *How the Soviet State is run.*
TEMPERLEY : *Senates and Second Chambers.*
WEBB : *Soviet Communism.*
ZINK : *Government and Politics in the United States.*
Annual Register for 1936.

Chapter X.

BAGEHOT : *English Constitution*, Essays i, vi-ix.

BARKER : *Essays on Government*, Essays i, iv, v.
BRYCE : *Modern Democracies*, Vol. I, Ch. xxi, pp. 535-8, Vol. II, Chs. xlviii, lx.
DICEY : *Law of Constitution*, Ch. xi.
FINER : *Modern Government*, Vol. II, Chs. xxii, xxiv, xxv. *Future of Government*, Chs. i, iv, v.
GETTELL : *Readings in Political Science*, Ch. xix.
JENKS : *Government of British Empire*, Chs. v, ix, x, pp. 64-70.
JENNINGS : Cabinet Government, Chs. ii, iii, viii, ix, xiv. *Law and Constitution*, Ch. i, Sections 2 and 3.
KEITH : *Responsible Government in the Dominions*, Vol. I, Pt. ii, Ch. vii, Vol. II, pp. 621-3, 710-12.
LASKI : *Grammar of Politics*, pp. 295-303,356-410.
LOWELL : *Government of England*, Vol I, Chs. i-viii and xvii-xviii. *Governments and Parties*, Vol. I, pp. 26-34, 161-7. *Greater European Governments*, Ch. i, pp. 287-292.
MARRIOTT : *English Political Institutions*, Chs. iii-v. *Mechanism of the Modern State*, Vol. I, Ch. xiii, Vol. II, Chs. xxiii-xxx.
SAIT : *Government and Politics of France*, Chs. ii-iv.
SIDGWICK : *Elements of Politics*, Chs. xxi, xxii.
WILSON : *State*, pp. 155-162, 181-206, 262-3, 425.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

ANSON : *Law and Custom.*
JACKSON : *Finland.*
KEITH : *Dominion Home Rule in Practice.*
LASKI : *Parliamentary Government in England.*
LOWELL : *Essays on Government.*

Chapter XI.

BAGEHOT : *English Constitution*, Introduction to, by the Earl of Balfour.
BASSETT : *Essentials of Parliamentary Democracy*, pp. 240-252.
BRYCE : *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. v-ix, xx-xxxi, xxv. *Modern Democracies*, Vol. I, pp. 393-99, Vol. II pp. 71-82 and Ch. lxviii.
DICEY : *Law of the Constitution*, Appendix Note iii.
FINER : *Modern Government*, Vol. II, Chs. xxiii and xxvi. *The Future of Government*, Chs. ii, iii, vi.
GETTELL : *Readings in Political Science*, Chs. xvii, xix.
LOWELL : *Governments and Parties*, Vol. II, pp. 193-207.
REED : *Form and Functions of American Government*, Chs. xix-xx and xxiv, xxv.
WILSON : *State*, pp. 327-330, 373-382, 401-408, 459-461.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

BROGAN : *The American Political System.*
FINER : *Mussolini's Italy.*
SILONI : *The School for Dictators.*
LASKI : *The American Presidency.*
LICHTENBERGER : *The Third Reich.*

HILLER: *After Nazism—Democracy?*

Chapter XII.

BRYCE: *American Commonwealth*, Vol. I, Chs. xxii-xxiv. *History and Jurisprudence*, Vol. II, Essays, xi, xiv, xv. *Modern Democracies*, Vol. I, Ch. xxii, Vol. II, Chs. xliii, lxii.
DICEY: *Law and Opinion*, Lecture xi. *Law of constitution*, pp. 151-167, Ch xii, Appendix, Note xi.
GETTELL: *Readings in Political Science*, Ch. xx.
JENKS: *Government of British Empire*, Ch. xi.
JENNINGS: *Law and Constitution*, Chs. vi and vii.
KEITH: *Responsible Government in Dominions*, Vol. I, pp. 570, Vol. II, pp. 661-72, 727-31.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. II, Ch. x.
LOWELL: *Government of England*, Vol. I, Ch. xix. Vol. II, Chs. lix-lxii. *Governments and Parties*, Vol. I, pp. 44-65 170-77, 214-19.
MARRIOTT: *English Political Institutions*, Ch. xiv. *Mechanism of Modern State*, Vol. II, Chs. xxxi-xxxiv.
REED: *Form and Functions of American Government*, Ch. xxiii.
SAIT: *Government and Politics of France*, Chs. xi and xii.
SIDGWIC: *Elements of Politics*, Ch. xxiv.
WILSONK: *State*, pp. 164-5, 173-5, 216-222, 321-27, 366-73, 407-9, 413-18, 428, 486-89.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

ALLEN: *Law and Orders.*
BOUTMY: *Studies in Constitutional Law.*
GOODNOW: *Comparative Administrative Law.*
HEWART: *The New Despotism.*
RIDGES: *Constitutional Law of England.*

Chapter XIII.

BRYCE: *American Commonwealth*, Vol. I, Ch. xxxix. *Modern Democracies*, Vol. I, ch. xxix. Vol. II Ch. lxv.
DICEY: *Law of the Constitution*, pp. xci-c.
FINER: *Modern Government*, Vol. II, Ch. xxi.
GETTELL: *Readings in Political Science*, pp. 317-325.
KEITH: *Responsible Government in Dominions*, Vol. I, Pt. iii Ch. i.
MARRIOTT: *Mechanism of Modern State*, Vol. I, Chs. iii, iv, xvii.
LOWELL: *Government of England*, Vol. II, Ch. xii.
WILSON: *State*, pp. 303-5, 396-400.

Chapter XIV.

BOYD: *UNO Handbook*, pages 41-2, Ch. vii.
BRYCE: *Modern Democracies*, Vol. II, Ch. lxxi.
DICEY: *Law of Constitution*, pp. 95-98.
HAYES: *Political and Social History of Modern Europe*, Vol. II, pp. 592-6.
JENKS: *Government of British Empire*, Ch. iv.

KEITH: *Constitution, Administration and Laws of the Empire*, Pt. ii. Chs. v-vii.
LOWELL: *Government of England*, Vol. II, Chs. lvi-lvii. *Greater European Governments*, pp. 87-96.
NEWTON: *Federal and Unified Constitutions*, pp. 263-9.
REED: *Form and Functions of American Government*, Ch. xxvi.
WILLIAMSON: *Short History of British Expansion*, pp. 574-615.
WILSON: *State*, pp. 262-5.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

CARRINGTON: *British Overseas.*
KEITH: *Governments of the British Empire.*
MELLOR: *India Since Partition.*
Constitutions of All countries, I, *British Empire.* (*For Government of India Act 1935 and Constitutions of various Crown Colonies.*)

Chapter XV.

BRYCE: *Modern Democracies*, Vol. II, Chs. lxxviii-lxxix.
BURNS: *Political Ideals*, Chs. x and xi.
DICEY: *Law and Opinion*, Introduction and Lectures, iii-iv.
DUNNING: *Political Theories*, Vol. IV, Chs. ii, iii, vi.
FINER: *Modern Government*, Vol. I, ch. ii.
JENKS: *State and Nation*, Ch. xvi.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. I, Ch. vii, Pt. II, Ch. ix.
MACIVER: *Modern State*, Ch. ix.
SIDGWICK: *Elements of Politics*, Chs. ix, x, xxviii.
The Annual Register for 1927, pp. 87-91 (for the text of the Italian Labour Charter, 21st April, 1927), for 1932 and for 1945.
Whitaker's Almanack for 1947 (for details of Corporative State in Portugal).

BOOKS FOR FURTHER STUDY

COLE (1) *Guild Socialism Restated.* (2) *Social Theory.*
FINER: *Representative Government and a Parliament of Industry.*
HOLLIS: *Can Parliament Survive ?*
LASKI (1) *Foundations of Sovereignty.* (2) *Communism.*
LOWELL: *Essays on Government.*
RUSSELL: *Prospects of Industrial Civilisation.* (2) *Roads to Freedom.*
WEBB: (1) *Industrial Democracy.* (2) *Soviet Communism.*

Chapter XVI.

BOYD: *The United Nations Organization Handbook* (especially the Appendices for the text of the Covenant of the League of Nations, of the Atlantic Charter and of the Charter of the United Nations).
BURNS: *Political Ideals*, Ch. xiii.
BUTLER: *Handbook to the League of Nations*, pp. 28-80.

GETTELL: *Readings in Political Science*, Ch. xi.
JENKS: *State and Nation*, pp. 276-288.
LASKI: *Grammar of Politics*, Pt. II, Ch. xi.
SIDGWICK: *Elements of Politics*, Chs. xiv-xviii.
Encyclopaedia Britannica, Articles on 'League of Nations', Vol. 31 (11th Edition, Additional Volume) and New Vol. II.

BOOKS FOR FURTHER STUDY

COBBAN: *National Self-Determination.*
ELLIS: *Origin, Structure and Working of the League of Nations.*
FACHIRI: *Permanent Court of International Justice.*
HOLLS: *Peace Conference at the Hague.*
MUIR: *Nationalism and Internationalism.*
ZIMMERN: *Nationality and Government.*

Chapter XVII.

BRYCE: *Modern Democracies*, Vol. II, Chs. lxxvii-lxxx.
DICEY: *Law of Constitution*, pp. lxxv-xci.
FINER: *Modern Government*, Vol. II, Ch. xx. *Future of Government*, Ch. vii.
LASKI: *Grammar of Politics*, pp. 309-311.
LOWELL: *Government of England*, Vol. II, Pt. viii and Chs. lxiii-lxvii.
MACIVER: *Modern State*, Chs. xv-xvi.
MARRIOTT: *Mechanism of Modern State*, Vol. II, Ch. xxxviii.
SIDGWICK: *Elements of Politics*, Ch. xxxi.
Contemporary Review for February and March, 1928. Two Articles by H.A.L. Fisher on 'The Adequacy of Parliaments.'
CARR: *Nationalism and After.*
CURRY: *The case of Federal Union.*
CURTIS: *World War, its cause and cure.*
DICKINSON: *Modern Symposium.*
GREEN: *Principles of Political Obligation.*
LASKI: *Reflections on the Revolution of our Time.*
LIPPMANN: *The Good Society.*
MACIVER: *Web of Government.*
MONTAGUE: *Limits of Individual Liberty.*
RUSSELL: *Principles of Social Reconstruction.*
STREIT: *Union Now.*

SOURCE BOOKS

POLLARD, A.F.: *The Evolution of Parliament.* (Longmans, 1926.) *Factors in American History.* (Cambridge, 1925.) *Factors in Modern History.* (Constable, 1907, 1948.)
PORRITT, E.: *The Evolution of the Dominion of Canada.* (Government Handbooks. Harrap, 1920.)
RIDGES, E.W.: *Constitutional Law of England.* (Stevens, 1922, 1937.)

RITCHIE, A.G.: *Natural Rights.* (Allen and Unwin, 1895, 1916.)
ROSE, J. H.: *Nationality as a Factor in Modern History.* (Rivington, 1916.)
RUSSELL, B.: *Principles of Social Reconstruction.* (1816, 1920.) *Prospects of Industrial Civilisation.* (1922, 1926.) *Freedom and Organisation*: 1814-1914 (1934). *Roads to Freedom: Socialism, Anarchism and Syndicalism.* (1918-1920.) (All published by Allen and Unwin.) The student will find these four books of great help in appreciating the social, economic, and ideological factors of constitutional growth.
SABINE, G.H.: *A History of Political Theory.* (Harrap, 1937.) Specially valuable for the philosophical background of modern ideologies.
SALVEMINI, G.: *The Fascist Dictatorship.* (Cape, 1928.)
SEELEY, J.R.: *Introduction to Political Science.* (Macmillan, 1914, 1923.)
SILONE, I.: *The School for Dictators.* (Cape, 1939.) A penetrating study of dictatorship in the form of a Socratic dialogue, translated from the Italian.
SLOAN, P.A.: *How the Soviet State is Run.* (Marxist Text Book Series, 1944.) An excellent brief statement of the working of the Soviet political machine.
SMITH, A.L.: *Church and State in the Middle Ages.* (Oxford, 1913.)
STILLMAN, W.J.: *The Union of Italy.* (Cambridge, 1898.)
STREIT, C.K.: *Union Now.* (Cape, 1939.) A demand for a federal union, on the American model, among democratic states.
STRONG, C.F.: *Dynamic Europe.* (Hodder and Stoughton, and University of London Press, 1945.) For the general historical background of modern constitutional politics.
TAYLOR, O.R.: *The Fourth French Republic.* (Oxford, 1951.) The first complete analysis in English.
TEMPERLEY, H.W.V.: *Senates and Upper Chambers.* (Chapman and Hall, 1910.)
THOMSON, D.: *Democracy in France.* (Oxford, 1946.) A comprehensive and well-documented inquiry into the democratic ideals and institutions of the Third Republic.
VILLARI, L.: *Italy.* (Benn, 1929.)
WEBB, S. and B.: *Soviet Communism: A New Civilisation.* 2 Vols. (Longmans, 1935. Issued in one volume, 1945.) *Industrial Democracy.* (Longmans, 1898, 1920.)
WHEARE, K.C.: *Federal Government.* (Oxford, 1946.) A comparative study in the working of federal government, especially in the United States, the British Dominions and Switzerland. A valuable book for students. *Modern Constitutions.* (Home University Library, 1951.) A brief but scholarly essay.
WILLIAMS, J.F.: *The Reform of Political Representation.* (Murray, 1918.)
WOODWARD, E.L.: *French Revolutions.* (Oxford, 1934.) A brilliant study of the various revolutions in France from 1789 to 1871.

ZIMMERN, A.E.: *The Greek Commonwealth.* (Oxford, 1924, 1932.) *Nationality and Government.* (Chatto and Windus, 1918.)

ZINK, H.: *Government and Politics in the United States.* (Macmillan Company. New York, 1951.) A valuable guide.

"REPRESENTATION." The Journal of the Proportional Representation Society. (Published monthly by the Society, 82, Victoria Street, S.W.I.)

DODD, W.F.: *Modern Constitutions.* 2 Vols. (Fisher Unwin, 1909.) (Complete texts of all important Constitutions before the First World War.)

MACBAIN, H.L. and ROGERS, L.: *The New Constitutions.* (Doubleday Page, 1922.) Gives the complete text of the Constitution of every European state created or re-organised after the First World War.

NEWTON, A.P.: *Federal and Unified Constitutions.* (Longmans, 1923.) (Already referred to in List I above.) Contains texts of several important Constitutions.

PEASLEE, A.J.: *Constitutions of the Nations.* 3 Vols. (Rumford Press, Concord, New Hampshire, U.S.A., 1950.) Contains the text of the constitutions of existing sovereign states and some useful comparative tables.

WRIGHT, M.: *British Colonial Constitutions.* (Oxford, 1951.) Contains several texts and a valuable Introduction.

SELECT CONSTITUTIONS OF THE WORLD. (Prepared for Dail Eireann by order of the Irish Provisional Government, 1922, and published by H.M. Stationery Office, 1924.) Contains complete texts of several important Constitutions then existing.

CONSTITUTIONS OF ALL COUNTRIES. Compiled by the Foreign Office and published by H.M. Stationery Office. Vol. I. *The British Empire* (1938). Contains the text—in the more important cases *in extenso*, in others abridged—of the Constitution of every part of the British Commonwealth and Empire beyond the United Kingdom. Vol. II. *Continental European Countries and their Dependencies*, long projected, has not yet appeared.

EUROPA YEAR BOOK FOR 1928. In this issue there is a summary of the Constitution of every important state then existing, prepared by H. Finer.

THE ANNUAL REGISTER for various years, especially since 1919. (Published by Longmans.) Each number contains, besides an outline of events of the year, the full text of many important and valuable documents of constitutional interest.

WHITAKER'S ALMANACK for recent years. Contains helpful facts and figures about government under heading of each state.